प्रज्ञा

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय पत्रिका

अंक १९ भाग १-२ एवं अंक २० भाग १ वर्ष—१९७३-७४

'मानस' चतुश्शती विशेषांक

मूल्य दर (प्रति अंक)

संयुक्त राज्य अमेरिका	$ २
ब्रिटेन	£. १
भारत	रुपये १०.००

नियम

(१) 'प्रज्ञा', जहाँ तक संभव होगा, वर्ष में दो बार प्रकाशित होगी : प्रथम अंक दीपावली के तुरन्त बाद और दूसरा अंक होली के पूर्व।

(२) सभी प्रकार का शुल्क सह-संपादक, 'प्रज्ञा' काशी हिन्दू विश्वविद्यालय पत्रिका, वाराणसी–२२१००५ के नाम भेजें।

(३) पत्रिका में प्रकाशनार्थ काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के छात्रों एवं अध्यापकों के लेख प्रमथ अंक के लिए २० जुलाई तक और द्वितीय अंक के लिए २० नवम्बर तक संकाय सम्पादकों के पास तथा सम्पादक-मंडल के पास क्रम से ३० जुलाई और ३० नवम्बर तक पहुँच जाना चाहिए।

(४) लेख फुलस्केप कागज पर एक तरफ टंकित होना चाहिए और सामान्यत: १० पृष्ठों से अधिक नहीं होना चाहिए। लेखकों को उनके लेख की रिप्रिन्ट्स की ५० प्रतियाँ दी जायेंगी।

Snbscription Rates (per issue)

U.S.A.	$ 2
U.K.	£. 1
India	Rs. 10.00

(1) The 'Prajñā', shall, so far as possible, be published twice a year : one issue immediately after the Dipawali, the other immediately before the Holi.

(2) All subscriptions should be sent to the Assistant Editor. 'Prajñā', B.H.U. Journal, Varanasi-221005.

(3) Articles intended for publication in this Journal by B.H.U. scholars should be submitted to the Faculty Editor before July 20 for the first issue and November 20 for the next issue and should reach the Editorial Board on July 30 and Nov. 30 respectively.

(4) Articles should ordinarily be type-written on foolscape paper on one side only and should not ordinarily cover more than 10 pages. Authors contributing original articles to the Journal are entitled to receive 50 off-prints gratis.

प्रज्ञा
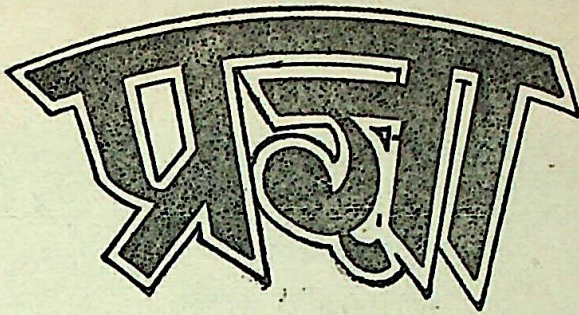
'मानस' चतुश्शती विशेषांक

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय पत्रिका

अंक १९ भाग १-२ एवं अंक २० भाग १ वर्ष—१९७३-७४

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के संस्थापक
पूज्य महामना

हिताय सर्वलोकानां निग्रहाय च दुष्कृतां
धर्मसंस्थापनार्थाय प्रणम्य परमेश्वरम् ।
प्रसादाद्विश्वनाथस्य काश्यां भागीरथीतटे
विश्वविद्यालयः श्रेष्ठः हिन्दूनां मानवर्धनः ॥
हिन्दूराज्याधिपतिभिर्धनिकैर्धार्मिकैस्तथा
मिलित्वा स्थापितः सद्भिर्विद्याधर्मविवृद्धये ॥

जन्म :—वि० सं० १९१८ पौषकृष्ण ८ (२५-१२-१८६१)
मोक्ष :—वि० सं० २००३ मार्गशीर्षकृष्ण ४ (१२-११-१९४६)

विषय-सूची

हमारे कुलपति

पद्मविभूषण डॉक्टर कालूलाल श्रीमाली

कुलपति का संदेश

अपने युग का महान् कवि वह होता है जिसकी कविता में चेतना की आवाज सुनाई पड़ती है, लेकिन युगातीत महान् कवि वह होता है जिसकी कविता में मानवता की आत्मा की आवाज सुनाई पड़ती है। ऐसे महान कवियों के आत्मबोध में उनके जगतबोध का समावेश होता है। महाकवि तुलसीदास ऐसे ही कवि थे जिनकी कविता देश-काल की सीमा के बंधनों से मुक्त होकर सम्पूर्ण मानवता की चेतना से आत्मीयता स्थापित करने में समर्थ होने के कारण सार्वभौम सिद्ध होती है। महाकवि तुलसीदास रससिद्ध और वाक्सिद्ध कवि हैं, उनकी कविता में मानव-जीवन के यथार्थ और आदर्श का समन्वय है, भाव, कर्म और ज्ञान पक्ष की साधना की व्यंजना है और मानव के ईश्वरत्व तथा ईश्वर के मनुष्यत्व का संयोग है। तुलसीदास की कविता मानव जीवन की काम्यता और कमनीयता में आस्था उत्पन्न करने वाली कविता है। आज का युग अनास्था का युग माना जाता है लेकिन साहित्य का काम जीवन की सार्थकता में आस्था पैदा करना है।

तुलसीदास केवल कवि न थे। उनकी कविता में एक भक्त की भावुकता, एक समाज सुधारक की सामाजिक चेतना और एक लोक नायक की जनवादिता है। तुलसी के राम के स्वरूप में सम्पूर्ण जगत् का रूप दिखाई देता है और इस जगत् के नाना रूपों में राम की सत्ता व्यक्त होती है। तुलसी ने व्यक्ति और समाज के आन्तरिक संबंधों के विविध रूपों का चित्रण किया है। सगुण और साकार के उपासक तुलसीदास मानव जीवन को ही मूर्तित नहीं करते अपितु वे मनुष्य के वैयक्तिक और सामाजिक संबंधों के क्रियाशील रूप का भी निरूपण करते हैं। तुलसीदास के अनुसार कविता का प्रयोजन है लोकमंगल की साधना और इस लोक मंगल की साधना की सिद्धि के लिए आवश्यक है सामाजिक चेतना की संवेदनशीलता। तुलसी की कविता में अपने युग के जीवन का यथार्थ है, सामाजिक संबंधों के विविध रूप हैं, मानव के पीड़ित विवेक की चेतना है और मनुष्य की अपार आध्यात्मिक शक्ति का बोध भी है।

भारतीय समाज के पुनर्निर्माण के वर्तमान दौर में तुलसीदास की कविता की प्रासंगिकता उसमें व्यक्त सामाजिक चेतना और मानवतावादी दृष्टि के कारण सिद्ध होती है। आज हम इस देश से गरीबी और भुखमरी मिटाकर ऐसे नए कल्याणकारी राज्य और समाज के निर्माण की कोशिश कर रहे हैं जिसका उद्देश्य है 'बहुजन हिताय बहुजन सुखाय'। तुलसीदास ने 'नहि दरिद्र सम दुख जगमाहीं' कहकर गरीबी को सबसे बड़ा दुख बतलाया है। गरीबी को मिटाकर एक सुखी और सम्पन्न समाज के निर्माण के काल में तुलसीदास की मानवतावादी जीवन दृष्टि का स्मारक आवश्यक है। कोई भी समाज अपने अतीत को भुलाकर न तो अपने वर्तमान का निर्माण कर सकता है और न भविष्य की दिशा निश्चित कर सकता है। भारतीय समाज के वर्तमान और भविष्य के निर्माण के लिए अतीत के

मूल्यवान सांस्कृतिक विरासत का समुचित ज्ञान आवश्यक है। तुलसीदास का काव्य अतीत के दस्तावेज के कीर्तिस्तम्भ के रूप में ही मूल्यवान नहीं है बल्कि उसमें व्यक्त लोकवादी चेतना और जनवादी सांस्कृतिक निधि वर्तमान के लिए भी प्रासंगिक है। तुलसीदास का काव्य 'भाषा' में व्यक्त लोक जीवन का काव्य है जो लोक-मानस को शक्ति, गति और दिशा प्रदान करने में सहज समर्थ है।

गोस्वामी तुलसीदास के बहुआयामी व्यक्तित्व और उनकी लोकचेतना के प्रतिस्फलन को 'प्रज्ञा' के मानसचतुश्शती अंक में रुपायित करने का प्रयास सर्वथा स्तुत्य है। काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के शिक्षकों, और छात्र-छात्राओं का यह कर्तव्य और दायित्व है कि वे सन्त कवि तुलसी के शुद्ध चित्त में उभरे समाज की सामाजिक नैतिकता के विविध रूपों का चिन्तन मनन करें। आशा है, 'प्रज्ञा' अपने इस प्रयास में पूर्णतः सफल होगी।
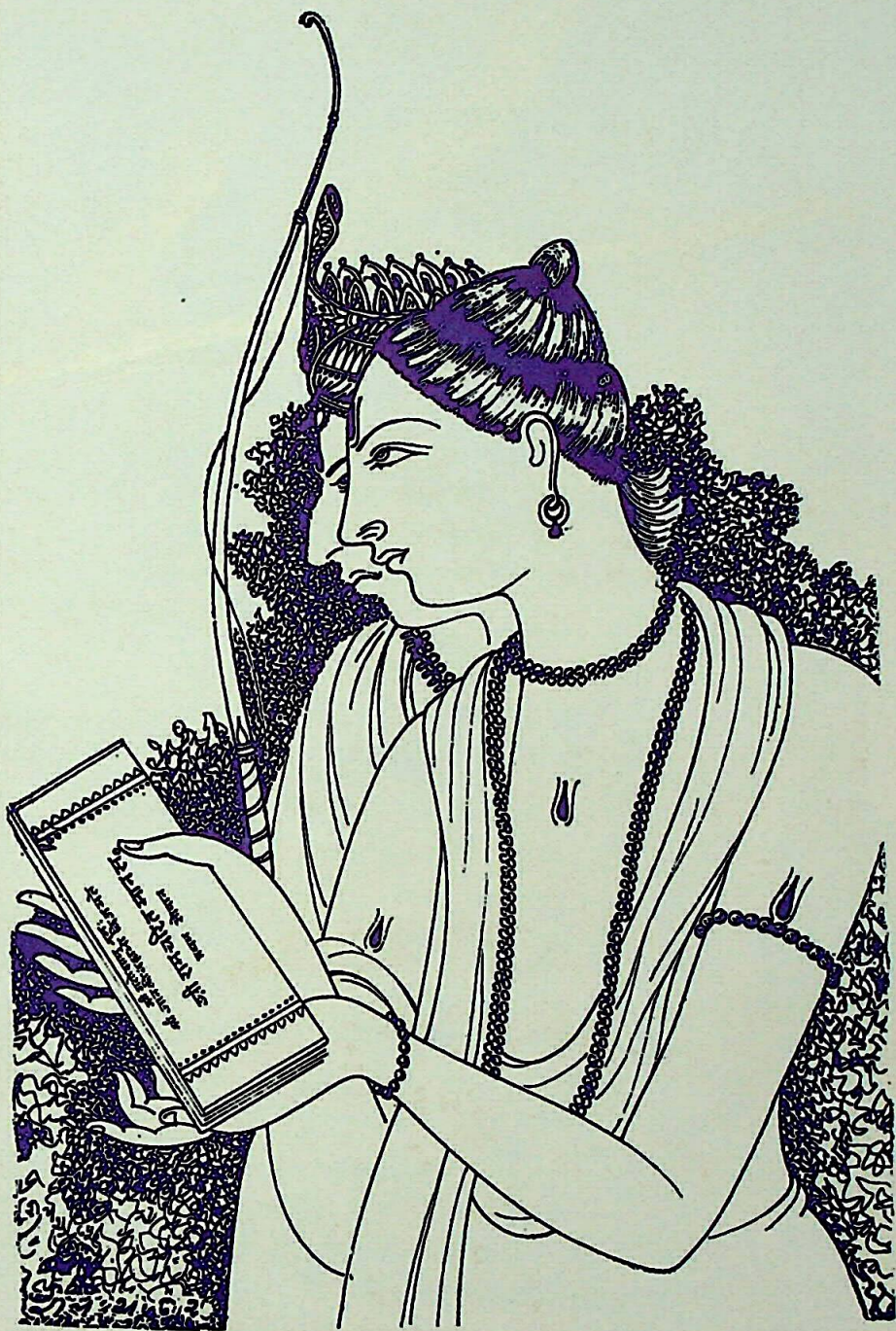
आनन्दकानने ह्यस्मिञ्जङ्गमस्तुलसीतरुः ।
कवितामञ्जरी भाति रामभ्रमरभूषिता ॥

॥ जयति तुलसीदाससुकविः ॥

रतिनाथ-झा :

प्राच्य-विद्या-धर्म-विज्ञान-संकाय :

सुखस्यन्दी मन्दीकृतकलिपरीतापतपनः
सपर्यापर्यायः प्रकृतजनवाचोऽतिरुचिरः ।
परिस्पन्दो रामेत्यमलकमलासुप्तनियतेः
कवित्वश्रीकोषो जयति तुलसीदाससुकविः ॥१॥

स्फुरद्रामप्रेमामृतसरसि संस्नप्य कवितां
गुणैः श्लाघ्यां शाटीमपि सुपरिधाप्य प्रमुदिताम् ।
सुवर्णालङ्कारैर्-ग्रंथितनवरत्नार्थललितै-
रलङ्कृत्य प्रीतामुपहरति लक्ष्मीमिव कविः ॥२॥

निधानं सिद्धीनां परममवधानं सुकृतिनां
समाधानं शश्वज्जगति विविधोद्भ्रान्तसुधियाम् ।
प्रधानं व्यासानां हरिचरितचर्चाव्यसनिनां
कवीनां सर्वस्वं तव सकलकाव्यं विजयते ॥३॥

समुद्भूते तीव्रे तमसि, लयमाप्ते ग्रहगणे,
हते नेत्रालोके, शिथिल-शिथिले पादयुगले ।
त्वमेवैकं ज्योतिर्विततमवसादं शमयितुं
महत्यार्यावर्ते समुदयमगा दातुममृतम् ॥४॥

पवित्रं चारित्र्यं मनुजजनुषस्तत्त्वमतुलं
मिथः-क्लेशावेशप्रशमनपटुः सद्व्यवहृतिः ।
सुबुद्धिः सम्पत्तेः कुमतिरथ मूलं च विपद्रः
प्रभोर्भक्तिः शूलं हरति चिरमेतत् तव मतम् ॥५॥

सुरम्यैः श्रीरामेत्यमृतमधुसौरम्यनिवहैर्
मिलद्विद्वद्भृङ्गैः सरसिजकुलैः संश्रितचरम् ।
मरालत्वं प्राप्तै रघुपतियशोभिर्धवलितं
रसानामागारं जयति भवतो मानसमिदम् ॥६॥

विपाकं पापानां सपदि शमयन्ती सुकृतिनां
सृजन्ती सौभाग्यं हरिचरणसेवारसजुषाम् ।
दिशन्ती सन्देशं प्रतिदिशमशेषं श्रुतिगिरां
प्रकृत्या कल्याणी जयति तव वाणी कविपते ॥७॥

चतुष्पादीमादीनवकणविमुक्तामनुपमां
गुणालङ्काराढ्यामुचितरसभावाक्षरयुताम् ।
पठन्तो गायन्तो वचनपटवो यस्य सुकवेर्
घनानन्दं नित्यं दिशि दिशि दिशन्तीह सुधियः ॥८॥

समुद्भूतिं भूतेरुदयकमलाया विलसितं
सुशीलेन्दोर्लक्ष्म्या निरतिशयसम्भूतिमनघाम् ।
विपत्तीनां सद्यः परमपरिभूतिं कृतधियां
प्रसूते श्रेयांसि प्रसभमिह ते काव्यकलना ॥९॥

महापङ्कातङ्के प्रसरति, खले हन्त! मशके
कृते दंशे शीतज्वरजनितसन्तापविवृते ।
अतिक्षीणान् क्लेशाधिकविकलितप्राणिनिकरा-
नरुग्णानाधातुं जगति जयमाप्नोति तुलसी ॥१०॥

पुराणानां सारैः प्रथमकविकाव्यामृतझरैः
परीवाहैर्दिव्यागमनिगमशैलाञ्चलरसैः ।
मरन्दैर्मञ्जर्या मधुमुदितमाकन्दसुतरोः
सुपूरैरापूर्णं जयति तुलसीमानसमिदम् ॥११॥

प्रवृद्धे दुर्वैरे हरिहरसपर्यारतहृदां
दुरुक्तैरश्रव्यैः परपरिभवापादनविषैः ।
मिथः सख्यं देवद्वितयमवलम्ब्य प्रबलयँ-
श्चिरायातं द्वेषं शमयसि शिवाय त्रिजगताम् ॥१२॥

स्वधर्मे संप्रीतिं, हरिभजनरीतिं, सुचरिते
रतिं, ज्ञानालोके मतिमनुपमां, कर्मणि गतिम् ।
प्रतीतिं सच्छास्त्रे, विरतिमपकर्मव्यतिकराद्,
गुरौ भक्तिं, शक्तिं त्वमिव हृदये त्वं प्रकुरुषे ॥१३॥

रतो रत्नावल्यां निशि नभसि सन्तीर्य सरितं
समालम्ब्य व्यालं श्वशुरभवनस्याप्य शिखरम् ।
प्रियां प्राप्तः प्रीतो रहसि परिभूतो दयितया
चिरं रेमे रामे परिणतविरामेऽथ विपदाम् ॥१४॥

वशे कर्तुं रामं स्मरहरपदाम्भोजमधुपो
हनूमद्देवाङ्घ्रेः शरणमवलम्ब्य प्रणयवान् ।
कृपापात्रं भूत्वा पवनतनयस्य प्रभवतः
स्ववाञ्छावल्लीनां सुरतरुमिव प्राप सुतपाः ॥१५॥

श्रुतीनां निर्यासो विशदरसकोषः कविगिरा-
मलङ्कारो वाचामवधजनताया निरुपमः ।

प्रभोर्भक्तेर्निर्यन्मधुरमकरन्दो मधुलिहां
रुचामादर्शस्ते जयति भुवने रामचरितम् ॥१६॥

विपत्सिन्धौ मज्जज्जनमचिरमुद्धर्तु-मनसा
त्वया रामानन्दप्रवरतमशिष्येण सुधिया ।
श्रुतिस्मृत्योः सारो, दुरितगिरिनाशार्थमशनिर्
विदां वन्द्यो रामेत्यशुभहरमन्त्रो निगदितः ॥१७॥

सदोपास्यं हंसैर्मुखरितमुदारैर्मधुकरैः
सुवर्णाब्जैः पूर्णं प्रियतमसुगन्धैः सुरभितम् ।
मरन्दैः सम्मिश्रं मधुमधुरतोयैर्विलसितं
सतां पूजास्थानं जयति सुकवेर्मानसमिदम् ॥१८॥

रसैः स्निग्धं मुग्धं विविधपरिसंवादवचनै-
र्द्विजैर्वन्द्यं वृन्दारकमहिमगीतैरुपचितम् ।
क्रियाभिः, सद्बोधैर्हरिभजनभावैश्च ललितं
प्रसन्नं निष्पङ्कं लसति भुवने मानसमिदम् ॥१९॥

प्रसक्ते सौभाग्ये सुकृतधनसिक्तेऽमृतझरै-
र्मनःक्षेत्रे कृष्टे हरिचरणभक्तेः सुलतिकाम् ।
समारोप्य प्रीत्या मधुररसधाराभिरभितः
प्रसूनैः सामोदैर्मदयति विदो मसनसहली ॥२०॥

पराभूतानार्यान् विपथमनुसर्तुं परवशान्
अशान्तान् संत्रस्तानपहृतधनागारदयितान् ।
तमःस्तोमच्छन्नान् विनतवदनान् ह्रीपरिगतान्
समुद्धर्तुं सद्यस्त्वमुदयमवाप्तो दिनमणिः ॥२१॥

वचोदेव्या भव्योपवनगतपुष्पाण्यनुपमा-
न्युपादाय प्रेम्णा स्रजमसदृशीमेष विदधे ।
स्वकण्ठे यां कृत्वा जगति सकलां सिद्धिमुदितां
लभन्ते विद्वांसोऽसुलभमहिमानं सुकृतिनः ॥२२॥

पुराणानां तत्त्वं, प्रथितकविवाचां परिणतिं
विचारं शास्त्राणां, सम-रसमुदारं श्रुतिगिराम् ।
स्वबुद्धौ सन्धाय प्रकृतजनवाण्या विशदयं-
स्त्वमेवैकोऽद्यत्वे भरतभुवि जागर्षि सुकविः ॥२३॥

कुतश्चित् सूत्राणि स्फुरदमलसूचीमितरतः
परोद्यानात्पुष्पाण्यपि समवचित्यातिकुशलः ।
कृती मालाकारो रुचिररचनाकल्पमसृणै-
रनल्पैः शिल्पैः किं घटयति न मालामनुपमाम् ? ॥२४॥

तपस्यायाः सारैरपगतविकारैरसुमतां
कृपायाः पीयूषैः सरसि परिपूर्णे भगवतः ।
सरोजं सौरम्यप्रभवमतिभव्यामृतभरं
प्रियायाः सुक्रोडे विकसितमभूत् कोसलपतेः ॥२५॥

तपोवल्लयाः पुष्पं सुरभितदिगन्तं, वसुमती-
सुपूरं सिन्दूरं, जननयनदिव्याञ्जनकलाम् ।
अहल्यायाः शल्योद्धरणमवलम्बं सुमनसां
शबर्याः सौभाग्यं नमत विपुलं धीवरधनम् ॥२६॥

अपूर्वं भ्रातृत्वं, जगति जनकत्वं निरुपमं
जनन्या धन्यं हृन्मधुमधुरवात्सल्यललितम् ।
गुरोः शान्तं स्वान्तं परमकरुणागारममलं
प्रियायाः सत्प्रेमोच्छ्वसिति भवतः काव्यनिलये ॥२७॥

प्रजानामायुष्यं त्रिविधपरितापैर्विरहितं
स्थितिर्धर्मे वर्णाश्रमविहितकर्मण्यनुरतिः ।
न दैन्यं न द्वेषो न च दुरितलेशोऽपि हृदये
न मात्स्यन्यायोऽभूद् रघुपतिपदे शासति भुवम् ॥२८॥

पराभूते पूते यवननृपदूतैः प्रतिभटै-
र्जनस्वान्ते दान्ते बलमतुलमाधातुमचिरात् ।
गृहीत्वा कोदण्डं शरनिकरसन्धानसहितं
जितारिं श्रीरामं गृहगृहमनैषीः शुभधिया ॥२९॥

गोस्वामी तुलसीदास : एक नये कवि की दृष्टि में

रामजी राय, (बी० ए०, अंतिम वर्ष)

जहाँ तक मेरी दृष्टि का प्रश्न है, मैं तुलसीदास को विद्रोही कवि मानता हूँ। 'विद्रोही' शब्द से हमें कुछ न कुछ असहनशील एवं विस्फोटक चेतना वाले क्रुद्ध व्यक्तित्व का बोध होता है। वैसे कुछ हल्ला मचाने वाले झण्डावरदार नेता और नई शब्दावली में पुरानी वातें प्रस्तुत करने वाले कवि, लेखक, समीक्षक भी अपने को विद्रोही कहने का दम्भ करते हैं। वैसे विद्रोही होना और विद्रोही दीखना दो वाते हैं। कुछ चिन्तक वस्तुतः विद्रोही न होते हुए भी 'विद्रोही' होने का भ्रम उत्पन्न करते हैं। तुलसीदास को मैं प्रच्छन्न विद्रोही मानता हूँ। इस ढंग के विद्रोही के लिए अपनी अनुभूतियों के प्रति ईमानदार होने के साथ-साथ अभिव्यक्ति में संयत-शालीन होना आवश्यक होता है और परम्परा को काटते समय परम्परा का पुष्कल ज्ञान रखना भी अपेक्षित होता है। 'संस्कृति' का निर्माण ऐसे ही विद्रोही लोग करते हैं। इस दृष्टि से तुलसीदास का स्थान वहुत ऊँचा है।

तुलसीदास को मूल्यांकित करना कठिन नहीं ह। हाँ कठिन अवश्य वनाया गया है। असल में वह 'विन्दु' खो गया है, जो समय के अन्तराल को काटकर शब्द के जाल को चीरकर अनुभूति की आग से हमारी चेतना को प्रदीप्त करता है। तुलसीदास का थोड़ा-बहुत अध्ययन तो आज सभी लोग करते हैं, और मैं भी नई कविता और नई समीक्षा पढ़ने के बाद भी तुलसीदास को पढ़कर एक सुखद तृप्ति और सार्थक मनःस्थिति का बोध करता हूँ। लगता है—तुलसी के आगे नये कवि बौने हैं और नये आलोचक अपनी घिसी-पिटी शब्दावली में झोला टाँगे हुए नये स्कूलों में प्रवेश पाने की भागदौड़ में व्यस्त हैं।

तुलसी का मूल्यांकन करते समय हमें देखना होगा कि तुलसीदास के अनुभव-समुद्र का कुशल तैराक 'राम' है। यह राम तुलसीदास की सर्जक चेतना का मूल विम्ब है। इस 'राम' को कुछ लोग 'यूटोपिया' भी कह सकते हैं, कुछ लोग 'मिथक' भी और कुछ 'ऐतिहासिक' पुरुष भी। मुझे तो 'तुलसीदास' के 'राम' में आज की सारी संभावना और आज का सारा संत्रास निहित लगता है। तुलसी के राम भले ही 'ब्रह्म' हों, वे इस धूलिधूसरित धरती की समस्याओं से जूझते हैं, वे उस मानवीय दृष्टि को लेकर चलते हैं, जो उदार होने के साथ-माथ प्रगतिशील भी है, और जो अपना मूल्यांकन करते समय परम्परा पर प्रश्नचिह्न लगा सकती है। देखिए तुलसी के 'राम' अपनी प्रज्ञा में, अपनी तटस्थता में कितने अनूठे हैं वे 'राजगद्दी' मिलने के अवसर पर कहते हैं :

> "विमल बंस यह अनुचित एकू।
> बंधु बिहाइ बड़ेहि अभिषेकू॥"

अपने स्वार्थ की शिलाओं से दूसरों के मस्तक को चूर करने की चेष्टा करते हुए रावण, आज भी जनता को रुला रहे हैं। उनकी स्वर्णपुरी आज भी सोने की ईंटों से पटी है। वे 'दशानन' हैं। उनकी प्रचारशक्ति उनकी क्षमता आज भी न्याय को, ईमानदारी

को, विवेक को, स्वतन्त्रता को तथा सामान्य जन की जिजीविषा को चुनौती देती है। आज का रचनाकार 'सामान्यजन' की बात करता है। वह मुक्ति की तलाश करता है। मेरी समझ में तो 'राम' भी इसी मुक्ति की तलाश करते हैं। वे 'सहोदर भ्राता' यानी 'सामूहिक शक्तिवाली जनता' के प्रतीक (विनोबा जी के शब्दों में) 'शेषनाग' (यानी 'लक्ष्मण' के साथ,अपनी माँ के पास लौट आना चाहते हैं। 'सीता' को रावण की 'कैद' से छुड़ाना ही उनका उद्देश्य है। आज कौन बुद्धिजीवी और आधुनिक चिन्तक कह सकता है कि 'उसकी' सीता कैद नहीं है। सारी 'सीताएँ' आज रो रही हैं। और रावण कई रूपों में उन्हें कैद किये हुए हैं। हमारे स्व का 'राम' आज भी लहूलुहान है। वह आज भी 'बिनुपग पनही' सन्त्रास के दण्डकारण्य में भूखे-प्यासे-कन्दमूल की रुखी-सूखी रोटी खाते, 'गर्दभमुखी' बुद्धिहीन लोगों 'यानी' खर-दूषण से जूझते हुए, दशानन के प्रशासन को चुनौती दे रहा है। 'राम' हमसे दूर नहीं हैं। वे मुक्ति की तलाश में निरन्तर जूझ रहे हैं। उनके हाथों में विवेक की अग्नि है; और उनकी आँखों में 'सीता' का 'धरती की बेटी' का अश्रुमुख प्रतिबिम्बित हो रहा है। तुलसीदास जब 'राम' की बात करते हैं तो हमें वे सजग और सचेत करते हैं, हमें वर्तमान जीवी होने का संकेत करते हैं। परन्तु आज वह विन्दु खो गया है, वच गई हैं ढेर-सारी-आयातित दृष्टियाँ और शास्त्रीय चश्में। ऐसी स्थिति में हमें तुलसीदास पुराने दिखाई पड़ें तो कोई आश्चर्य नहीं।

तुलसीदास को पढ़ते समय मैंने बार-बार सोचा है कि क्या कारण है कि यह कवि हमें इतना छूता है। मुझे जाने-अनजाने लगता है कि हम चाहे कितने भी आधुनिक क्यों न हों, बड़े अभागे हैं। कारण कई हैं। पहले तो हम लड़ते-लड़ते थक गये हैं, दूसरी हमारी दिशा 'आधुनिकता की दिशा' आत्मघात की दिशा बनती जा रही है। हमें इन दोनों स्तरों पर तुलसीदास सहारा देते हैं। लड़ते-लड़ते समस्याओं से जूझते-जूझते हम थक गये हैं—क्योंकि हमारे आपसी सम्बन्ध टूट गये हैं, हम परिवार में ही अजनबी हो गये हैं। इस अजनबीपन को 'प्रेम' से तुलसीदास दूर करने का संकेत या (संदेश) देते हैं। इन अर्थों में वे किसी 'अलौकिक' सत्ता का संकेत नहीं करते हैं। वे 'हम लखि, हमहि हमार लखि' को ध्यान में रखते हुए ही कहते हैं :—

"हरि व्यापक सर्वत्र समाना।
प्रेम ते प्रकट होहिं मैं जाना॥"

'प्रेम' वस्तुतः सारी मानवता की सम्पत्ति है। आज की नई कविता 'जो रुज, लिपिस्टिक' लगाकर आधुनिका बनने का दावा करती है, अपने शिशु का मुख देखकर दुग्धधारा बहाने लगती है। आधुनिक चित्त भी प्रेम से पराजित होकर आज सोच रहा है कि प्रेम! आधुनिकता का सर्जक है। तुलसीदास जी वस्तुतः प्रेम के महान् कवि हैं। उनकी 'भक्ति' मुझे 'मानव प्रेम' का रूपान्तरण प्रतीत होती है। तुलसीदासजी मनुष्यता के कवि हैं और मनुष्यता को वे निवृत्ति और शोक का अखाड़ा नहीं बनाना चाहते हैं। अस्तु: वे संघर्षी मानव को उसकी संत्रस्त जिजीविषा को, 'प्रेम सौन्दर्य और हास-रास का अमर सन्देश देते हैं। यह ध्यान रखने की बात है कि तुलसीदासजी ने अपने पूरे साहित्य में 'राम रावण संघर्ष' से कहीं बहुत अधिक 'राम विवाह' और सौन्दर्य-सौजन्य का वर्णन

किया है। यही वह दृष्टि है जो तुलसीदास को संस्कृति से जोड़ती है। 'संस्कृति' परिमार्जित होती हुई प्रसन्न जलवाली सदानीरा का ही पर्याय है। तुलसीदास जी इसी कविता-सरिता के तट पर बैठकर अपनी कविता करते हैं। 'राम' का सुन्दर व्यक्तित्व उनकी कविता में प्रतिबिम्बत होता है। राम का यश ही उनकी कविता का स्वाद है। वस्तुतः तुलसीदास संघर्ष के कवि हैं, किन्तु सत्य उनका लक्ष्य है। तुलसीदास प्रेम के कवि हैं— किन्तु प्रेम 'ईश्वर' का ही दूसरा रूप है। 'सौन्दर्य चित्रण' ही निराकार 'प्रेम' का 'सगुण' स्वरूप है। इसी अगाध 'सिय राम सरूप' में तुलसीदास के 'विलोचन मीन' सुखी हैं, तुलसीदास जी वस्तुतः यह कहते हुए कभी नहीं थकते हैं :—

"अस प्रभु हृदय अछत अविकारी।
सकल जीव जग दीन दुखारी॥
नाम निरूपन नाम जतन ते।
सोउ प्रगटत जिमि मोल रतन तें॥"

मुझे विश्वास है कि हम तुलसीदास जी की सांस्कृतिक-मानवीय गरिमा को आधुनिकता से अलग नहीं समझेंगे।

———

'मानस' में जनरंजन का ध्यान

आचार्य विश्वनाथप्रसाद मिश्र
(भूतपूर्व उपाचार्य, हिन्दी विभाग)

तुलसीदास ने रामचरितमानस की फलश्रुति इस प्रकार बतलाई है—

यह सुभ संभु उमा संबादा। सुख संपादन समन बिषादा ॥
भवभंजन गंजन संदेहा। जनरंजन सज्जन प्रिय येहा ॥[१]

मानस सुख देता है, विषाद हटाता है, सांसारिकता नष्ट करता है, संदेह भगाता है, साधारण-जन का रंजन करता है और सज्जनों को प्यारा है। इनमें से केवल जनरंजन पर विचार करना यहाँ अभिप्रेत है। मानस में जनसमाज या लोक का बराबर ध्यान रखा गया है। जिस प्रकार वेद या शास्त्र का विचार रखा गया है, उसी प्रकार लोक का भी। बालकांड में ही वे कहते हैं कि नाम दीनों पर कृपा करनेवाला है, उसका शास्त्र में भी स्तवन है और लोक में भी—

नाम गरीब अनेक नेवाजे। लोक बेद बर बिरिद बिराजे ॥[२]

तुलसीदास के राम-लोकाराधन करनेवाले हैं, इसलिए वे भी वैसे ही हैं। मानस के आरंभ में सबकी वंदना करते हुए कवि अवधपुरी की वंदना और वहाँ के नरनारियों की वंदना भी यह कहते हुए करता है कि राम की उन पर अनल्प ममता है, इसीलिए सीता के निंदकों के पापों को नष्ट करके उन्हें लोक में विशोक बनाकर बसाया है—

सियनिंदक अघ ओघ नसाए। लोक बिसोक बनाइ बसाए ॥[३]

राम का नाम भी लोक-परलोक दोनो का ध्यान रखनेवाला है, उससे लोक में नाम होता है और परलोक का निर्वाह होता है—

सुमिरत सुलभ सुखद सब काहू। लोक लाहु परलोक निबाहू ॥[४]

कलियुग में तो राम का नाम मनोवांछित फल देनेवाला ही है—

रामनाम कलि अभिमतदाता। हित परलोक लोक पितु माता ॥[५]

राम के चरित या उनके गुण भी लोक और परलोक दोनो का ध्यान रखनेवाले हैं—

समन पाप संताप सोक के। प्रिय पालक परलोक लोक के ॥[६]

---

[१] रा० मा०, सप्तम सोपान (उत्तर काण्ड) १३०।१-२।
[२] वही, प्रथम सोपान (बालकाण्ड) २५।१।
[३] वही, प्रथम सोपान १६।३।
[४] वही, प्रथम सोपान २०।२।
[५] वही, प्रथम सोपान २७।६।
[६] वही, प्रथम सोपान (बालकाण्ड) ३२।५।

उनकी पुरी अयोध्या सर्वत्र प्रसिद्ध तो है ही सबको पवित्र करनेवाली भी है—

रामधामदा पुरी सुहावनि। लोक समस्त बिदित अति पावनि ॥[१]

राम के यश की सरयू नदी के दोनो तट लोक और वेद या शास्त्र हैं—

सरजू नाम सुमंगल मूला। लोक वेद मत मंजुल कूला ॥[२]

राम की कथा सकल लोक हितकारी है इसमें जन और सज्जन दोनो आ जाते हैं—

कथा जो सकल लोक हितकारी। सोइ पूछन चह सैलकुमारी ॥[३]

यह कथा सबको पवित्र करनेवाली है—

पूँछेहु रघुपति कथा प्रसंगा। सकल लोक जगपावनि गंगा ॥[४]

राम का जब अवतार होनेवाला है तब उसका प्रभाव सब पर पड़ता है—

जा दिन तें हरि गर्भहि आए। सकल लोक सुख संपति छाए ॥[५]

राम सारे संसार को विश्राम देनेवाले, आश्रय देनेवाले हैं, इसलिए जब उनका आविर्भाव हुआ तब भी कवि कहता है कि उनका जन्मकाल भी लोकविश्राम वाला है—

मध्यदिवस अति सीत न घामा। पावन काल लोक बिश्रामा ॥[६]
जगनिवास प्रभु प्रगटे अखिल लोक बिश्राम ॥[७]
सो सुखधाम राम अस नामा। अखिल लोकदायक बिश्रामा ॥[८]

उनका स्वरूप भी इतना आकर्षक है कि सबके नेत्रों को सुख मिलता है।

मुनिपद कमल बंदि दोउ भ्राता। चले लोकलोचन सुखदाता ॥[९]

शास्त्र का संबंध सामाजिक व्यवस्था से हुआ करता है, वह (शास्त्र) हितसंपादन के लिए ऐसी व्यवस्था है जो प्रायः सबके व्यवहारो में से एकसूत्रता की दृष्टि से निकाली हुई (हितकारी बात) है, पर लोक में या जनता में बहुत सी ऐसी रीतियाँ, रस्म-रिवाज चलते रहते हैं जो देशभेद से, जनभेद से अलग-अलग होते हैं। शास्त्रों ने सामूहिक व्यवस्था की बात कहते हुए स्पष्ट कर दिया है—यथा मंगलं वा। जैसी व्यवस्था मैं दे रहा हूँ उसके बदले में लोकाचार का ग्रहण किया जा सकता है और उसमें वृद्धजन और नारीगण ही प्रमाण है। लोकाचार की विविधता और विशेषता का संबंध अधिकतर नारियों से होता है। वे परंपरा से बहुत सी ऐसी रीतियों को मांगलिक मानती रहती हैं जिनका शास्त्र में उल्लेख नहीं है। तुलसीदास ने इस लोकरीति का मानस में बराबर ध्यान रखा है।

लोकरीति जननी करहिं बर दुलहिन सकुचाहिं।[१०]

---

[१] रा० मा० प्रथम, सोपान (बालकाण्ड) ३५।३।
[२] वही, ३९।१२।
[३] वही, १०७।६।
[४] वही, ११२।७।
[५] वही, ९०।६।
[६] वही, १९१।२।
[७] वही, १९१।१०।
[८] वही, १९७।६।
[९] वही, २१९।११।
[१०] वही, ३५०।११।

स्थूल रूप से कहा जाय तो कहा जा सकता है कि भारतीय गार्हस्थ्य जीवन में शास्त्र का संबंध पुरुषों से है और शास्त्र की व्यवस्था करने वाले ऋषि-मुनि भी पुरुष ही अधिकतर हुए हैं किंतु उन्होंने लोकरंजन की दृष्टि से यह मान रखा है कि शास्त्र की अपेक्षा लोक का महत्व अधिक है। जनरंजन पहले है, सज्जनप्रियता बाद में, इसलिए वसिष्ठ भी शास्त्ररीति के पहले लोकरीति को करने की आज्ञा देते हैं—

जो बसिष्ठ अनुसासन दीन्हीं। लोक बेद बिधि सादर कीन्हीं ॥[1]

मूल में शास्त्र नहीं है, लोक ही है। लोक ही के लिए शास्त्र भी बनता है, प्रत्युत लोक में आदिकाल से जो विविध प्रकार की प्रवृत्तियाँ नाना प्रकार के जन समूहों में प्रचलित होती हैं उन्हीं में से सार्वभौम स्थिति निकालकर शास्त्रीय व्यवस्था कर ली जाती है। इसलिए लोकरीति का महत्त्व शास्त्र के ऊपर हो जाता है—

लोक बेद सब भाँतिहि नीचा। जासु छाँह छुइ लेइअ सींचा ॥[2]

कोई विशेष वर्ग लोक में ही नीचा ऊँचा माना जाता है, शास्त्रीय व्यवस्था तो बाद में होती है। जिसके कार्यकलाप सामाजिक दृष्टि से अधिक हितकारी होते हैं उन्हें ऊँचा स्थान मिलता है, जिनके कार्य उतने महत्त्व के नहीं होते उन्हें अपेक्षाकृत नीचा स्थान प्राप्त होता है। जिसकी सामाजिकता की दृष्टि से जितनी महत्ता होती है उसके प्रति सामाजिक मानस उतना ही आकृष्ट रहता है। किसी का आचरण या कर्म ही सामाजिक उच्चता का मुख्य निर्णायक है। इसलिए जो सामाजिक कर्म की अवहेलना करते हैं उनकी उच्चता कालांतर में आपसे आप समाप्त हो जाती है। मनुष्य सुविधाभोगी है इसलिए सामाजिक उच्चता मिलने के अनंतर वह सामाजिक उत्कर्ष के लिए काम करना छोड़ देता है और समाज से मिलनेवाला सम्मान नहीं छोड़ना चाहता। समाज की इस प्रकार की दूषित वृत्तियों को दूर करने और गार्हस्थ्य जीवन में आई हुई दुर्बलताओं का निवारण करने के लिए भक्ति आंदोलन खड़ा हुआ, जिसने सबको समान कर दिया; जिसकी भक्ति या समाजसेवा जैसी हुई उसके अनुसार उसको आदर, सम्मान, पूजा मिलने लगी। तुलसीदास भक्ति की या आचरण की उसी विशेषता की ओर यहाँ संकेत कर रहे हैं। विशेषता उभय पक्षों में है—राम में भी और निषाद में भी। तुलसीदास के राम और उनका रामचरितमानस जनता की संपत्ति अधिक है, अन्यों का अधिकार 'जन' के अनंतर है। इसमें संदेह नहीं कि राम या रामचरितमानस से लाभ कोई अपनी क्षमता के अनुरूप ही उठाता है और यह भी निश्चित है कि दोनो ही जनसमाज के लिए पहले हैं। यह दूसरी बात है कि रामकथा का प्रवाह सुरक्षित रखने वाले सज्जन, संत या सुजन ही हैं जनता उस प्रकार सुरक्षित नहीं रख सकेगी। पर जनता का स्थान पहले है। सुरक्षा के कारण सज्जन या संत को आदर-सम्मान अवश्य जनता के द्वारा मिलता है।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि तुलसीदास अपनी रचना में जनता का ध्यान पहले रखते हैं। जनरंजकता पर उनकी दृष्टि प्रथम रहती है, इसीलिए उन्होंने पांडित्य-प्रदर्शन की वृत्ति

---

[1] रा० मा०, प्रथम सोपान (बालकाण्ड) ३५२।१।

[2] वही, द्वितीय सोपान (अयोध्याकाण्ड) १९३।३।

कहीं नहीं अपनाई। कभी यदि ऐसी उलझन आई जहाँ शास्त्रीयता आड़े आने लगी वहाँ उन्होंने जनता का ध्यान रखकर अनेक प्रकार से उसे सरल और सहज बनाए रखने का प्रयास किया। रामचरितमानस में बहुत सी नियोजना जनता की दृष्टि से की गई है। प्रत्युत यह कहना चाहिए कि जो भी उच्चस्तरीय शास्त्रीय वाङ्मय था वह सब संस्कृत में था। उसकी कठोर शब्दावली, उसकी पारिभाषिक पदावली, उसकी गूढ़ता सबके लिए सहजगम्य नहीं थी। इसीलिए तुलसीदास ने रामचरित में अगम्य शास्त्रीयता को सुगम बनाने का प्रयास सबसे अधिक किया है। स्थान-स्थान पर संत-असंत का विचार, ब्रह्म-जीव-जगत् का विचार, मानस रोगों की चर्चा करके इन सबको इतना सुबोध बनाने का प्रयास किया है कि तुलसीदास ने सुबोधता की पराकाष्ठा ही कर दी है। यह भी सत्य है कि अगम को चाहे जितना सुगम किया जाय उसकी अगमता कुछ न कुछ बनी ही रहती है। इसीलिए रामचरितमानस में अगमता भी बनी हुई है। जैसे राम का चरित अगम और सुगम है उसी प्रकार रामचरितमानस भी अगम और सुगम है। यहाँ केवल उसकी सुगमता का विचार करना प्रसंगप्राप्त है। इसलिए उसी के कुछ उदाहरण उपस्थित कर कथन समाप्त किया जाता है। सेतुबंध के समय समुद्र के बड़े-बड़े जीवों (मछलियों) की चर्चा संस्कृत में 'तिमि' (बड़ी एवम् लंबी मछली) से आरंभ होती है। अमरकोश में 'तिमिः' और 'तिमिंगिलादयश्च' लिखकर बात समाप्त कर दी गई है, किंतु हनुमन्नाटक में स्पष्टता के लिए यों लिखा गया है—

अस्ति मत्स्यस्तिमिर्नाम शतयोजनविस्तरः।
तिमिङ्गिलगिलोऽप्यस्ति तद्गिलोऽप्यस्ति राघवः॥[1]

इस प्रकार यह स्पष्ट हुआ कि बड़ी-बड़ी मछलियों (चार सौ कोस लंबी) के लिए तारतम्य से तिमि, तिमिंगिल, तिमिंगिलगिल और राघव नाम दिए गए हैं। अमरकोश की टीका में 'आदिशब्दात् तिमिंगिलगिलनंदीवर्तादयः' कहा गया है। इससे जान पड़ता है कि तिमिंगिलगिल से बड़ी मछली नंदीवर्त या नंद्यावर्त्य होती है और उससे भी बड़ी मछलियाँ होती हैं जिनके लिए यहाँ 'आदयः' लिखा गया है। यदि ये सब नाम मानस में दिए जाते तो बिना संस्कृत कोशों के काम न चलता। इसलिए उन्होंने ऐसे ढंग से बात रखी है कि सामान्य से सामान्य व्यक्ति उसे समझ ले।

सेतुबंध ढिग चढ़ि रघुराई। चितव कृपाल सिंधु-बहुताई॥
देखन कहुँ प्रभु करुनाकंदा। प्रगट भए सब जलचर बृंदा॥
मकर नक्र नाना झष ब्याला। सत जोजन तनु परम बिसाला॥
अैसेउ एक तिन्हहिं जे खाहीं। एकन्ह के डर तेपि डेराहीं॥[2]

बड़ी से बड़ी सिद्धांत की बात बतानी हो तो भी उसे इतना सरल करके सामने रखते हैं कि साधारण व्यक्ति के समझने में भी विशेष कठिनाई नहीं होती। तृतीय सोपान (अरण्य-कांड) में लक्ष्मण ने तत्वज्ञान के लिए कुछ प्रश्न किए हैं—

---

[1] हनुमन्नाटक, अंक ८। श्लोक ४७।
[2] रा॰ मा॰, षष्ठ सोपान (लंकाकाण्ड) ४।३-६।

कहहु ज्ञान बिराग अरु माया।
कहहु सो भगति करहु जेहि दाया।।
ईस्वर जीवहि भेद प्रभु सकल कहहु समुझाइ।
जातें होइ चरनरति सोक मोह भ्रम जाइ।।[१]

इसका उत्तर राम ने जो दिया है वह प्रसंग में लक्ष्मण के लिए है। लक्ष्मण पर्याप्त ज्ञान-संपन्न थे उनके लिए उत्तर को सुगम बनाकर कहने की उतनी अपेक्षा नहीं थी। किंतु तुलसीदास और उनके राम इस बात का सदा ध्यान रखते हैं कि सबका कल्याण हो और बात सबकी समझ में आए। इसलिए गूढ़ से गूढ़ ज्ञान भी संक्षिप्त और सरलतया बोधगम्य रूप में उपस्थित किया जाता है। इसीलिए राम कहते हैं—

थोरेहिं महु सब कहउँ बुझाई। सुनहु तात मति मन चितु लाई।।
मैं अरु मोर तोर तैं माया। जेहि बस कीन्हें जीव निकाया।।
गो गोचर जहँ लगि मन जाई। सो सब माया जानेहु भाई।।
तेहि कर भेद सुनहु तुम्ह सोऊ। बिद्या अपर अबिद्या दोऊ।।
एक दुष्ट अतिसय दुख रूपा। जा बस जीव परा भव कूपा।।
एक रचै जग गुन बस जाके। प्रभुप्रेरित नहि निज बल ताके।।
ज्ञान मान जहँ एकौ नाहीं। देख ब्रह्म समान सब माहीं।।
कहिअ तात सो परम बिरागी। तृन सम सिद्धि तीनि गुन त्यागी।।
माया ईस न आप कहुँ जान कहिअ सो जीव।
बंध मोक्ष प्रद सर्ब पर माया प्रेरक सीव।।[२]

इसमें सबसे पहले माया समझाई गई और यह कह दिया गया कि मैं, मोर-तोर यही माया है। साधारण से साधारण व्यक्ति इसे समझ जाता है। इसके स्थान पर यदि यह कहा जाता कि अहंता, ममता और भिन्नता का नाम माया है तो उतनी सरलता न होती। अहंता के लिए मैं, ममता के लिए 'मोर' और भिन्नता के लिए तोर-तैं शब्द का व्यवहार किया गया। एक ओर मैं-मोर है और दूसरी ओर तैं-तोर। अब माया के विस्तार की चर्चा करते हुए कहते हैं—

गो गोचर जहँ लगि मन जाई। सो सब माया जानेहु भाई।।

इसमें गो-गोचर साधारण व्यक्ति के लिए कुछ कठिन कहे जा सकते हैं, पर आगे पड़े हुए 'मन' से साधारण व्यक्ति के लिए भी उनका अर्थ स्पष्ट हो जाता है। मन ही इंद्रियों का शासन करता है, उन्हें चलाता है,; इसलिए 'गो-गोचर' का अर्थ समझने में कठिनता उतनी

---

[१] रा० मा०, तृतीय सोपान (अरण्यकांड) १४।८-१०।
[२] रा० मा०, तृतीय सोपान (अरण्यकांड) १५।१-१०।

नहीं रह जाती। यदि कोई न भी समझे तो केवल जहाँ तक मन जाता है वहाँ तक माया है यह सभी समझ सकते हैं। मन जहाँ तक जायगा वह मन का विषय होगा, इंद्रियाँ जहाँ तक जाएँगी वे इंद्रियों के विषय होंगे और सबके सब माया हैं, इतना हीतो कहना है। माया के विद्या-अविद्या भेद कीं सरलता का कुछ कहना हीं नहीं। अगली अर्द्धाली में 'दुष्ट दुख रूप' शब्द आ जाने से कोई सरलता से समझ सकता है कि यह अविद्या के लिए होगा और तब अगली पंक्ति विद्या के लिए है, यह स्पष्ट हो जाएगा। जिस क्रम से लक्ष्मण ने प्रश्न किया था समझाने कीं सरलता के लिए क्रम वही नहीं रखा गया है, प्रश्न माया के विषय में पहले कहा गया, फिर ज्ञान और फिर विराग के विषय में। 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' न कहकर 'देख ब्रह्म समान सब माहीं' कहा गया है। साथ ही एक अनुबंध यह भी लगा दिया गया है कि जहाँ मान नहीं है, मान-सम्मान-अभिमान कुछ भी नहीं है उसी का नाम ज्ञान है। 'सकलतृष्णाक्षय' न कहकर सिद्धियों को तृन सम तुच्छ समझना और तीनो गुणों का त्याग कह दिया गया है। ब्रह्म और जीव को समझाने में और भी सरलतां हो गई। जो न अपने को समझे, न माया को और न ब्रह्म को ही वही जीव है। जो माया का संचालन करता है, सबसे परे है, और बाँधने छोड़ने में समर्थ है वही ईश्वर है। इसीलिए कहा गया है कि तुलसीदास ने सुगमता का ध्यान सबसे अधिक रखा है। जो कुछ कहा गया है उसको यदि कोई सज्जन, सुजन, विशिष्ट जन देखना चाहे तो पुंखानुपुंख उसका विस्तार हो सकता है। इसी प्रकार इसके आगे ज्ञान-वैराग्य से भक्ति की क्या भिन्नता है यह भी समझाया गया है और कहा गया है कि भक्ति स्वतंत्र है और उसी के अधीन ज्ञान और विज्ञान (कर्म-आचरण) हैं। अब यहाँ कोई यह कहकर आपत्ति कर सकता है 'कि जिसकी बरात उसके गीत।' यहाँ भक्ति की श्रेष्ठता बतलानी है, इसलिए भक्ति के अधीन ज्ञान और कर्म को भी बतला दिया; किंतु बात ऐसी नहीं है। भक्ति वाले विनम्र होते हैं। उनकी मान्यता होती है कि भगवान् के शरणागत होकर भक्त भक्ति प्राप्त करता है। यदि वह मोक्ष चाहे तो भगवान् उसे उसके लिए ज्ञान स्वयम् दे देते हैं। ज्ञानप्राप्ति का उत्तरदायित्व भक्त पर न रहकर भगवान् पर हो जाता है। ऐसी स्थिति में उसे भगवान् ज्ञान देकर 'ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः' को चरितार्थ कर देते हैं।

किंतु सगुण-भक्त तो मोक्ष भी नहीं चाहते, इसलिए इन भक्तों के यहाँ मुक्ति का निरादर और भक्ति का आदर बहुत होता है। भक्त यह मान लेता है कि बारंबार शरीर धारण करने से भगवद्भक्ति का जितना अवसर एवम् आनंद मिलता है उतना मोक्ष या कैवल्य से नहीं प्राप्त होता, क्योंकि जल से पृथक् रहकर उसका आस्वाद लिया जा सकता है, उसमें मिल जाने से आस्वाद का प्रश्न ही नहीं रह जाता। भगवान् को अकेले रहना पसंद नहीं था, उन्होंने आनंद या रमणीयता के लिए एक से अधिक हो जाने की अपेक्षा समझी। भक्त मानता है कि यावन्मात्र सृष्टि के रूप में भगवान् ही प्रकट हैं और उस प्राकट्य का कारण है रमणीयता की उपलब्धि। इसी धारणा को चरितार्थ करने के लिए वह चाहता है कि बारंबार जन्म हो और निरंतर आनंद की उपलब्धि का अवसर मिले। पर आनंद की यह उपलब्धि एकांत साधना में नहीं हुआ करती। भक्त चाहता है कि

संसार में जो दुःखी हैं उनका दुःख दूर किया जाय। इसीलिए भक्त लोग 'भक्ति भक्त भगवंत गुरु' को एक ही मानते हैं। उनके नाम चार अवश्य हैं पर स्वरूप एक ही है। भक्त संत का आचरण करता है, दूसरे के दुःख से दुःखी होता है। भगवान् भी तो जो खिन्न हैं उनकी खिन्नता दूर करने के लिए ही सारा कार्य करते हैं। उन्हें लौकिक आनंदोत्सव में लीन रहनेवाले नहीं पाते। जो प्रसन्नता से भगवान् की शरण जाते हैं वे उन्हें केवल प्रिय होते हैं किंतु जो खिन्न हैं अर्थात् जिनको स्व-सामर्थ्य या अपनी विवशता का एकांत बोध हो गया है, अपने को जिसने निनम्र बना लिया है, उसका ईश्वर के अतिरिक्त कोई रक्षक नहीं। ऐसा खिन्न भगवान् के लिए परम प्रिय है। इसीलिए इस खिन्नता में भगवान् के प्रति आकृष्ट होने की जो अधिकता है वह अन्यत्र नहीं जान पड़ती।

ऊपर कहा गया है कि सुगम होते हुए भी यह रचना (यह रामचरितमानस) अगम है। ऊपर तिमिंगिल की चर्चा की गई है जिसमें तिमिंगिल को भी निगलनेवाले 'राघव' का संकेत है। समुद्र के जीव राम को देखने के लिए जल की ऊपरी सतह पर आ गए हैं। राम उनको किस रूप में दिखाई पड़ते होंगे, यह इसमें नहीं बताया गया है, पर कवि ने कहा है—

प्रभुहि बिलोकहिं टरहिं न टारे। मन हरषित सब भए सुखारे॥
तिन्ह की ओट न देखिअ बारी। मगन भए हरिरूप निहारी॥[१]

राम का रूप वे सब देख रहे हैं। सामान्यतया यही समझा जा सकता है कि उनके सौंदर्य को-सब देख रहे हैं, पर उसमें जीवों के लिए कोई विशेषता अवश्य है जिसके कारण वे सब राम की ओर आकृष्ट हैं। जीवों के आकर्षण का केन्द्र यह है कि राम भी 'राघव' हैं और जलजन्तु में होने वाले राघव से भी विशाल हैं। इतना विराट् स्वरूप होने पर भी उनकी ओर से किसी प्रकार का भय नहीं है। जिन विशाल जलजंतुओं की चर्चा की गई वे एक दूसरे से इसलिए डरते थे कि अपने से छोटे को वे खा जाते हैं, यहाँ वैसी कोई बात नहीं है। अपने स्वभाव को सब भूल गए हैं। 'तिंमि' बहुत बड़ी मछली का नाम है पर यहाँ कवि ने झख के अतिरिक्त मकर-नक्र-व्याल भी जोड़े हैं। छिपकली के आकार के जलजंतु मकर कहलाते हैं। किंतु जिनकी नाक में विशेषता होती है, जिनका मुँह बड़ा होता है वे नक्र कहलाते हैं। नाक की इसी विशेषता के कारण वे नक्र कहलाते हैं, बोली में उन्हें 'नाक' ही कहते हैं। अंग विशेष के लिए हिंदी में जो 'नाक' शब्द चलता है उसे कुछ लोग नासिका से विकसित मानते हैं, पर ऐसा प्रतीत होता है कि 'नक्र' से ही उसका विकास हुआ होगा। यहाँ हिंसक या प्रहार करनेवाले जंतुओं को ही संकेतित करना प्रयोजन है। मकर, नक्र हिंसक होते ही हैं, व्याल विष के कारण मारक होते हैं। मछली ही अहिंसक बच जाती है पर जैसा ऊपर उद्धरण दिया गया, यहाँ संकेत तिमिंगिल आदि से है, अपने से छोटे को खाने की प्रवृत्ति वाले यहाँ दिखलाई दे रहे हैं। राम को देखकर करुणाकंदता से आकृष्ट

[१] रा० मा०, षष्ठ सोपान (लंकाकाण्ड) ४।७-८

होकर इन्होंने भी अपनी मारकता, हिंसकता बंद कर दी। भरत ने राम के संबंध में कहा ही है—

जिन्हहिं निरखि मग साँपिनि बीछी।
तजहिं विषम विषु तापस तीछी॥[१]

उन्हें देखकर ऐसी नागिनें और ऐसी विच्छियाँ अपने भीषण विष को त्याग देती हैं जो विष की गरमी से किसी पर उसे उतार देने के लिए तिरछी होती हैं, उनमें विष होता ही नहीं, विष के प्रयोग के लिए तेजी भी होती है फिर भी वे सब राम के संमुख उसका प्रयोग नहीं करते। राम की यह विशेषता दिखाना यहाँ प्रयोजन प्रतीत होता है और व्यंजना यह भी करनी है कि जिनसे ये सामान्य जीव तक प्रभावित हैं, जड़ प्रवृत्ति वाले जीव भी जिनकी करुणा के कारण अपने स्वभाव को कुछ समय के लिए भूल जाते हैं, उनकी इस विशेषता का प्रभाव चेतन कहे जानेवाले रावण के पक्ष वाले निशाचरों पर और स्वयम् रावण पर भी नहीं पड़ रहा है।

———

[१] रा० मा०, द्वितीय सोपान (अयोध्याकाण्ड) २६१।८

अजस्र प्रेरणा का स्रोत—रामचरित मानस

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी
(भूतपूर्व आचार्य एवं अध्यक्ष, हिन्दी विभाग)

रामचरितमानस मध्य काल का सर्वश्रेष्ठ ग्रंथ है। आज से लगभग चार सौ वर्ष पहले गोस्वामी तुलसीदास जी ने इसे लिखना आरम्भ किया था। इन चार सौ वर्षों में यह ग्रंथ देश और काल की सीमा अतिक्रम कर के संसार में समादृत हुआ है। यह सच्चे अर्थों में कालजयी ग्रंथ है। प्रत्येक ग्रंथ, भाषा और अभिव्यक्त में अपने काल से प्रभावित होता है। रामचरितमानस भी है परन्तु बहुत थोड़े से ग्रंथ इस सीमा को अतिक्रम करके सर्वकाल के सहृदयों को प्रभावित करने में समर्थ होते हैं। यह लोकोत्तर तेज संसार के गिने चुने ग्रंथों में ही उपलब्ध होता है, यही कारण है कि वह देश और काल की सीमा पार करके समस्त संसार के सहृदयों को प्रभावित करने में समर्थ हुआ है।

रामचरितमानस के लेखक कविवर तुलसीदास जिस काल, समाज और देश में पैदा हुए उससे वे प्रभावित थे। उनका व्यक्तिगत जीवन किसी न किसी रूप में उनमें स्वीकृत विचारों को रूप दे रहा था, इसलिए वे अपने देश काल और समाज के संस्कारों और व्यक्तिगत रुचि, कुंठा और झिझक आदि से प्रभावित थे। रामचरितमानस और उनके अन्य ग्रंथों के आलोचकों ने इन बातों पर बहुत विचार किया है और भविष्य में भी करते रहेंगे परन्तु इन सब सीमाओं के भीतर रह कर भी उनमें एक अलौकिक दीप्ति थी जो सीमा में नहीं बँध सकती। जिस प्रकार दीपक की लौ दिया, तेल, बाती और हवा के कम्पन से प्रभावित होते हुए भी इन सीमाओं से बाहर दूर तक अपनी दीप्ति बिखेर सकती है, कुछ उसी प्रकार व्यक्ति कवि के भीतर जलने वाली दिव्य लौ भी अपनी दीप्ति देश काल और सीमा को अतिक्रम कर के प्रकाशित करती रही है।

ऐसा लगता है कि तुलसीदास के सामने तत्कालीन समाज में प्रचलित एक बड़ा भारी सन्देह मुख्य रूप से उनके चित्त को आन्दोलित किए हुए था। उनका प्रयत्न मुख्य रूप से लोकचित्त के सन्देहों को उखाड़ देना था। वस्तुतः सन्देह के कारण ही विषाद उत्पन्न होता है। रामचरितमानस के भरद्वाज, पार्वती, गरुड़ आदि मुख्य श्रोताओं के मन में संशय-जनित विषाद उत्पन्न हुआ था। यह सन्देह यह था कि जो ब्रह्म सब प्रकार की धारणाओं से ऊपर है, व्यापक है, निर्गुण है, अजन्मा है, जिसे श्रुति नेति-नेति कह कर बखानती है वह क्या मनुष्य के रूप में अवतार धारण कर सकता है। इस सन्देह का उन्मूलन तुलसीदास का एक लक्ष्य था। जब तक यह सन्देह उन्मूलित नहीं होता तब तक विषाद का शमन भी नहीं होता। यह एक सामयिक प्रश्न था। तुलसीदास के पूर्ववर्ती महान् निर्गुणवादी सन्तों ने सगुण राम का प्रत्याख्यान किया था और लोकचित्त में ऐसा संशय उत्पन्न किया था। यह एक निश्चित देश काल में उत्पन्न स्थिति थी। इस संशय का उच्छेद, ऊपर से देखने में एक सामयिक प्रश्न था।

तुलसीदास के चित्त में कुछ ऐसे संस्कार थे जो इस संशय को मनुष्य के लिए हानिकारक सिद्ध करते थे। यह एक प्रकार का द्वन्द्व था जो बाह्य समाज में बहुप्रचारित सिद्धान्त और तुलसीदास के व्यक्ति, चित्त में प्रतिष्ठित रुचि और संस्कार के संघर्ष से उत्पन्न हुआ था। रामचरित मानस के निर्माण में इस द्वन्द्व का महत्वपूर्ण स्थान था परन्तु यह सामयिक तथ्य ही सब कुछ होता तो रामचरितमानस खंडन-मंडन के रूप में लिखे हुए ग्रंथों के समान अल्प-कालीन प्रभाव ही छोड़ जाता, परन्तु ऐसा नहीं हुआ। इस द्वन्द्व ने तुलसीदास के संवेदशील चित्त को केवल खंडन-मंडन की ओर प्रवृत्त नहीं किया बल्कि उनकी रचनात्मक प्रतिभा को झंकृत कर दिया जिससे शाश्वत मानवीय मूल्यों का अद्भुत रागात्मक सर्जन हुआ। शत-तार वीणा को यद्यपि छेड़ने वाली चीज़ बहुत मामूली सी होती है परन्तु उसके एक तार के झंकृत होने से अन्य अनेक तार झनझना उठते हैं और उस मोहक संगीत का प्रादुर्भाव होता है, जो छेड़ने वाली वस्तु एकदम अविभूत कर के अपूर्व रागात्मक संगीत की सृष्टि करती है। उस युग के मामूली से प्रश्न ने तुलसीदास के चित्त को ऐसा झकझोर दिया कि उनकी सम्पूर्ण सत्ता ही उमड़ उठी। वह मनुष्य मात्र के रागात्मक चित्त के साथ एकमेक होकर उन चिन्मय मूल्यों की रचना कर सकी जो अपूर्व कहे जा सकते हैं। भारतवर्ष की साधना का जो सर्वोत्तम है, जो कुछ महान् है, जो कुछ सरस है और जो कुछ भव्य है वह इस बहाने अभिव्यक्ति पाने को व्याकुल हो उठी। इस उदात्त भव्य अभिव्यक्ति में ही रामचरितमानस की महिमा है। देश और काल की सीमा में बँधा हुआ तुलसीदास का व्यक्ति-रूप भी उसमें जहां-तहां प्रकट अवश्य हुआ और कई बार उस सीमित अभिव्यक्ति ने भिन्न-भिन्न श्रेणी के लोगों को क्षुब्ध और उत्तेजित भी किया है। परन्तु रामचरितमानस की दिव्य ज्योति में यह छोटे-मोटे धब्बे कोई बाधा नहीं उत्पन्न कर सके। वे हैं, क्योंकि उनका होना रोका नहीं जा सकता था। परन्तु रामचरितमानस का निर्माण, उनसे अलग दिव्य अलौकिक तेज से हुआ है। कभी-कभी लोग उन छोटी-छोटी बातों को लेकर ही झगड़ते हैं। वे भूल ही जाते हैं कि रामचरितमानस का लक्ष्य इन बातों से कहीं अधिक ऊँचा है। वह मनुष्य को उस लक्ष्य तक ले जाता है जिससे बड़ा लक्ष्य और कुछ हो ही नहीं सकता।

तुलसीदास केवल ज्ञान का ग्रंथ नहीं लिख रहे थे। मनुष्य के नित्य जीवन में घटने वाले ईर्ष्या-द्वेष, सुख-दुःख और लोभ-मोह के विकारों के भीतर से उन्होंने परम लक्ष्य की प्राप्ति की ओर अपने पाठक को ले जाना चाहा। इसलिए उनका यह ग्रंथ शुष्क आचार-संहिता या थोथे उपदेशों की पोथी नहीं है, वह मनुष्य जीवन की गहराई में उतरा है और अत्यन्त सहज भाव से उसे रामोन्मुख करता रहा है। राम, जो मनुष्य के समस्त, आशा-आकांक्षों का सर्वोत्तम केन्द्र है वहां काम, क्रोध, द्वेष, मोह आदि टिक नहीं सकते। राम एक ऐसा सूर्य है जिसके सामने मोह रूपी अन्धकार की कल्पना नहीं की जा सकती। परन्तु यह राम हमारे दैनन्दिन जीवन के अनुभवों के भीतर से उजागर हुआ है। वह मनुष्य रूप में अवतरित हुआ है, और मनुष्य की सारी कमजोरियों और विकारों के भीतर उज्जवल, आलोक के रूप में निकलता चला गया है। वह ज्ञेय बनकर नहीं बल्कि अनुभव योग्य होकर हमें आकर्षित करता है। वह केवल अनादि, अनंत और व्यापक सच्चिदानन्द

मात्र नहीं है बल्कि शील, सौजन्य और मर्यादा का अधिष्ठाता भी है। वह केवल ज्ञान और उपासना का विषय नहीं है बल्कि प्रेम और भक्ति का भी आश्रय है; वह केवल संसार की अपवित्रताओं के वैराग्य की भावना का उत्पादपिता नहीं हैं, बल्कि सब प्रकार की मानवीय दुर्बलतायें भी उसे समर्पित होकर धन्य हो जाती हैं। यह राम सब प्रकार से मनुष्य होकर भी परम ब्रह्म है।

रामचरितमानस के राम शोभा और सौन्दर्य के आगार हैं, प्रेम के वश्य हैं, शौर्य और पराक्रम के निधान हैं, वे आरतिहरण और शरण-सुखद हैं। नर भूपाल रूप में दिखाई देने पर भी वे साक्षात् परब्रह्म हैं और समस्त देवताओं द्वारा सेवित हैं। इन विविध रूपों में तुलसीदास ने अद्भुत सामंजस्य और अविरोध दिखाया है। ऐसा चमत्कार कोई अलौकिक शक्ति सम्पन्न कवि ही कर सकता था।

सारे संसार में भक्तों के भगवान दो रूप में स्वीकार किये जाते हैं—एक तो गुणातीत और समस्त शक्तियों के उत्स और दूसरी ओर भगवान भक्तों के स्व-भाव के अनुसार उनके हृदय में ही अवतीर्ण होते हैं। वे माता, पिता, पुत्र, स्वामी, सखा, प्रिय आदि रूप में भक्ति भावना के अनुरूप रहा करते हैं और प्रत्येक व्यक्ति के स्वभाव और आकांक्षाओं के अनुसार उसके हृदय में आविर्भूत होते हैं। कभी-कभी इसे व्यक्तिगत भगवान भी कहा जाता है। तुलसीदास इन दोनों रूपों को अच्छी तरह स्वीकार करते हैं परन्तु उनके सामने एक तीसरा मार्ग भी है। भगवान लोकचित्त में किसी-न-किसी रूप में विद्यमान रहते हैं। तुलसीकालीन भारतवर्ष में समष्टि चित्त में दशरथ के पुत्र राम के रूप में प्रतिष्ठित थे। यह परम्परा-क्रम से समष्टि-चित्त में प्रतिष्ठित राम हैं। तुलसीदास इन 'जन मन मानस हंस' रूप की उपेक्षा नहीं करते बल्कि पूरा बल देकर उसे व्यक्तिगत भगवान और निरपेक्ष भगवान के समान ही आदर देते हैं। समष्टि चित्त में बसे हुए इस राम का विविध लीलाओं के रूप में उदात्तीकरण तुलसीदास जी का प्रिय कार्य था। जो राम जन-मानस में अनादि काल से प्रतिष्ठित है उसे तुलसीदास ने अपने रामचरितमानस में पूर्ण वैभव के साथ निखारा है। रामचरितमानस इसीलिए भगवत्स्वरूप को परिपूर्ण रूप में दिखाने वाला महान् ग्रंथ है, क्योंकि वह लोकचित्त के साथ ताल मिलाकर चलता है और भगवतस्वरूप के उत्तम और वैभवशाली पक्ष को उजागर करता है। लोक-चित्त में प्रतिष्ठित इस राम को जनता के दैनन्दिन संघर्षों और विषम परिस्थितियों के भीतर से पूर्ण ब्रह्म के रूप में प्रकाशित करना तुलसीदास की कठिन साधना थी। एक ओर जहाँ राम परात्पर ब्रह्म हैं वहीं दूसरी ओर वे सहज भाव से जनता के अपने प्रतिनिधि भी हैं। तुलसी उस भक्ति को श्रेष्ठ समझते हैं जिसमें भक्त के मन से यह बुद्धि कभी भी नहीं टलती कि भगवान् सचराचर रूप-राशि ही हैं और मैं (भक्त) इस सचराचर रूप का सेवक हूँ। लोक-मानस के साथ राम के घनिष्ठ रूप से जुड़े हुए होने के कारण तुलसीदास के मन में सेवक सेव्य भाव ही श्रेष्ठ है।

जीवन में मनुष्य को अनेक प्रकार के सुख-दुख और आशा-आकांक्षा के भीतर से गुजरना पड़ता है। प्रत्येक मनुष्य किसी-न-किसी दुर्बलता का शिकार है। इन दुर्बलताओं से पार पाना कठिन है। एकमात्र उपाय यह है कि अपनी सारी कमजोरियाँ भगवान को समर्पित करके मनुष्य उनसे मुक्ति पा ले। जो कोई भी राम के सम्मुख हो जाता है उसके

सारे पाप नष्ट हो जाते हैं। परन्तु जो राम के विमुख हैं उसके सारे वैभव व्यर्थ हो जाते हैं। राम का साम्मुख्य प्राप्त करना रामचरितमानस का लक्ष्य है। कोई भी व्यक्ति चाहे वह ऊँच कुल में जन्मा हो या नीच कुल में, उत्तम योनि में पैदा हुआ हो या अधम योनि में, सात्विक शरीर का अधिकारी हो या तामस शरीर का, सभी राम के सम्मुख आकर कृतार्थ हो जाते हैं। जो सम्मुख नहीं आ पाते उनका जन्म अकारथ सिद्ध होता है। रामचरितमानस ने इस महान् लक्ष्य को लोकसुलभ कराने में आश्चर्यजनक ढंग से परिपूर्ण सफलता प्राप्त की है।

यह महान् ग्रंथ पिछले कई सौ वर्षों से मनुष्य के चित्त में उदात्त मानवीय मूल्यों को प्रतिष्ठित करता रहा है। इसकी भाषा, अभिव्यक्ति और भाव प्रेक्षणक्षमता अपूर्व है। यह रामचरितमानस एक सुनिश्चित योजना में लिखा हुआ काव्य है। इसके प्रत्येक शब्द को इस कवि ने अच्छी तरह से तोल कर प्रयोग किया है। यदि आरम्भ में कोई शब्द किसी निश्चित अर्थ में प्रयुक्त हुआ है तो अन्त तक उसका निर्वाह हुआ है। ऐसा लगता है कि कवि पूर्ण रूप से सचेत कलाकार है। परन्तु यह 'सचेत-भाव' आभास से नहीं वल्कि व्यक्तित्व के सम्पूर्ण विसर्जन से आया है। सत्य यह है कि रामचरिचमानस का कवि पूर्ण रूप से अपने व्यक्तित्व को अपने लक्ष्य में निमज्जित कर सका है। यह उस श्रेणी का काव्य है जिसकी प्रत्येक उक्ति किसी दिव्य प्रेरणा से निकली है, जैसा कि आरम्भ में कहा गया है, जहाँ तक व्यक्ति तुलसीदास का सम्बन्ध है वे अपने युग और समाज से प्रभावित हैं परन्तु उनका व्यक्तित्व उस महान् लक्ष्य में बिल्कुल निमज्जित हो गया है जिससे बड़े लक्ष्य की कल्पना नहीं की जा सकती। यही कारण है कि रामचरितमानस उस दिव्य कोटि का ग्रंथ वना है जो एक ही साथ काव्य और शास्त्र दोनों ही होते हैं। आज चार सौ वर्षों वाद इस महान् ग्रंथ के प्रणेता कवि को हम अपनी हार्दिक श्रद्धांजलि अर्पित करते हैं।

बड़े भाग मानुष तनु पावा। सुर दुर्लभ सब ग्रंथन्हि गावा॥
साधन धाम मोच्छ कर द्वारा। पाइ न जेंहि परलोक सँवारा॥

'राम सीय' मुद्रा एवं तत्कालीन समाज पर तुलसीदास का प्रभाव

राय कृष्णदास
भारत कला भवन, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय

तुलसीदास की भक्ति व्यंजना ने तत्कालीन समाज पर गहरा प्रभाव डाला। ऐसा अनुमान होता है कि पिछले कांटे स्वयं अकबर पर भी इस भक्ति आन्दोलन का प्रभाव पड़ा। इसका संकेत अकबर द्वारा प्रचलित एक सिक्के से मिलता है। (दे० चित्र एवं नीचे दिए हुए वृत्तान्त)

चित्त ओर पट्ट ओर

अकबर के धार्मिक विचारों के विषय में अधिक जानने की आवश्यकता नहीं है, इस विषय पर यथेष्ट चर्चा हो चुकी है। अकबर प्रारम्भ से ही जिज्ञासु प्रवृत्ति का था। उसने भारतीय धर्म-संस्कृति-परम्परा-कला आदि को बड़ी सूक्ष्म दृष्टि से देखा और आत्मसात् किया। इसके उदाहरण उस काल के साहित्य-संगीत-कला में बराबर मिलते हैं। भारतीयता की ओर इस झुकान के साथ-साथ वह तात्त्विक ज्ञान के लिए भी आकुल रहता। किसी धर्म-विशेष से उसका लगाव न था। क्रमशः यह प्रवृत्ति बढ़ती गई। उसके कट्टर आलोचक मौलाना अब्दुर् क़ादिर बदायूनी ने अपने ग्रन्थ मुंतख़बुत्तवारीख़ में इस प्रसंग में अकबर की बड़ी कठोर आलोचना की है। इसी सूत्र से ज्ञात होता है कि प्रति सप्ताह बड़ी रात तक अकबर मुस्लिम धर्मोपदेशकों के साथ बैठकर तत्त्व-चर्चा करता रहता। परन्तु उसे उनकी सभी बातों पर प्रत्यय न होता। उसने शैव, जैन, अग्निपूजक जरस्थुस्त्र-पंथी पारसियों और जेसुइट-पंथी ईसाइयों से भी जिज्ञासायें कीं। अन्त में वह इसी निष्कर्ष पर पहुँचा कि सभी धर्मों का सारांश एक ही है। उसका सर्वधर्म-समन्वय सिद्धान्त तौहीद या दीन-ए-इलाही के नाम से प्रवर्तित हुआ। परन्तु परम्परागत समाज-हिन्दू और मुस्लिम दोनों ही प्रमुख वर्गों ने इस सिद्धान्त को स्वीकार न किया। इस प्रकार यह आन्दोलन अकबर के साथ-साथ, वरन् अकबर के अन्तिम वर्षों में ही समाप्त-प्राय हो गया। यों छिटपुट रूप में इसके मतावलंबी शाहजहाँ काल तक चलते रहे।

जहाँ अकबर उस अव्यक्त ब्रह्म का उपासक था, जो दीन-ए-इलाही का मूल सिद्धान्त है, वहाँ सहसा उस पर सीता-राम का कैसे प्रभाव पड़ा, यह एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न है। मेरा सुझाव है कि यह तुलसी के राम-भक्ति आन्दोलन का ही अवान्तर प्रभाव है। खेद है, तत्कालीन इतिहास या अन्य साहित्यिक प्रमाण इस विषय में सर्वथा मौन हैं। निम्नलिखित संकेतों से इसकी पुष्टि होती है :

१—अकबर ने रामसीय प्रकार का एक सिक्का चलाया (चित्र एवं विवरण)। एवं उक्त सिक्के पर तुलसीदास का परम प्रिय द्वन्द्व समास, रामसीय नगराक्षरों में उद्धृत किया।

२—उक्त सिक्का उसके अंतिम वर्ष में निकला। उन वर्षों में अकबर अनेक समस्याओं से घिरा हुआ था। विशेष रूप से उसके पुत्र सलीम (जो बाद में जहाँगीर के नाम से सम्राट हुआ) विद्रोही हो गया था। उसके अन्य व्यवहारों से भी अकबर को बहुत क्लेश होता। अकबर के अन्य पुत्रों का भी हाल विचित्र ही था। वे निकम्मे थे, सुरा-पान में डूबे रहते थे। अकबर के ५० वें राज्य वर्ष के पहले ही सलीम के सिवा उसके अन्य भाइयों का देहावसान हो चुका था।

कुछ प्रमुख उमरे सलीम से असंतुष्ट थे। वे उसके स्थान पर उसके पुत्र खुसरो को अकबर का उत्तराधिकारी बनाना चाहते थे। फलस्वरूप अकबरी दरबार षड्यंत्रों का केन्द्र हो गया।

३—अकबर ने अनेक महत्त्वपूर्ण अवसरों पर स्मारक सिक्के प्रचलित किये। यथा, प्रसिद्ध असीरगढ़-विजय पर, जिस पर बाज़ का चित्र है तथा हिजरी, एक हजार वर्ष पूरा होने पर। इस अवसर पर उसने एक तारीख-ए-अलफी नामक सचित्र ग्रन्थ भी तैयार कराया।

४—अकबर ने प्राय: १५८० ई० में महाभारत-रामायण के फ़ारसी अनुवाद कराये और उनकी बहुमूल्य सचित्र प्रतियां तैयार कराईं। अतएव 'रामसीय' प्रकार के सिक्कों का भी एक विशिष्ट महत्त्व होना चाहिए। ऐसा नहीं माना जा सकता कि अकारण ही ऐसा महत्त्वपूर्ण परिवर्तन हो गया। मेरा तो विश्वास है कि तुलसी के 'रामसीय' आन्दोलन का ही यह प्रभाव था जिससे अकबर ने इस प्रकार का सिक्का चलाया।

उक्त सिक्के का वर्णन

इस प्रकार के सिक्के बहुत ही दुर्लभ हैं। अभी तक इस प्रकार के केवल तीन सिक्के प्राप्त हुए हैं। इनमें दो तो सोने की अर्ध अशर्फियाँ हैं जो ब्रिटिश संग्रहालय में हैं और तीसरा उदाहरण, चाँदी की अठन्नी है जो भारत कला भवन संग्रह में है। चांदी में इस प्रकार का एक ही नमूना मिला है। परन्तु यही सर्वाधिक लोक प्रिय रहा होगा। खेद है परवर्ती शासकों ने धर्मान्धतावश इस प्रकार के सिक्कों को गलवा डाला होगा, अतएव इतने कम उदाहरण मिलते हैं।

इन सिक्कों में थोड़ा-थोड़ा परिवर्तन भी मिलता है पर सामान्य रूप से इनका वर्णन इस प्रकार है :

एक प्रियदर्शन युवक हाथ में धनुष बाण लिये आगे-आगे जा रहा है। उसके पीछे-पीछे एक देवी भी जा रही हैं, उनके हाथों में फूलों का गुच्छा है। भिन्न-भिन्न उदाहरणों पर युवक के वस्त्र विधान में परिवर्तन दीखता है।

इस सिक्के पर एक ओर फारसी लिपि में मुद्रा के ढलने के स्थान का नाम, महीना और अकबर का राज्य वर्ष दिया है। इनसे सिक्के के समय आदि की महत्वपूर्ण सूचनायें मिलती हैं।

उपर्युक्त सभी ज्ञात उदाहरणों में कला भवन वाली अठन्नी महत्वपूर्ण है क्योंकि इस सिक्के की कुंजी उसी से प्राप्त होती है। इसी उदाहरण पर आकृतियों के ऊपर बहुत सूक्ष्म अक्षरों में 'राम सिय' लिखा है। अन्य उदाहरणों में इस सूचना के अभाव में विद्वान इस प्रकार के सिक्कों का ठीक-ठीक अर्थ ही नहीं कर सके थे (दे० चि०)।

यहाँ यह ध्यान देने योग्य है कि मुस्लिम परंपरा के अनुसार सिक्के के चित्त और धर्म वाक्य : ला इला इल इल्लाह, मुहम्मद-ए-रसूल इल्लाह, दिया जाता है। इस सिक्के में उसके स्थान पर, रामसीय उत्कीर्ण है।

इस प्रकार कला भवन के रामसीय प्रकार के सिक्के द्वारा अकबर कालीन संस्कृति और विचार धारा पर तुलसी के रामभक्ति आन्दोलन के प्रभाव का स्पष्ट संकेत मिलता है।

———

तुलसी की काव्य दृष्टि

जयकृष्ण गोदियाल, शास्त्री (तृतीयवर्ष)
प्राच्य विद्या एवं धर्म विज्ञान संकाय

जनमानस के सजग प्रहरी, भारतीय संस्कृति के मर्मज्ञ, शास्त्र-ज्ञान के निष्णात तथा भक्तहृदय महाकवि तुलसीदासजी का आविर्भाव हिन्दी साहित्य के एक ऐसे युग में हुआ था जिसमें मर्यादित स.हित्य-साधना के लिए संस्कृतवाङमय के अजस्र भंडार की अपेक्षा थी। संस्कृत-साहित्य में ही वे लक्षणग्रन्थ उपलव्ध थे जिनके आधार पर हिन्दी साहित्य का मानदण्ड निश्चित किया जा सकता था।

तब तक शब्दार्थयुगल को काव्य मानने की परिपाटी निश्चित हो चुकी थी। हिन्दी साहित्य के तत्कालीन निर्माता भी उन्हीं परम्पराओं के अनुसरण में दत्तचित्त थे। ऐसी स्थिति में महाकवि तुलसीदास भी उन परम्पराओं से अपरिचित न रह सके। प्रचलित परम्पराओं का समर्थन करते हुए उन्होंने कहा—

"गिरा अर्थ जल बीचि सम कहियत भिन्न न भिन्न" काव्य में भी अर्थ को शब्द से पृथक नहीं माना जा सकता और न शब्द को अर्थ से। इस प्रकार यह "शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्" की स्पष्ट स्वीकारोक्ति थी।

तुलसीदास जी ने अपनी काव्य-साधना के स्वरूप का मर्म-स्पर्शी चित्र मानस में इस प्रकार प्रस्तुत किया है :—

हृदय सिंधु मति सीप समाना।
स्वाति सारदा कहहिं सुजाना॥
जो बरसै बरवारिविचारू।
होंहि कवित मुकुता मनि चारू॥

इन पंक्तियों में प्रयुक्त रूपकों का सूक्ष्म विवेचन करने से गोस्वामी जी का काव्योत्पत्ति विषयक विचार सहज में ही जाना जा सकता है।

(क)

"हृदय' की तुलना 'जलधि' से की गई है। हृदय भावनाओं का मूल स्रोत है तथा सात्त्विक शक्ति का स्थायी निवास स्थान है। समुद्र में तरंगों की भाँति हृदय मे भी भावों की लहरें स्वेच्छया आलोड़ित-विलोड़ित हुआ करती हैं। काव्य जगत में हृदय भाव पक्ष का प्रतीक है। भावनाओं के इसी तरंगित समुन्द्र में बुद्धि रूपी सीप का नित्य विहार होता रहता है। भावनाओं का मति पर संस्कार भी पड़ता है तथा वह उससे प्रेरित होती रहती हैं। समुद्र अगाध जीवन का भी प्रतीक है। इस प्रकार शक्ति का स्रोत समुद्र ही है। वही धारणा एवं स्फुरण का भी केन्द्र है। सीप की उत्पत्ति, संवर्द्धन तथा परि-पालन समुद्र में ही होता है। ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार भावनाओं में बुद्धि का दोष-

मार्जन, अतिशयाधान आदि प्रतिपल हुआ करता है। जिस प्रकार सीप में ही पड़ी स्वाति की बूंद मोती पैदा करती है उसी प्रकार मति ही [जिसे प्रतिभा भी कहा जाता है] काव्यो-द्भव में प्रधान है। उसका यह नवनवोन्मेष हृदय में बीजरूप में निहित भावनाओं का ही संस्कृत रूप है। "काव्यप्रकाश" के रचयिता आचार्य मम्मट ने इसी को शक्ति कहा है। पाश्चात्त्य आलोचक भी जन्मजात कवित्वशक्ति को ही काव्योत्पत्ति का मुख्य कारण मानते हैं।

(ख)

बुद्धि का एक कार्य तर्क-वितर्क द्वारा किसी वस्तु के स्वरूप को जानना भी है। इसी को काव्य की भाषा में कला-पक्ष कहा जाता है। कलापक्ष का आधार कुछ निर्धारित मर्यादाएँ हुआ करती हैं। लक्षणग्रन्थों में वर्णित रस, अलंकार, गुण एवं दोष आदि भारतीय काव्य मर्यादा में विशेषरूप से उल्लेखनीय हैं। इन सभी का समावेश तुलसीदास जी ने अप ी काव्य परिभाषा में इस प्रकार किया है :—

वर्णानामर्थ संघानां रसानां छन्दसामपि।
मङ्गलानां च कर्त्तारौ वन्दे वाणी विनायकौ ॥

इसमें रस, छन्द आदि की परिगणना करके "कवित विवेक एक नहिं मोरे" के साथ-साथ कवित विवेक शब्द के अन्तर्गत सभी लक्षणों की चर्चा की गई है।

(ग)

तुलसीदास ने काव्य का मुख्य उद्देश्य "स्वान्तःसुख" स्वीकार किया है। अपनी व्यापकता में स्व का अर्थ है आत्मा। अतः स्व के सुख का अभिप्राय आत्मा का सुख होगा। आत्मसुख एक रूप, सार्वभौमिक तथा सार्वकालिक होता है। काव्यानन्द भी देश कालादि से बाधित नहीं होता। यही कारण है, चाहे होमर, शेक्सपियर, जायसी या कालिदास किसी की भी कृति हो सभी की साहित्यिक कृतियों में सार्वभौमिकता प्राप्त होती है।

संकीर्णार्थ में "स्व" का तात्पर्य वैयक्तिक सुख है। मनुष्य का स्वभाव है कि वह प्रकृति से ही एक दूसरे को अपने सुख-दुःख का साथी बनाना चाहता है। यह कार्य काव्य के माध्यम से ही सुगमता पूर्वक किया जा सकता है। व्यक्ति व्यापक जाति की एक इकाई है। अतः उनके निजी अनुभव भी सार्वजनीन होते हैं। हम किसी कवि की कविता को अपने जीवन की पृष्ठ-भूमि में देखना प्रारम्भ कर देते हैं। इस प्रकार भाव की व्यापकता के कारण वैयक्तिक स्वार्थ भी व्यापक हो जाता है। काव्य के उद्देश्य बताने में उसे ऐहिक आनन्द का भी साधन माना गया है। यह बुद्धिमान पुरुषों के समय यापन का भी साधन है। जैसा कहा गया है कि—

"काव्यशास्त्रविनोदेन कालो गच्छति धीमताम्"

किन्तु इसके साथ-साथ यह उपदेश देने का साधन भी माना गया है।

(घ)

भारतीय परम्पराओं में मोक्ष को परम पुरुपार्थ स्वीकार किया गया है। कतिपय आचार्यों ने "वाक्यं रसात्मकं काव्यम्" इस प्रकार काव्य की व्याख्या की है। उपनिषदों में ब्रह्म के लिए "रसोवैसे:" कहा गया है। इस प्रकार काव्य की आत्मा का भी ब्रह्म से अभेद सम्बन्ध सिद्ध होता है। उसी के चिन्तन, मनन व निदिध्यासन से परमपुरुषार्थ की प्राप्ति होती है। आचार्य मम्मट ने काव्य के प्रयोजनों का विवेचन इस प्रकार किया है—

काव्यं यशसेऽर्थकृते व्यवहारविदे शिवेतरक्षतये।
सद्यः परनिर्वृत्तये कान्तासम्मिततयोपदेशयुजे॥

गोस्वामी जी के काव्य का अवलोकन करने से अर्थकृते को छोड़कर अन्य सभी प्रयोजन दृष्टिगत हो जाते हैं।

कलापक्ष के अन्तर्गत ही काव्यमर्यादा का प्रश्न खड़ा हो जाता है तुलसीदास जी का मंगलाचरण भी इस तथ्य का परिचायक हैं। महाकाव्य के लक्षण, नायक का चयन, सभी रसों का समुचित समावेश, सभी प्रकार के अलंकारों की सम्यक् योजना आदि से इनके काव्य में कहीं भी शिथिलता नहीं आयी है। जिस युग में कविवर्ग राजामहाराजाओं की प्रशंसा में ही अपने ज्ञान की इतिश्री समझता था, उसी काल में तुलसीदास ने इस परम्परागत मान्यता का विरोध करते हुए—

कीन्हें प्राकृत जनगुन गाना।
सिर धुनि गिरा लागि पछताना॥

का उद्‌घोष किया। काव्य के माध्यम से सामाजिक कुरीतियों का निर्देश करते हुए समाज को आदर्शोन्मुख करने के सतत प्रयास का ही नाम लोक कल्याण है न कि राज्य प्रशंसा द्वारा द्रव्योपार्जन। कवि जनता का प्रतिनिधि होता है। तुलसीदास जी ने सूफी मत की प्रणयात्मिका भक्ति के अनुरूप ही रामनामात्मिका भक्ति का इतना सफल प्रयोग किया कि भारतीय संस्कृति को प्रणयात्मिका भक्ति के प्रलोभन से अपना मार्ग छोड़ने के लिए विवश नहीं होना पड़ा। इस प्रकार लोकज्ञान, विचारस्वातन्त्र्य तथा जीवन के चारों पुरुषार्थों का पूरा-पूरा समावेश इनकी काव्यसाधना में देखा जा सकता है।

(ङ)

रूपक की तीसरी कोटि में शारदा की तुलना स्वाति नक्षत्र से की गई है। इसी को वाक् या वाणी भी कहा जाता है। शब्द एवं अर्थ का तादात्म्य सम्बन्ध होता है। भर्तृहरि ने कहा है :—

अनुविद्धमिव ज्ञानं सर्वं शब्देन भासते।

पदार्थों का ज्ञान शब्दों के ही माध्यम से हृदयङ्गम होता है तथा उसी के माध्यम से विचार रूप में परिणत होकर वह दूसरों तक पहुँचता है। भाषा ही भाव का वाहन है। भावना भी हो, बुद्धि भी हो किन्तु शब्दशक्ति न हो तो वह क्रियाशून्य ही रहेगी तथा काव्य की उत्पत्ति सम्भव नहीं होगी। विचाररूपी जल शब्दरूपी स्वातिनक्षत्र के माध्यम से ही

काव्यरूपी मोती उत्पन्न करता है। अतः आचार्य मम्मट द्वारा दिये गये काव्य कारणों का समावेश तुलसीदास जी की कविता की परिभाषा में हो जाता है। जैसे हृदयसिंधु में शक्ति का, शारदा में लोक शास्त्र आदि के अवेक्षण से निष्पन्न निपुणता अर्थात् ज्ञान का तथा इसी में काव्यज्ञों से काव्यनिर्माण की शिक्षा तथा उसके अनुसार शिक्षा अभ्यास का भी समावेश हो जाता है। ये सभी मिलकर एक कारण बनते हैं, क्योंकि ये सभी एक दूसरे पर आश्रित हैं। इसके अतिरिक्त वर्डस्वर्थ की प्रकृतिगत चेतना शैली का शाश्वत विरह तथा ब्राउनिंग का दार्शनिक रहस्यवाद भी इनकी काव्य-दृष्टि में परिलक्षित होता है।

(च)

"जो बरसै बर बारि विचारू" में वारि जीवन का प्रतीक है। जीवन शुद्ध विचारों से ही मंगलमय बनता है। जीवन के दुःखात्मक अनुभवों से उद्भूत विचार जब शुद्ध सात्त्विक रूप धारण करके लोक कल्याण के लिए प्रकट होते हैं तो उसका कालुष्य समाप्त हो जाता है और उसमें माधुर्य गुण का संचार हो जाता है। कवि की तुलना इस दृष्टिकोण से मेघ से की जा सकती है। जो समुद्र का खारा जल ग्रहण करके अपने स्वरूप का निर्माण करता है और सम्पूर्ण विश्व के लिए उसे आस्वाद्य बनाकर मुक्तहस्त लुटाता है। इसीलिए कवि को परिभू, मनीषी, तथा स्वयंभू कहना यथार्थ प्रतीत होता है।

(छ)

अन्तिम रूपक में मुक्तामणि से काव्य की समानता की गई है। मुक्ता स्वच्छ, बहुमूल्य पदार्थ है जो सौन्दर्य से ओतप्रोत है। वह उज्ज्वलता का प्रतीक है और ऐसी उज्ज्वलता जिसमें भीतर से बाहर तक समानता रहती है और जिसे महौषधि भी माना जाता है। शीतलता उसका महत्तम गुण है। संतप्त को शान्त, कलुषित को उज्ज्वल बनाने का कार्य जिससे हो वह काव्य अवश्य ही मुक्तामणि होगा और उसे अवश्य ही सत्य, शिव तथा सुन्दर माना जाएगा। उक्त रूपक के द्वारा तुलसीदास जी काव्य के इसी उज्ज्वल पक्ष की ओर संकेत कर रहे हैं।

इस प्रकार तुलसीदास जी की इस छोटी सी चौपाई में काव्य की परिभाषा, विषय-सामग्री और प्रयोजन का समुचित रूप से समावेश है। इनकी विलक्षण काव्यदृष्टि को देखकर ही श्री मधुसूदन सरस्वती ने कहा :—

आनन्दकानने ह्यस्मिन् जङ्गमस्तुलसी तरुः।
कवितामञ्जरी भाति रामभ्रमर भूषिता॥

———

"तुलसी के काव्य में ओत-प्रोत उनके व्यक्तित्व की झांकी"

डा० राजपति दीक्षित
एम० ए०, एल-एल० बी, डी० लिट्० (रीडर, हिन्दी विभाग)

कवि जब अपने रमणीक काव्योद्यान का आरोपण कर उसे संसार को समर्पित कर स्वयं इस धराधाम को छोड़कर चला जाता है, उस समय हमारी दृष्टि उसकी साहित्यिक और मनोवैज्ञानिक जीवनी में ही रमती है। हम उसकी भौतिक जीवनी के परिज्ञान का संकल्प भी नहीं करते। कवि की कृतियों में ओत-प्रोत उसकी जीवनी ही चिरंतन होती है। इसके विश्लेषण मात्र से हम कवि के व्यक्तित्व, उसके आदर्श, सुतरां उसके पूर्ण चरित्र का साक्षात्कार करते हैं। महान् साधु कवि-जन अपनी भौतिक जीवनी का परिचय देना हेय समझ कर भले ही गुप्त रखें और उसमें सफल भी हों, पर साहित्यिक और मनोवैज्ञानिक जीवनी तो छिपाने की इच्छा रखने पर भी नहीं छिपती। कवि की कृति उसके हृदय का प्रतिबिंब है। इसमें उसकी स्वभावगत विशेषताएं, उसके चारित्र्य के नमूने आदि भी प्रच्छन्न रूप से समाविष्ट रहते हैं। उन्हें ढूंढ़ना विवेक का कार्य है।

साहित्य-निर्माण में कवि का जो जीवनांश समर्पित होता है उसे हम उसकी साहित्यिक जीवनी कह सकते हैं। कवि तुलसीदास की काव्य-प्रतिभा की ज्योति प्रस्फुटित कराने वाला वातावरण बड़ा ही मनोरम और मनोनुकूल था। बाल्यकाल में ही सौभाग्यवश उसने इष्ट वातावरण को पा लिया था। यद्यपि अंधे संसार ने उसे बाल्यकाल में अनाथ होने पर भीख मांगने का ही रास्ता दिखाया था, पर उसके भाग्य ने उसे ऐसे गुरु का द्वार दिखाया जहां उसकी काव्य-प्रतिभा के बीज को उगने और विकसित होने का यथेष्ट सुअवसर मिला। गुरु ने अपने अमित वात्सल्य के प्रभाव से बालक के हृदय को विशाल कोमलता का थाला बना दिया। स्वाभाविक बात है कि जिस बालक को नित्य ही पेट भरने के लिये झिझकार और फटकार सुननी पड़ती हो उसे यदि कोई जरा-सा भी प्रेम दिखाते हुए टुकड़े दे तो वह दाता के प्रति नैसर्गिक कृतज्ञता से गद्गद् हो उठेगा। भले ही बार-बार ठुकराए जाने से उसकी कोमलता की भावना दबी पड़ी हो, किन्तु उस दयालु सहृदय दाता के प्रति वह उसी क्षण अवश्य कोमल कल्पना करेगा। ऐसी ही बात बालक तुलसी के साथ हुई। गुरु का सान्निध्य और वात्सल्य प्राप्त कर इनके बाल्यकाल के माता-पिता के प्रति अचरितार्थ अतएव सुप्त प्रेम-भाव सजग हो उठे और बालक ने गुरु को ही अपना अनन्य आश्रय पाया। दूरदर्शी गुरु ने बालक की लगन और उसमें प्रतिभा का अंकुर देखकर उसका संस्कार ही कुछ ऐसे ढंग से किया कि वह आगे चलकर अपनी प्रतिभा की पराकाष्ठा का प्रदर्शन कर सका। इस कार्य के लिये शास्त्रों में पारंगत करना आवश्यक था। अतः गुरु ने शिक्षा तो दी ही साथ ही भगवान् के विशेष स्वरूप राम की कथा का प्रबल संस्कार भी बाल्यकाल में ही इनके हृदय-पटल पर अंकित कर दिया। इस प्रकार तुलसीदास की साहित्यिक जीवनी का प्रादुर्भाव गुरु के पास से ही राम-कथा को लेकर होता है और अन्ततः यही राम-

कथा उनकी साहित्यिक कृति बनी रहती है। इसी रामकथा के प्रति अनन्य प्रेम तथा उसकी अनूठी अभिव्यंजना शैली जो उनकी साहित्यिक जीवनी की आधारशिला है, उसे कौन भूल सकेगा? प्रसिद्ध अंग्रेज समीक्षक वाल्टर रैले ने अपने ग्रन्थ 'मिल्टन' में महाकवि मिल्टन के सम्बन्ध में कहा है—मिल्टन अपने गद्य तथा पद्य दोनों में अपने जीवन भर वही बाल्यकाल का ग्रामीण चरवाहा (Uncouth Swain) बना रहा। ठीक इसी प्रकार तुलसीदास की साहित्यिक जीवनी के आधार पर कहा जा सकता है कि वे भी आजन्म एकमात्र वही राम-गुण-गायक बने रहे जो बाल्यकाल में थे। इस राम-गुण-गान को सार्वोत्कृष्ट रूप में अभिव्यक्त करने के लिये उन्हें संस्कृत-साहित्य का गंभीर अध्ययन करना पड़ा जैसा कि 'मानस' से स्वयं सिद्ध है। तुलसीदास की साहित्यिक जीवनी उनके मेधावी होने के साथ उनके अगाध पांडित्य का भी संकेत करती है। वह यह भी स्पष्टतया लक्षित करती है कि उनकी प्रतिभा का विकास रामकथा के घेरे में ही उत्तरोत्तर होता रहा। 'राम लला नहछू, बैराग्य संदीपिनी, 'रामाज्ञाप्रश्न' आदि रचनाएं उनकी प्रतिभा के प्रभात काल की सूचना देती हैं। इसके अनन्तर वही प्रभात 'मानस' के रचना-काल तक पूर्ण उत्कर्ष को प्राप्त कर ज्योतिमान् हो उठा। प्रतिभा-विकास के साथ ही उनके व्यावहारिक अनुभव का विकास भी उनकी साहित्यिक जीवनी से प्रतिपादित होता है। उनके जीवन का वह व्यावहारिक ज्ञान, उनकी समय की गति को पहचानने की अद्भुत क्षमता, उनका वह कला-प्रदर्शन का पांडित्य जो 'मानस, 'गीतावली', 'दोहावली,' 'विनयपत्रिका' में अवगत होता है वह अविकसित काल की रचनाओं में नहीं है। उनकी साहित्यिक जीवनी से यह भी प्रकट होता है कि यह महात्मा अपने काल के प्रभाव से स्वयं विमूढ़ नहीं हुआ, किन्तु उसने अपनी सामयिक विषमताओं के उच्छेद का साधन भी मधुर रामकथा को ही समझा।

रामकथा के भीतर हम तुलसी की जिन चारित्रिक विशेषताओं के दर्शन करते हैं वे प्रकाशनीय हैं। यद्यपि महाकवि अपनी व्यापक अनुभूति और प्रतिभा के सहारे सद्-असद्, दिव्य-अदिव्य, लौकिक-अलौकिक सभी प्रकार की बातें दिखाता है, पर इन सब के आधार पर उसकी व्यक्तिगत चारित्रिक विशेषताओं को बताना आसान नहीं। फिर भी, इतना तो सर्वमान्य है कि कलाकार जिन पात्रों के चित्रण में सर्वोच्च समानुभूति प्रकट करता है उनके चरित्र में उसका (कलाकार का) व्यक्तित्व भी प्रतिबिंबित हो उठता है। इस दृष्टि को लेकर हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि तुलसीदास की अनन्य समानुभूति राम के प्रति है। अतः उनकी चारित्रिक विशेषताएं राम की विशेषताओं के प्रकाश में अधिकांश में ढूंढ़ी जा सकती हैं। यही नहीं, राम के भक्तों के चरित्र के साथ भी तुलसी के व्यक्तित्व का तादात्म्य है। कहीं-कहीं कवि के स्वतंत्र विचारों से भी उनकी कोई न कोई चारित्रिक विशेषता झलकती है।

गोस्वामी जी के चरित्र की सर्वोपरि विशेषता है, उनकी रामोपासना। इससे बढ़कर वे किसी अन्य देव की उपासना नहीं मानते। उन्हें सर्वकाल में अपनी रामोपासना पर गर्व रहा। देखिए—

"राम रावरो कहावों गुन गावों राम रावरोई,
रोटी द्वै हौं पावों राम रावरी ही कानि हौं।
जानत जहान, मन मेरे हूँ गुमान बड़ो,
मान्यो मैं न दूसरों, न मानत, न मानिहौं॥

(कवितावली० उ० ६३)

'मानस' में भक्त-शिरोमणि शिव, शेष, नारद, शारद, ऋषि, मुनि, देव, ऊँच, नीच सभी ने एक स्वर में रामोपासना को सर्वश्रेष्ठ मानते हुए राम के चरणों में अनुराग ही चाहा है। इससे स्पष्ट है कि गोस्वामी जी की व्यक्तिगत रामोपासना की प्रवृत्ति का ही रंग सव पर चढ़ा है। वे सारे संसार को रामोपासना का आश्रय ग्रहण कराना चाहते हैं। 'मानस' और 'विनयपत्रिका' के प्रत्येक पद उनकी इस कामना को प्रकट करते हैं।

'कवितावली' के उत्तरकाण्ड के अनेक कवित्त और सवैया छन्दों में भी डंके की चोट पर रामोपासना की सर्वश्रेष्ठता बताई गई है। राम-प्रेम में डूबे हुए भक्तों की भूरि-भूरि प्रशंसा की गई है तथा रामप्रेम से पराङ मुख लोगों की भयंकर कुत्सा करने के उपरांत कहा गया है—

जरि जाउ सो जीवन, जानकी नाथ! जिये जग में तुम्हरो बिन ह्वै॥"

(कविता० उ० ४०)

लोक अपने हितैषी तुलसीदास के कथनानुसार राम-प्रेम को ही सार माने, न माने यह उस पर निर्भर करता है, पर मनस्वी तुलसीदास के मत से संसार में जीवन धारण करने का यही फल है। देखिये—

"सिंय राम-सरूप अगाध अनूप विलोचन-मीनन को जलु है।
श्रुति राम-कथा, मुख राम को नाम, हिये पुनि रामहिं को थलु है॥
मति रामहि सों, गति रामहि सों, रति राम सों, रामहिं को बलु है॥
सब की न कहै, 'तुलसी' के मते इतनो जग जीवन को फलु है॥"

कविता० उ० छ० ३७

तुलसीदास के चरित्र का, उनके व्यक्तित्व का सबसे प्रवल पक्ष यही है। इससे बढ़कर उनकी निगाहों में और कुछ था ही नहीं। इसीलिये वे किसी के सामने हाथ फैलाने वाले महात्मा नहीं थे। यों तो वे भलीभांति जानते थे कि "नहिं दरिद्र सम दुख जग माहीं।" फिर भी उनकी दृढ़ता थी कि संसार में किसी से कुछ माँगना नहीं चाहिये। यदि माँगना ही है तो भगवान् से मन ही में मांगो, जिससे जगत को जलाने वाली (दरिद्रता, कामना) स्वयं जल जाये। देखिये—

"जग जाचिअ कोउ न, जाचिअ जौं, जिय जाचिअ जानकी नाथहि रे।
जेहि जाचत जाचकता जरि जाइ, जो जारत जोर जहान हि रे॥"

कविता० उ० छन्द २८

तुलसीदास की दृष्टि में राजाओं के यहां जाकर उन्हें प्रसन्न करके धन-दौलत, मान-बड़ाई की प्राप्ति करना निंदनीय था, इसीलिये उन्होंने दो टूक कहा है—

"जाचै को नरेस, देस-देस को कलेस करै,
देहैं तौ प्रसन्न ह्वै बड़ी बड़ाई बौड़िए।
कृपा-पाथ-नाथ लोकनाथ-नाथ सीता नाथ,
तजि रघुनाथ हाथ और काहि ओड़िए॥"

कविता० उ० छन्द २५

लोक-वेद की मर्यादा के प्रति अनन्य आस्था और विश्व-कल्याण की कामना तुलसीदास के चरित्र की अन्य विशेषताएं हैं। जब उनके उपास्य ही इस लक्ष्य की सिद्धि के लिये अवतीर्ण होते हैं तो इनका व्यक्तिगत चरित्र इन गुणों से क्यों न भूषित होता। राम का प्रण है—

"धरम के सेतु जग-मंगल के हेतु भूमि—
भार हरिबो कों अवतार लियो नर को।
नीति औ प्रतीति-प्रीति-पाल चालि प्रभु मान,
लोक-बेद राखिबे को पन रघुबर को॥

कविता उ० ११२

ऐसे 'रघुबर' के अनन्य सेवक के लिये यह स्वाभाविक ही था कि वह लोक मंगलकर्त्ता होते हुए वेद, पुराण, शास्त्रादि की मर्यादा का रक्षक बने, साथ ही अपने नीति-नैपुण्य की, प्रेम और विश्वास की स्पृहणीय ज्योति भी फैलाए। तुलसीदास के चरित्र में ये गुण विद्यमान थे। इसीसे उनकी कृतियां इन विशिष्ट गुणों से अनुप्राणित हैं।

निराकुलता, सहिष्णुता और तितिक्षा तुलसीदास की अन्य स्वभावगत विशेषताएं थीं। काशी में उनके समक्ष जो विरोध उपस्थित हुए उनके बीच अडिग और शांत रहना क्या है? यह उनकी सहिष्णुता ही थी कि उक्त संघर्ष उन्हें अपने पथ से रंचमात्र भी विचलित न कर सके। अपने विषय में नाना प्रकार के प्रवाद सुनकर भी इस सहिष्णु महात्मा का चित्त क्षुब्ध न हुआ।

"चहत न काहू सों, न कहत काहू कि कछु,
सब की सहत उर अन्तर न ऊब है।"

इनमें जहां एक ओर सहिष्णुता थी वहीं दूसरी ओर उनका आत्म-सम्मान भी उच्च-कोटि का था। संसार में जन्म ग्रहण करने के नाते वे आत्म-सम्मान की उदात्त प्रवृत्ति को सजग रखने वाले थे। तभी तों उन्होंने यों भी कहा है—

"धूत कहौ, अवधूत कहौ, रजपूत कहौ, जोलहा कहौ कोऊ।
काहू की बेटी से बेटा न व्याहब, काहू की जाति बिगार न सोऊं॥"

कविता० उ० १०६

अवतरण में 'काहू की बेटी से बेटा न व्याहब' चिढ़ नहीं आत्म सम्मान की व्यंजना कर रहा है। इसी प्रकार की व्यंजना निम्नांकित उद्धरणों में भी देखी जा सकती है—

"मेरे जाति-पांति, न चहौं काहू की जाति पांति,
मेरे कोऊ काम को, न हौं काहू के काम को।
अति ही अयाने उपखानो नहीं बूझें लोग,
साह ही को गोत गोत होत हैं गुलाम को।।"

कविता० उ० १०७

'जननी-जन्मभूमिश्च स्वर्गादपि गरीयसी' की भावना से भी तुलसीदास का हृदय भरा था। यद्यपि वे सारे संसार को बंधुत्व की दृष्टि से देखने वाले थे फिर भी अपने देश भारतवर्ष की महिमा और गरिमा पर उन्हें गर्व था।[1] तुलसीदास की भारतीयता पर मुग्ध हो आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने बहुत ठीक कहा है—आज जो हम बहुत से 'भारतीय हृदयों' को चीर कर देखते हैं, तो वे अभारतीय निकलते हैं। पर इसी कवि-केसरी को भारतीय सभ्यता, भारतीय रीति-नीति की रक्षा के लिए सबके हृदय-द्वार पर अड़ा देख हम निराश होने से बच जाते हैं।[2]

निर्भीकता और स्पष्टवादिता भी तुलसीदास की प्रकृति की सहज विशेषताएँ थीं। बड़े से बड़ा व्यक्ति उन्हें भयभीत नहीं कर सकता था। राम की शरण में जाकर वे पूर्ण-तया अभयदान पा चुके थे। उनका ध्रुव विश्वास था कि राम जिसकी रक्षा स्वयं करते हैं उसे कोई नहीं मार सकता। सामान्य मनुष्यों से कौन कहे, वे काल से भी न डरने की प्रतिज्ञा करते हैं—

"तुलसी यह जानि हिये, अपने सपने नहिं कालहुँते डरिहैं।
कुमया कछु हानि न औरन की जो पै जानकीनाथ दया करिहैं।।

(कविता० उ० ४७)

... ...

"कौन की त्रास करै तुलसी जो पै राखिहैं राम तो मारिहैं को रे?

(कविता० उ० ४८)

गोस्वामी जी बड़े-बड़े लक्ष्मी के लालों, सामंतों, राजा-महाराजाओं की कृपा कटाक्ष अथवा उनके मुँह मोड़ने की तनिक भी परवाह नहीं करते थे। क्योंकि—

"जग में गति जाहि जगत्पति की, परवाह है ताहि कहा नरकी।।"

(कविता० उ० २७)

"कृपा जिनकी कछु काज नहीं, न अकाज कछू जिनके मुंह मोरे।
करैं तिनकी परवाहि ते जो बिन पूंछ विषान फिरैं दिन दौरे।।
'तुलसी' जेहि के रघुनाथ-से नाथ, समर्थ सु सेवत रीझत थोरे।
कहा भव-भीर परी तोहि धौं, बिचरै धरनी तिन सों तिन तोरे।।"

(कविता० उ० ४९)

---

[1] देखिये 'कवितावली' उ० छन्द ३३ तथा 'विनयपत्रिका' पद १३५ (१)
[2] ,, 'गोस्वामी तुलसीदास' पृ० ४१।

रावण सदृश मंडलीक-मणि की राज-सभा में जहाँ बड़े-बड़े देवगण भी हाथ जोड़े मुँह ताका करते थे वहाँ अंगद के वाद-विवाद द्वारा रावण का जो अपमान कराया गया है, उससे भी तुलसी की निर्भीक और स्पष्टवादी प्रकृति का आभास मिलता है। उनकी स्पष्टवादिता का एक ज्वलंत उदाहरण यह भी है –

"तुलसी जु पै गुमान को होतो कछू उपाउ।
तौ कि जानकिहि जानि जिय, परिहरतेउ रघुराउ॥"

(दोहावली दो० ४९३)

समस्त शुभ गुणों के आकर अपने इष्ट देव में भी जरा-सी कमजोरी देखकर उसे कह डालना स्पष्टवादिता नहीं तो क्या है ?

विभीषण और सुग्रीव राम के पक्के भक्त हैं। इस नाते तुलसीदास उनमें बड़ी आस्था रखते थे। भक्तों की श्रेणी में दोनों की महिमा को बार-बार गाया है, पर उन दोनों का विशेष कृत्य इनकी दृष्टि में घृणास्पद था, इसका संकेत भी इन्होंने अपनी स्पष्टवादिता के कारण कर दिया है। देखिए –

"महाबली बालि दलि, कायर सुकंठ कपि,
सखा किये महाराज हौं न काहू काम को।
भ्रातघात-पातकी निसाचर सरन आये,
कियो नाथ अंगीकार एते बड़े बाम को॥" कविता० उ० १४

कहना नहीं होगा कि अवतरण में रेखांकित पदों का प्रयोग कवि की स्पष्टवादिता के कारण ही हुआ है। अपनी इसी प्र ति के कारण उसने राम में भी एक आक्षेप योग्य स्थान देख लिया था—

"बंधु-बधू-रत कहि कियो बचन निरुत्तर बालि।
तुलसी प्रभु सुग्रीव की चितइ न कछू कुचालि॥"

दोहावली दो० १५७

उपर्युक्त दोहा यद्यपि प्रभु की प्रशंसा में ही कहा गया है, पर इससे ऐसा भी प्रतिभासित होता है कि तुलसी ने आत्मीयता और पक्षपात के फेर में पड़ गये राम के चरित में आक्षेप-योग्य स्थान देख लिया था।

गोस्वामी जी बड़े उदार और गुणग्राही थे। सद्गुण चाहे शत्रु में ही क्यों न हो उसके लिये यथेष्ट सम्मान तथा शिष्ट जनोचित उदारता उनके हृदय में वर्तमान थी। उन्होंने प्रबल शत्रु, असुर रावण में भी जो महत्ता देखी उसकी प्रशंसा करने में वे तनिक भी न हिचके—

"बीस बाहु दस सीस दलि, खंड खंड तनु कीन्ह।
सुभट सिरोमनि लंकपति, पाछे पाँव न दीन्ह॥"

रामाज्ञा प्रश्न : पंचम सर्ग दो० ४७

रण में पीछे पैर नहीं रखना ही वीरशिरोमणि का मुख्य धर्म है, उसकी महान् कीर्ति है। रावण ने अंततः पीठ नहीं दिखाई। यही कारण है कि जो तुलसीदास उसकी निशाचरी

वृत्तियों के लिये उसे घोर विगर्हणा का पात्र समझते थे वही एक गुण के नाते उसकी प्रशंसा भी करते हैं।

गोस्वामी जी की अन्य-चरित्रगत विशेषताओं में उनकी प्रशांत प्रकृति, निरभिमानता और हृदय की प्रगाढ़ कोमलता भी उल्लेखनीय हैं। 'विनयपत्रिका' में एक से एक बढ़कर ऐसे पद हैं जो उनकी इन विशेषताओं को परिलक्षित करते हैं। 'मानस' में प्राय: सभी भक्त पात्रों की प्रकृति मानों इन्हीं तीनों विशेषताओं में ढली है। इसे तुलसी के व्यक्तित्व का ही प्रतिफल या प्रतिरूप समझना चाहिये।

तुलसीदास में लोक-हित की भावना भी बड़ी प्रबल थी। इसीलिये उन्होंने परहित-निरत सज्जन एवं संतों की सुकीर्ति से भी अपने काव्य को मंडित किया है, सद्गुण और सदाचार की पूर्ण प्रतिष्ठा की है। उन्हें मानव-जीवन की सार्थकता परोपकार में ही दिखाई पड़ी और उन्होंने परोपकार को 'श्रुति-सार' बताते हुये आचरणीय ठहराया है—

'लाभु कहा मानुष तनु पाएँ।
काय, वचन. मन सपनेहु कबहुंक घटत न काज पराएँ॥'

(विनय० पद २०१)

... ...

'काजु कहा नर तनु धरि सार्यो ?
पर-उपकार सारश्रुति को सो तो धोखेहुँ में न बिचार्यो॥

(विनय० पद २०२)

संसार से तटस्थ रहने वाले बड़े-बड़े साधु महात्माओं में से अधिकांश गंभीर और उदासीन प्रकृति के दिखाई पड़ते हैं। गोस्वामी जी संसार से निर्लिप्त रह कर पूर्ण गंभीर तथा उदासीन होते हुए भी अपने सरल हृदय के कारण हास-परिहास का भी मूल्य समझते थे। उनकी विनोदशील प्रकृति उनकी रचनाओं में कहीं-कहीं अपना नाज दिखाती हुई नजर आती है। उनकी हास्य-प्रिय मनोवृत्ति के व्यंजक छन्द ऐसे हैं कि वे पाठक के हृदय में मधुर एवं सुखद गुदगुदी पैदा करने की क्षमता रखते हैं। ऐसी गुदगुदी से पाठक का हृदय मुस्करा उठता है, स्मित-हास्य उसके अधारों पर चमक कर अन्तर्भूत हो जाता है। अशिष्ट अट्टहास करने का अवसर नहीं आता। कवि अपने उपास्य की श्यामलता की कैसी चुटकी ले रहा है, यह देखिये—

"गरब करहु रघुनंदन जनि मन मांह।
देखहु आपनि मूरति सिय की छांह॥" (बरवै राम० बाल० १७)

शंकर जी के गरल-पान की आदत पर यह छींटा भी द्रष्टव्य है—

"कैसे कहै 'तुलसी' वृषासुर के बरदानि,
बानि जानि सुधा तजि पियन जहर की।"

ऋषि-मुनियों के प्रति प्रगाढ़ श्रद्धा रखते हुए भी उनके साथ मधुर परिहास करने में भी तुलसीदास जी नहीं चुके—

"विंध्य के बासी उदासी तपोव्रतधारी महा बिनु नारि दुखारे ।
गौतम तीय तरी 'तुलसी' सो कथा सुनि भे मुनि-बृंद सुखारे ।।
ह्वै हैं सिला सब चंद्रमुखी परसे पद मंजुल कंज तिहारे ।
कीन्ही भली, रघुनायक जू करुना करि कानन को पगु धारे ।।

'मानस' में यत्र-तत्र कुछ देवों की कुतूहलपूर्ण सूरत को व्यंग्य का लक्ष्य कर के भी कवि ने अपनी विनोदशील प्रकृति का परिचय दिया है। अहल्या जब अपने उद्धार के पश्चात् पति के साथ जाने लगती है तो विनोदी तुलसीदास उसे गौने की दुलहिन बना देते हैं—

"गौतम सिधारे गृह गौनो सों लिबाइ कै ।"

तुलसीदास 'सादा जीवन उच्च विचार वाले महापुरुष थे, महाकवि और अनन्य भक्त तो थे ही। उनके व्यवहार और प्रेम सभी सीधे-सादे थे, उन्हें बड़ा ही निश्छल, सरल, स्वच्छ और विशाल हृदय प्राप्त था, 'सीय-राम मय सब जग जानी' की अनुभूति करने वाले इस महात्मा के हृदय में सबके प्रति प्रेम भरा था। अतः वह सब का सम्मान करता था। उसने स्वयं स्वीकार किया है—

"राम के गुलामनि की रीति प्रीति सूधी सब,
सब सों सनेह सबही की सनमानिए ।" (कविता० उ० १६८)

'जो बोओगे वही काटोगे' के अनुसार लोक हितैषी, परम तेजस्वी, सबका सम्मान करने वाला, मर्यादावादी, उदार-चरित एवं उदारचेता संत कैसे उपेक्षित रह सकता था। अस्तु, अपने महान् व्यक्तित्व के कारण भी तुलसीदास सबकी निगाहों में आदर के पात्र हुए, इसपर दो मत नहीं। तुलसीदास जैसे महा-मानव का व्यक्तित्व मनुष्य मात्र के लिये प्रेरणा का स्रोत सदैव बना रहेगा।

———

'रामजन्म के हेतु'

डा० राम मोहन पाण्डेय

गोस्वामी तुलसीदास ने 'रामचरित मानस' की कथा परम्परा का उल्लेख करते हुए जो यह घोषणा की—

कीन्हि प्रस्न जेहि भांति भवानी। जेहि विधि संकर कहा बखानी ॥[१]
सो सब हेतु कहब मैं गाई। कथा प्रबन्ध विचित्र बनाई ॥

उसकी व्याप्ति चाहे जहां तक समझी जाये परन्तु उससे इतना तो स्पष्ट ही हो जाता है कि इस मानस में शिव-पार्वती सम्वाद ही प्रमुख है और 'सो सब हेतु' में भी कुछ विचित्रता का विधान किया गया है। इसी शिव-पार्वती सम्वाद में लोक का संशय पार्वती के संशय का रूप धारण कर 'अजहूँ कछु संसउ मन मोरे'[२] के रूप में व्यक्त होता है, तो शिव को भी डटकर राम के स्वरूप का निरूपण करना पड़ता है। फलतः पार्वती का संशय मिट जाता और राम स्वरूप का बोध उन्हें हो जाता है। किन्तु इतने से ही उन्हें संतोष कहा? वे तो 'सकल लोक हितकारी'[३] कथा को सुनने का संकल्प करके बैठी हैं और अपने पूर्वकथित अनुरोध 'प्रथम सो कारन कहहु विचारी। निर्गुन ब्रह्म सगुन वपुधारी'[४] को ही दूसरे रूप में दोहराती हैं—

राम ब्रह्म चिनमय अबिनासी। सर्वरहित सब उर पुर बासी ॥[५]
नाथ धरेउ नर तनु केहि हेतू। मोहि समुझाइ कहहु वृषकेतू ॥

पार्वती की राम-कथा पर प्रीति देखकर शिव हर्ष से पुलकित हो उठते और झट कथा सुनाना प्रारम्भ कर देते हैं। वे पार्वती के निर्देश किये हुए क्रम से ही कथा कहते है, अतः सर्वप्रथम रामजन्म के कारण बतलाते हैं। उन्हें सुनकर और सभी की संगति एक साथ बैठते न देखकर हम उलझन में पड़ जाते हैं और यह निर्धारित नहीं कर पाते कि प्रस्तुत रामजन्म का कारण क्या है। इस उलझन को स्पष्ट करने के लिए संक्षेप में इन हेतुओं का उल्लेख करना ठीक होगा।

एक कल्प के अवतार का हेतु यह है कि हरि के दो प्रिय द्वारपाल जय और विजय विप्रशाप के कारण राक्षस योनि को प्राप्त होकर एक जन्म में रावण और कुम्भकर्ण हुए।[६] उनके हित के लिए भगवान ने जो अवतार लिया उसमें कश्यप और अदिति अपनी तपस्या और बरदान के फलस्वरूप दशरथ और कौशल्या के रूप में थे।[७]

---

[१] रा० मा० बा० दो० ३२-१, २
[२] रा० मा० बा० १०८-५
[३] रा० मा० बा० १०६-६
[४] रा० मा० बा० १०९-४
[५] रा० मा० बा० ११९-६, ७
[६] रा० मा० बा० १२१-४ से १२२-३
[७] रा० मा० बा० १२२-३

एक कल्प में भगवान का अवतार जलन्धर की स्त्री वृन्दा का शाप प्रमाणित करने के लिए हुआ। वहां जलन्धर ही रावण हुआ।[१] अन्य कल्प में नारद शाप जन्म का कारण हुआ।[२] उसमें नारद द्वारा शापित रुद्रगण ही रावण और कुम्भकर्ण हुए।[3]

इस प्रकार इन तीन कारणों का उल्लेख करते हुए शिव जी 'कलप'[४] का नाम लेते हैं किन्तु जब आगे के दो अवतारों का वर्णन करते हैं तो 'अपर' हेतु[५] का प्रयोग करते हैं। हां, तो दूसरा कारण है मनु और शतरुपा की तपस्या और भक्ति। शिव इसमें यह विशेषता बताते हैं कि इसके फलस्वरूप जो राम का अवतार हुआ वह वही था जिसे देखकर सती को मोह हुआ और इस समय शिव जो कथा कह रहे है यह उसी चरित की है। तात्पर्य यह कि 'राम-चरितमानस' के रामजन्म का यही हेतु है और इस अवतार के दशरथ और कौशल्या पूर्वजन्म के मनु और शतरुपा हैं।

यहां तक जो कुछ कहा जाता है उसमें कोई असंगति नहीं दिखाई देती। इससे तो यही जान पड़ता है कि पहिले के तीन कारण किन्हीं तीन कल्पों से सम्बन्ध रखते हैं और प्रस्तुत रामचरित का कारण यह 'अपर हेतु' है। परन्तु इसके आगे ही इसी प्रकार 'अपर हेतु' का प्रयोग करते हुए भरद्वाज से यागवल्क्य कहते हैं:

'भरद्वाज सुनि अपर पुनि राम जनम कर हेतु।[६] अर्थात् फिर दूसरा कारण सुनो' और विस्तार पूर्वक जो कारण बतलाते हैं वह यह है कि राजा प्रतापभानु लोभ के कारण और विप्र-क्रोध के पात्र बने। उसके फलस्वरूप अगले जन्म में वह रावण के रूप में उत्पन्न हुए। उनके भाई कुम्भकर्ण हुए और मंत्री विभीषण। समस्त परिजन अन्य राक्षसों के रूप में उत्पन्न हुए। इन समस्त हिंसकों से त्रस्त हो ब्रह्मा के नेतृत्व में पृथ्वी, सुर, सिद्ध, मुनि सब भगवान की शरण में गए। ब्रह्मा की स्तुति से द्रवीभूत होकर भगवान ने नभ-बाणी के रूप में आश्वासन दिया—

"जनि डरपहु मुनि सिद्ध सुरेसा। तुम्हहिं लागि धरिहउ नर बेसा॥[७]
अंसन्ह सहित मनुज अवतारा। लेहउँ दिनकर बंस उदारा॥
कस्यप अदिति महा तप कीन्हा। तिन्ह कहुं मै पूरब बर दीन्हा॥
ते दसरथ कौसल्या रुपा। कोसलपुरी प्रगट नर भूपा॥
तिन्हके गृह अवतरिहेउ जाई। रघुकुलतिलक सो चारिउ भाई॥
नारद बचन सत्य सब करिहउँ। परम सक्ति समेत अवतरिहेउ॥
हरिहेउ सकल भूमि गरुआई। निर्भय होउ देव समुदाई॥"

इसके उपरान्त देवतागण पृथ्वी पर वानरों का रूप धारण कर राम जन्म की प्रतीक्षा में रहने लगे और कालान्तर में भगवान राम का अयोध्या में जन्म हुआ। इस प्रकार यह

[१] रा० मा० बा० १२३-२, ३
[२] रा० मा० बा० १२३-५।
[३] रा० मा० बा० १३८-५ से ७।
[४] रा० मा० बा० १२२-४ ५ दो० १२३-५
[५] मा० रा० बा० १४०-१
[६] रा० मा० बा० दो० १५२
[७] रा० मा० बा० १८६-१ से ७।

स्पष्ट हो गया कि प्रस्तुत राम-जन्म का एक हेतु यह भी है। साथ ही इस गगनगिरा में नारद शाप और कश्यप-अदिति के वरदान का स्पष्ट उल्लेख हो जाता है। केवल जलंधर के प्रसंग का उल्लेख यहाँ नहीं होता। फिर भी प्रस्तुत रामचरित के कारणों में उसकी भी गणना की गई है। इन पाँचों हेतुओं को प्रस्तुत राम-जन्म का कारण मानने में कठिनाई यह होती है कि एक की दूसरे से संगति नहीं बैठती। इनमें यदि अन्य तीन कारणों को छोड़ केवल मनु शतरुपा और प्रतापभानु के प्रसंग को ही लेते हैं तो भी दोनों में विरोध दिखाई देता है; क्योंकि प्रतापभानु वाले प्रसंग में भी आगे यह बताया जाता है कि दशरथ और कौशल्या कश्यप और अदिति ही हैं।[1] दूसरे, उसमें नारद शाप का उल्लेख भी होता है।[2] किन्तु नारद शाप को प्रमाणित करने के लिए जो जन्म हुआ उसमें रुद्रगण ही रावण और कुंभकर्ण थे। इस प्रकार इन चारों की संगति नहीं बैठती। इनमें यदि तीन कारणों को छोड़ केवल मनु-शतरुपा और प्रतापभानु के प्रसंग को ही लेते हैं तो भी दोनों में विरोध दिखाई देता है, क्योंकि प्रतापभानु वाले प्रसंग में भी यह बताया जाता है कि दशरथ और कौशल्या कश्यप और अदिति ही हैं। दूसरे, इसमें नारद शाप का उल्लेख भी होता है किन्तु नारद शाप को प्रमाणित करने के लिए जो जन्म हुआ उसमें रुद्रगण ही रावण और कुंभकर्ण थे। इस प्रमार इन चारों की संगति नहीं बैठती और जलंधर के प्रसंग को साथ में ले लेने से फिर प्रतापभानु और जलंधर के रूप में विरोध पड़ता है और उलझन यह उपस्थित होती है कि रामावतार का एक विशेष हेतु है या यह सब? यदि यह सभी हैं तो इनकी विधि कैसे बैठाई जाय?

इतना तो निश्चित ही है कि गोस्वामी जी इन सभी को प्रस्तुत रामजन्म का हेतु मानते हैं। उनके 'अपरहेतु[3]' और 'अपर पुनि हेतु[4]' इसी का स्पष्ट संकेत करते हैं। यदि हम गोस्वामी जी के निवेदन तथा पार्वती के प्रश्न पर शंकर जी के उत्तर को ध्यान-पूर्वक सुने तो यह गुत्थी आप ही सुलझ जाती है।

गोस्वामी जी ने 'कथा प्रबंध विचित्र बनाई' की घोषणा भी इस ढंग से की है कि उस कथा के हेतु के सम्बन्ध में उनका जो अभिमत है वह भी व्यक्त हो जाये। सुनिये, कहते हैं—

"सो सब हेतु कहब में गाई। कथा प्रबंध विचित्र बनाई।।[5]
जेहि यह कथा सुनी नहिं होई। जनि आचरजु करे सुनि सोई।।
कथा अलौकिक सुनहिं जे ग्यानी। नहिं आचरजु करहिं अस जानी।।
राम कथा कै मिति जग नाहीं। असि प्रतीति तिन्ह के मन माही।।
नाना भांति राम अवतारा। रामायन सत कोटि अपारा।।
कलप भेद हरि चरित सुहाए। भांति अनेक मुनीसन्ह गाए।।
करिअ न संसय अस उर आनी। सुनिअ कथा सादर रति मानी।।

राम अनंत अनंत गुन अमित कथा विस्तार।
सुनि आचरजु न मानिहहिं जिन्हके विमल विचार।।

---

[1] रा० मा० बा० १८६-३। [2] रा० मा० बा० १८६-६। [3] रा० मा० बा० १४०-१।
[4] रा० मा० बा० दो० १५२। [5] रा० मा० बा० ३२-२ से ३३।

इस प्रकार यह संकेत कर देते हैं कि मानस के राम अनन्त हैं और उनकी कथाएँ भी अनन्त हैं। उनका अवतार नाना भांति से हुआ है और विभिन्न कालों में मुनिवरों ने विभिन्न प्रकार से उनके चरित का गान भी किया है। अतः उनके जन्म के कारण भी अनेक हैं। इस कथा प्रवंध में सभी को गूँथा गया है और इसी से यदि इसमें कोई अलौकिकता हो तो उसे देखकर आश्चर्य नहीं करना चाहिए। गोस्वामी जी के श्रोता को रामचरित या उसके हेतु में न कोई संशय था और न उसे सुनकर अचरज होने की संभावना ही। अस्तु उन्हें अधिक कहने की आवश्यकता नहीं थी। इसकी आवश्यकता तो शिव को थी। अतः उन्होंने पार्वती के समक्ष क्रम से इसका स्पष्टीकरण किया। पार्वती जब राम जन्म का हेतु पूछती हैं तो पहले तो—

"हरि गुन नाम अपार कथा रूप अगनित अमित।[१]
मैं निज मति अनुसार कहउँ उमा सादर सुनहु॥"

कहकर घट घट वासी परम ब्रह्म राम के अमित और अगणित रूपों और कथाओं का उल्लेख करते हैं और फिर उसी हरि के नाना अवतारों की बात कहते हैं—

"हरि अवतार हेतु जेहि होई। इदमित्थं कहि जाइ न सोई॥"

और इसीलिये उनके चरित अथवा हेतु को सुनकर तर्क-वितर्क में पड़ना ठीक नहीं क्योंकि—

"राम अतर्क्य बुद्धि मन बानी। मत हमार अस सुनहि सयानी॥[3]"

फिर भी जैसा कि वेद-पुराण, संत और मुनियों का मत है और जैसा स्वयं शिव की समझ में आ रहा है वह कारण वे पार्वती जी को इस प्रकार सुनाते हैं:

"जब जब होइ धरम कै हानी। बाढ़हिं असुर अधम अभिमानी॥[४]
करहिं अनीति जाइ नहिं बरनी। सीदहिं विप्र धेनु सुर धरनी॥
तब तब धरि प्रभु विविध सरीरा। हरहिं कृपानिधि सज्जन पीरा॥
असुर मारि थापहिं सुरन्ह राखहिं निज श्रुति सेतु।
जग विस्तारहिं विसद जस राम जनम कर हेतु॥
सोइ जस गाइ भगत भव तरहीं। कृपासिंधु जन हित तनु धरहीं॥

इस प्रकार भगवान के नर शरीर धारण करने का कारण स्पष्ट करते हैं। सामान्य रुप से अन्तर्यामी प्रभु इसी प्रकार से वहिर्यामी होते हैं। रामजन्म का भी सामान्य रुप से यही हेतु है। इस हेतु से जन्म ले भगवान मर्यादा की स्थापना करते और भक्त तथा लोक का हित करते हैं।

शिव ने राम जन्म का कारण तो वता दिया परन्तु जिस जन्म की कथा वे पार्वती से कह रहे हैं उसका कारण सामने नहीं आया। अस्तु अब वे इतना और स्पष्ट कर देते हैं:

'राम जन्म के हेतु अनेका। परम विचित्र एक तें एका।[५]
जनम एक दुइ कहेउ बखानी। सावधान सुनु सुमति भवानी॥'

---

[१] रा०मा०बा०दो०१२०(घ) [२] रा०मा०बा०१२०-२। [3] रा०मा०बा०१२०-३।
[४] रा० मा० बा० १२०-६ से १२१-१। [५] रा० मा० बा० १२१-१२।

और अब शिव उन कारणों का उल्लेख करते हैं जो राम चरित के विशेष हेतु हैं। अतएव गोस्वामी तुलसीदास का मत यही है कि इस चरित के राम वही अनंत निर्गुण ब्रह्म हैं जो नाना रुपों में विश्व में प्रतिभासित हं ता और देशकाल के अनुरोध से विभिन्न रुपों में अवतरित भी होता रहता हैं। वही राम के रुप में भी प्रगट होकर नर-लीला करता है। तब इसके लिये भी विशेष जन्म में विशेष कारण रहता है किन्तु 'रामचरित मानस' में जो चरित लिया गया है वह राम के जन्म विशेष का विशेष चरित नहीं है। इसका नायक तो वही राम है जो अगणित चरितों का नायक है और जिसके जन्म के अगणित हेतु हैं अस्तु इस जन्म में भी उसका जन्म विशेष चरित तक सीमित नहीं है और न उसका हेतु ही विशेष है। यह चरित तो उसी अनंत राम के अनेक कल्पों के अनेक रूपों का समाहार है। इसीलिये तो इसके भी कारणों की गणना नहीं। परन्तु फिर भी जिन पांच कारणों का उल्लेख हुआ है उनको इस चरित में विशेष महत्व दिया गया है। अस्तु हम भी जब इन कारणों को इस दृष्टि से देखते हैं तो हमें इसमें कोई असंगति नहीं दिखाई देती इनकी वाणी के प्रकाश में हमारी गुत्थी सरलता से सुलझ जाती है और यह भी लक्षित हो जाता है कि अनेकों कारणों में से इन पांच का विधान विशेष प्रयोजन से ही हुआ है और अवश्य ही 'रामचरित मानस' की कथा में यही पाँच हेतु चरितार्थ हो रहे हैं। इसे देखने के लिये जब हम रामकथा का आलोकन करते हैं तो वहां भी उसके पाँच खंड दिखाई पड़ते हैं— बाल चरित, वन गमन, सीता हरण, सीता की खोज और रावण-बध। कहने की आवश्यकता नहीं कि इन्हीं पाँच खंडों में उक्त पाँच हेतु चरितार्थ हुए हैं।

पहला खंड बाल-चरित है। इसकी व्याप्ति जन्म से लेकर मिथिला के चरित तक मानी जा सकती है। इस खंड में जो कथा है वह माता-पिता के हृदय को नित्य नवीन उल्लास और आनन्द से भरने वाली है और उसकी पराकाष्ठा राम विवाह में होती है। इसमें चारों ओर मंगल ही मंगल है। यदि राम-लक्ष्मण ऐसी स्थिति में पड़ जाते हैं जहां किसी प्रकार के अनिष्ट की संभावना है तो वहां वे महामुनि विश्वामित्र की छाया में रहते हैं जहां उनका बाल भी बांका नहीं हो सकता। माता-पिता का कहना ही क्या ?

मुदित मातु सब सखी सहेली। फलित बिलोकि मनोरथ बेली॥[१]
राम रुप गुन सील सुभाऊ। प्रमुदित होइ देखि सुनि राऊ॥

और राम-विवाह हो जाने पर तो बस—

आए ब्याहि राम घर जब तें। बसइ अनंद अवध सब तब ते॥[२]

अयोध्या में तो ऋद्धि-सिद्धि उमड़कर भर जाती हैं और नित नया आनन्द छाया रहता है।

जन्म से लेकर अब तक माता कौसल्या और पिता दशरथ पुत्र-सुख में मग्न रहे हैं और पग-पग पर परमानन्द लूटते रहे हैं। उनके इस अटूट सुख का कारण है —

'ब्यापक ब्रह्म निरंजन निर्गुन बिगत बिनोद।[३]
सो अज प्रेम भगति बस कौसल्या के गोद॥

---

[१] रा० मा० अयो० ७,८। [२] रा०मा०बा० ३६०-५। [३] रा०मा०बा० दो० १९८।

इससे विदित हो जाता है कि दशरथ और कौशल्या के इस सुख में और भगवान के इस चरित में पहला हेतु ही चरितार्थ हो रहा है। दशरथ और कौशल्या का यह आनन्द मनु और शतरुपा की वर-याचना और उनके शील के मेल में नहीं है। हां इस चरित के समाप्त होते ही जहां से राम राज्याभिषेक का प्रश्न उठता है वहां से लेकर चित्रकूट तक के चरित में मनु और शतरुपा की तपस्या का हेतु चरितार्थ होता है।

इस हेतु पर विचार करने के पूर्व हमें शिव के उन वचनों को भी देख लेना चाहिए जो उन्होंने पार्वती से कहा है। मनु-सतरुपा के प्रसंग पर आते ही शिव पार्वती से कहते हैं—

'अपर हेतु सुनु सैल कुमारी। कहौं विचित्र कथा विस्तारी ॥[१]
जेहि कारण अज अगुन अरुपा। ब्रह्म भयउ कोसलपुर भूपा ॥'

और—

'लीला कीन्हि जो तेहि अवतारा। सो सब कहिहउ मति अनुसारा ॥'

इसके उपरांत मनु और शतरुपा की तपस्या का विस्तार से वर्णन होता है। मनु और शतरुपा जो वरदान प्रभु से मांगते हैं उसके द्वारा उनके जिस शील और जिस राम-प्रेम का परिचय मिलता है उसका पूरा प्रसार वनगमन के प्रसंग में अयोध्या से लेकर चित्रकूट तक मिलता है। भगवान की पुत्र रुप से उपलब्धि और उनकी भक्ति की कामना तो दोनों ही करते हैं परन्तु दशरथ इसके अतिरिक्त यह विनती भी करते हैं—

'सुत विषयिक तब पद रति होउ। मोहि बड़ मूढ़ कहै किन कोऊ ॥[२]
मनि बिनु फनि जिमि जल बिनु मीना। मम जीवन तिमि तुम्हहिं अधीना ॥

तथा शतरुपा का निवेदन है :

'जे निज भगत नाथ तव अहहीं। जो सुख पावहिं जो गति लहहीं ॥[3]
सोइ सुख सोइ गति सोइ भगति सोइ निज चरन सनेहु।
सोइ बिबेक सोइ रहनि प्रभु हमहिं कृपा करि देहु ॥'

जहाँ राम दशरथ की विनय पर केवल 'एवमस्तु'[४] कहकर रह जाते हैं वहीं वे चतुर कौशल्या पर अनुग्रह कर इतना और कहने की कृपा करते हैं—

'मातु विवेक अलौकिक तोरे। कबहुं न मिटहि अनुग्रह मोरे ॥[५]

कहने की आवश्यकता नहीं है कि ऊपर जिस बाल चरित का उल्लेख किया गया है उसका आनन्द लेने वाले दशरथ और कौशल्या का स्वरूप इस स्वरूप से भिन्न है और वनगमन के कारण प्राण त्याग करने वाले राम प्रेमी दशरथ और वन-गमन के अवसर से लेकर अन्त तक अपने स्नेह के साथ ही विवेक बनाये रखने वाली कौशल्या का चरित्र ही इस स्वरूप के मेल में है। दशरथ का हृदय राम को विश्वामित्र को सौंपते समय व्याकुल

---

[१] रा० मा० बा० १४०—१,२,६,। [२] रा० मा० ब० १५०—५, ६।
[३] रा० मा० बा० १४९—८ तथा दो० १५०। [४] रा० मा० बा० १५०—७।
[५] रा० मा० बा० १५०-३।

अवश्य हुआ था पर उसमें वह मीनता कहां जो वनगमन के अवसर पर दिखाई देती है। अस्तु इतना स्पष्ट है कि बाल-चरित के दशरथ और कौशल्या के आनन्द में प्रथम हेतु के कश्यप-अदिति का वर चरितार्थ हो रहा है तो वन-गमन के दशरथ कौशल्या में मनु-शतरुपा का प्रेम और विवेक।

तीसरा खण्ड है सीता-हरण। कहने की आवश्यकता नहीं कि इसमें वृन्दा का शाप ही प्रमाणित होता है। पूर्वजन्म में जो घटना घटती है, जिसके फलस्वरूप भगवान को शाप मिलता है उसका सम्बन्ध जलंधर, वृन्दा और भगवान विष्णु से है और उसके फल-स्वरूप जो घटना यहाँ पर घट रही है उसके रहस्य को केवल राम, सीता और रावण ही जानते हैं। यहां तक कि लक्ष्मण भी उससे अनभिज्ञ ही रह जाते हैं। भगवान चोरी का कार्य करते हैं लोक कल्याण की प्रेरणा से और फलतः रावण भी चोरी से ही सीता का हरण भी करता है। राम-चरित मानस में इस प्रसंग को गुप्त ही रखा भी जाता है और 'गगन-गिरा' में भी इसका नाम नहीं लिया जाता। जो हो, परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि इससे सतीत्व का प्रताप प्रगट होता है और यह स्पष्ट हो जाता है कि पतिव्रता के शाप का महत्व विप्र शाप से भी बढ़कर है।[1] विप्र शाप वश यद्यपि किसी को रावण होना पड़ा तथापि उसे अन्त में परम गति ही प्राप्त हुई किन्तु सती के शाप वश राम कहलाकर भी अपनी स्त्री को परवशता में देखना पड़ा। इतना ही नहीं, उसका परित्याग कर निरन्तर हृदय के जिस दाह में दग्ध होना पड़ा उसे आज तक कौन व्यक्त कर सका है। जिस रूप में इस प्रसंग का उल्लेख हुआ है उससे यही प्रतीत होता है कि विविध कल्पों के विविध जन्म चाहे जिस रूप में हों पर प्रत्येक जन्म में इस शाप को चरितार्थ करना ही पड़ता है। क्यों न हो ? मर्यादा का भंग जो इसके मूल में है। कथा-क्रम को देखने से भी यही प्रतीत होता है कि आरंभ की सभी घटनाएं (सीता-हरण के) उपक्रम के रूप में हैं तो बाद की इसी के परिणाम-स्वरूप। इस प्रकार यह हेतु कथा का केन्द्र विन्दु है और है घटनाओं की दृष्टि से इसकी चरम सीमा भी।

चौथा खण्ड है सीता की खोज। इस खंड में नारद-शाप चरितार्थ होता है। इस शाप को चरितार्थ करने के लिए भगवान केवल नर शरीर हीं धारण नहीं करते बल्कि पूरी प्राकृत नर लीला का नाटक करते हैं। नारि विरह तुम होब दुखारी[2] 'को चरितार्थ करने के लिये ही मानों वे 'मनहु महा विरही अति कामी'[3] के रूप में वन-वन सीता की खोज में भटकते और 'लता तरु पांती'[4] से उनका पता पूछते-पूछते 'श्रीफल कनक कदलि' को देख सीता को पुकारते हैं। आगे चलकर वानर सुग्रीव की 'मिताई' में भी नारद शाप ही चरितार्थ होता हुआ दिखाई देता है।

पांचवा खंड है रावण-वध और अंतिम हेतु है प्रताप भानु का प्रसंग। इस हेतु के प्रसंग में ही 'गगन गिरा' के द्वारा अन्य हेतुओं को समेट लिया गया है और सच पूछिये तो

[1] रा० मा० बा० १२३-१।
[2] रा० मा० बा० १३६-८।
[3] रा० आरण्य २९-१६।
[4] रा० मा० आरण्य० २९-८।
[5] रा० मा० अरण्य० २९-१३।

रामावतार का सबसे बड़ा प्रयोजन भी यहीं सिद्ध होता है। राम का रामत्व भी जिस रूप में और जैसा यहां व्यक्त होता है वैसा अन्यत्र नहीं। उस गगन गिरा में अन्य हेतुओं के उल्लेख के अतिरिक्त जो कुछ कहा गया है वह यही तो है :

'अंसन्ह सहित मनुज अवतारा। लेहऊँ दिनकर वंस उदारा'[1] ॥ तथा
हरिहेउ सकल भूमि गरुआई। निर्भय होहु देव समुदाई ॥

भगवान समाज सहित रावण का नाश कर पृथ्वी और देवता दोनों को ही निर्भय कर देते हैं। इस प्रकार पंचमं हेतु का सम्बन्ध प्रतापभानु से है और रावण-वध में वह चरितार्थ हो जाता है।

अब देखना यह रह गया कि 'राम जनम के हेतु अनेका' परम विचित्र एक तें एका[2] होते हुए भी इन्हीं पांच हेतुओं को महत्व देने का क्या प्रयोजन है ? इस दृष्टि से देखने पर यह अवगत होता है कि प्रथम हेतु में भक्त का वरदान और लोक-कल्याण की भावना है तो दूसरे में मर्यादा भंग करने के कारण शाप का विधान। परन्तु यह शाप मोल लिया जाता है लोक-कल्याण के निमित ही। तीसरे हेतु में भक्त हित-प्रेरणा से किसी माया सक्त संत भक्त का शाप है, पर साथ ही रुद्रगणों के शाप का प्रसंग भी है जिसके साथ लोक-कल्याण का भी समावेश हो गया है। चौथे हेतु का प्रयोजन परम तपस्वी भक्तों की कामना की पूर्ति है। इसके साथ अन्य कोई प्रसंग नहीं है। पांचवें में लोक की पीड़ा है और है लोक-कल्याण की सच्ची पुकार। इस प्रकार राम जन्म के हेतु के मूल में भक्तहित और लोक-हित ही निहित है। और 'कृपा सिन्धु जन हित तनु धरहीं[3]' के 'जन' के दोनों अर्थों—(अर्थात् हरिजन भी और सामान्य जन भी) को चरितार्थ किया गया है। भक्ति और लोक यहाँ भी हैं और हैं साथ ही सती और विप्र भी। कारण, दोनों को ही सच्चे तप का वल है और है दोनों ही का समाज में अत्यधिक महत्व। लोक साधने के लिए इन दोनों की आवश्यकता है। समाज का वाह्य रूप विप्र के पराक्रम से सुरक्षित है तो उसका अन्तर सती के सदाचार से पावन और मनोहर।

हां, तो पहले हेतु में भक्ति का महत्व दिखलाया गया है और यह स्पष्ट कर दिया गया है कि भक्ति के प्रताप से किसी नित्य लोक में नहीं, बल्कि इसी लोक में भगवान को पुत्र रूप में प्राप्त कर परमानन्द का लाभ लिया जा सकता है। वालक रूप भगवान जिनके इष्ट हैं और जो वात्सल्य भाव से भक्ति कर वाल गोपाल की लीला में ही लीन होना चाहते हैं उनके लिये यह हेतु और कथा का पहला खंड विशेष महत्व का है। इस वाल-रूप में विशेषता यह है कि इस चरित्र में भी लोक-कल्याण होता ही रहता है। अहल्या ऐसे जीवों और राक्षसों की ही नहीं वल्कि पशुओं की भी इस रूप के द्वारा वन जाती है और यह रूप सर्वत्र सबको जिस प्रकार मुग्ध कर अपने में रमाता रहता है वह भी देखते ही वनता है। धनुष-यज्ञ में तो इसकी सामर्थ्य का डंका भी वज उठता है और रावण को चेतावनी भी मिल जाती है।

---

[1] रा० मा० बा० १८६-२,७।
[2] रा० मा० बा० १२१-२। [3] रा० मा० बा० १२१-१।

दूसरे हेतु का जलन्धर से सम्बन्ध है और यह चरितार्थ होता है कथा के तीसरे खंड में। इसके सम्बन्ध में प्रसंगवश ऊपर कहा जा चुका है। यहां इतना ही कहना है कि यद्यपि इसका सम्बन्ध व्यक्तिगत है फिर भी इसके द्वारा लोक कल्याण में सहायता मिलती है और मिलता है नारद शाप के चरितार्थ होने का अवसर भी। अर्थात् इससे भी भक्त-हित और लोकहित दोनों सधते ह।

तीसरा हेतु चौथे खंड में चरितार्थ हुआ है। इसमें भक्त का महत्व दिखाया गया है। केवल भक्त ही नहीं, संत का चरित भी इसमें आ जाता है और इसी से भक्ति के साथ-साथ माया की लीला भी आ जाती है। किस प्रकार भक्ति के कारण काम पर विजय हो सकती है परन्तु अहंकार के कारण किस प्रकार माया तथा मोह का शिकार वनकर काम-क्रोध का चेरा वनना पड़ता है और हरिकृपा से ही इससे परित्राण होता है यह भी यहां भलीभांति दर्शा दिया गया है। साथ ही भगवान का वह भक्त वत्सल रूप भी दर्शाया गया है जो भक्त वत्सलता के वश हो भक्त का हित करता है चाहे उसके फल स्वरूप उन्हें कोई भी रूप रचकर कैसा भी नाटक क्यों न करना पड़े। परिणाम स्वरूप ललित नर-लीला का लालित्य सामने आता है और उसके साथ ही भक्ति योग भी। इतना ही नहीं नारद और राम की गोष्ठी भी वड़े ही मनोहर रूप में सामने आती और किसी भी सच्चे विरक्त संत की आँख खोलने के लिए पर्याप्त सिद्ध होती है। संतों के गुण भी ज्ञात हो जाते हैं और नवधा भक्ति के उपदेश के साथ ही राम के मुख से वह आश्वासन सुनाई देता है जो आज भी न जाने कितने पतित और भग्न हृदयों का एक मात्र अवलम्बन है।

चौथे हेतु का उल्लेख विशेष रुप से होता है और चरितार्थ भी होता है कथा के दूसरे खण्ड में। भक्तहित की भावना इसमें प्रमुख है। यहाँ यह दिखाया गया है कि भक्त अपनी भक्ति से क्या कुछ नहीं प्राप्त कर सकता। सच में, मनु और शतरुपा को मुँहमाँगा वरदान मिला। साथ ही यहाँ सच्चे भक्त का स्वरुप भी स्पष्ट हो जाता है। जहाँ इस हेतु का उल्लेख है वहाँ अन्य प्रसंगों की भाँति इसके साथ किसी अन्य शाप या वरदान का उल्लेख नहीं है न रावण का न किसी अन्य शापादि का। और जिस खंड में यह चरितार्थ होता है उसमें भी दशरथ कौशल्या तथा अपने अंशों एवं आदि-शक्ति सहित राम का ही चरित है। इस चरित में जहाँ मानव हृदय को इस प्रकार खोल कर रख दिया गया है कि हम उसको विविधता और विचित्रता पर विस्मित होते हैं वहीं भक्त हृदय की सच्ची अभिव्यक्ति पा परम संतोष का लाभ करते हैं। लक्ष्मण और निषाद की भक्ति का भव्य रुप तो है ही, भरत के चरित में आदर्श अविरल-हरि-भक्ति की पूर्ण स्थापना कर दी गई है। मनु और शतरुपा ने अनन्त काल तक घोर तप कर के जो वर प्राप्त किया था उसका सदुपयोग यहाँ है। साथ ही उन्होंने अयोध्या में जो किया उसने लोक-मंगल की साधना में कैसा क्या योग दिया, कहने की आवश्यकता नहीं। सच्चा भक्त भगवान के प्रेम में मग्न रहता है पर सर्वत्र मर्यादा का ध्यान रखता और सर्वस्व त्याग कर भगवान के लोक-कल्याण के पावन संकल्प में पूरा पूरा योग देता है। दशरथ के प्रेम में प्रेम और त्याग की परा-काष्ठा के साथ ही कुलधर्म की मर्यादा की रक्षा भी है तथा कौशल्या के प्रेम में है मर्यादा, कर्तव्य और विवेक का अनुपम समन्वय।

पाँचवें हेतु और पाँचवें खंड में लोक-पीड़ा का स्वरुप और लोक-मंगल की साधना प्रत्यक्ष हुई है। रामत्व और रावणत्व का अद्भुत उत्कर्ष यहीं है और रामावतार का मख्य प्रयोजन यहीं सिद्ध होता हुआ दिखाई देता है। यही इस समस्त रुपक की नियताप्ति है। इसके आगे जो कुछ है वह 'रामसरुप सिंधु[१]' और 'भगति निरूपण[२]' ही है और है इस सम्पूर्ण रूपक के विवेकी दर्शक के हृदय का निष्कर्ष।

इस प्रकार इन हेतुओं में आदि से अन्त तक 'जनहित' की भावना व्याप्त है और भक्तों की अभिलाष-पूर्ति तथा लोक का कल्याण, इन दो प्रयोजनों के व्यापक क्षेत्र में राम-जन्म के समस्त हेतु सिमट जाते हैं। फलतः यह सिद्ध होने में किसी प्रकार का सन्देह नहीं रहता कि—

विप्र धेनु सुर संत हित लीन्ह मनुज अवतार[३]।
निज इच्छा निर्मित तनु, माया गुन गो पार॥

———

[१] रा० मा० बा० ३९-४।
[२] रा० मा० बा० ३६-१३।
[३] रा० मा० बा० दो० १९२।

तुलसीदास का बिम्ब-विधान

डॉ० जनार्दन उपाध्याय
(प्राचीन छात्र)

विम्व-विन्यास के परिदृश्य में तुलसीदास के विम्वों का मूल्यांकन उनकी अन्तर्दृष्टि की सूक्ष्मता तथा सर्जनात्मक कल्पना का निरीक्षण और प्रत्यक्षीकरण है। क्योंकि विम्वों का कारण तत्त्व सर्जनात्मक कल्पना और प्रेरक तत्त्व भाव है। काव्य में बिम्वों की सजीवता, भास्वरता, ध्वन्यात्मकता, उर्वरता, प्राचुर्य और वैविध्य कवि की मूल प्रेरक अनुभूति की तीव्रता, प्रखरता समृद्धि और सार्थकता पर आश्रित है। जिस कवि में विम्वों की जितनी ही अनेकरूपता मिलेगी उसकी अनुभुति का विस्तार और वैचित्र्य उतना ही व्यापक और सजीव होगा। इस दृष्टि से तुलसीदास पूर्णतः समर्थ कवि हैं।

तुलसीदास के विम्व-विन्यास नें अनुभूति की तीव्रता तथा वैविध्य है। जायसी और सूर भी काव्य-बिम्ब की दृष्टि से विचारणीय हैं। पर तुलसीदास के विम्व-विधान में जो प्राचुर्य और वैचित्र्य है, वह जायसी और सूर के विम्त्रों में नहीं हैं। कारण स्पष्ट है—तुलसीदास में अनुभूति की प्रखरता और क्षेत्र की व्यापकता है। यह ठीक है—तुलसीदास में सूर की अपेक्षा घ्राण-विम्वों का कम प्रयोग है, पर तुलसी के चाक्षुप विम्ब [दृश्य-बिम्ब] सूर की वरावरी रखते हुए भी अनुभूति क्षेत्र की व्यापकता के कारण उनसे अपेक्षाकृत अधिक भास्वर और वैविध्यपूर्ण हैं। तुलसी में ध्वनि विम्वों का प्रयोग अधिक मिलता है। इसी प्रकार जायसी के बिम्वों की अपेक्षा इनके विम्ब अधिक स्पष्ट औप सजीव हैं। क्योंकि इनकी प्रेरक अनुभूति अधिकतीव्र और अनाविल है।

भयउ हृदय आनन्द उछाहूः भाव और बिम्ब की अभिव्यक्ति

भाव और विम्ब क्या हैं ? क्या कवि कर्म का कौशल स्पष्ट और प्रखर बिम्बों के सर्जन में ही है ? क्या रागात्मक अनुभूति से शून्य प्रखर और स्पप्ट बिम्बसर्जन ही काव्य के लिए श्रेयस-प्रेयस है या रमणीय अनुभूति संभृत धूमिल और गौण विम्ब योजना ही काव्य का प्रयोजन है ? तुलसी के संदर्भ में विम्व-रचना प्रक्रिया का क्या स्वरूप है ? इस प्रकार के अनेक प्रश्न तुलसी के बिम्बों के मूल्य निर्धारण में विचारणीय हैं।

भाव मनुष्य की आन्तरिक अनुभूतियों का स्फुरण या उद्बोधन है। ऐन्द्रियानुभव गम्य वाह्य जगत के पदार्थ मानव मस्तिष्क पर अनेक रूप बिम्बों कों अंकित करते रहते हैं जिनका संचयन वहाँ पर स्मृति रूप में होता रहता है। समान परिस्थितियों और नव नवोन्मेष प्रतिभा के उन्मेष से वे ही अवोध-पूर्वा-स्मृति-विम्ब पुनः नए और ताजे होकर व्यक्त होते हैं। ये सभी स्मृति-विम्ब मानस में अस्त-व्यस्त बिखरे पड़े रहते हैं। सर्जनात्मक कल्पना उनका एक संश्लिष्टरूप-चित्र प्रस्तुत करती है। जब भी कवि हृदय आनन्द और उल्लास से भर जाता है, तब वह उन भावों को व्यक्त करने के लिए मचलने लगता है।

कवि के आन्तरिक जगत में स्फुरित मार्मिक अनुभूतियाँ, जीवन रस के उफान का वेग और जीवन का राग ज्ञान सत्य अभिव्यक्ति पाने के लिए आकुल हो उठता है। इसी आन्तरिक बेचैनी और आकुलाहट की रागमयी अभिव्यक्ति 'भाव' है। वे किसी विशिष्ट परिस्थिति की प्रतिक्रिया स्वरूप उद्भूत हैं। इसलिए उस क्षण विशेष या परिवेश में उनकी सत्ता हैं। वे हैं, इसलिए वे 'भाव' हैं। ये ही भाव शब्दार्थ के माध्यम से कविता रूप में प्रकाशित होते हैं :

> अस मानस मानस चख चाही। भइ कवि बुद्धि विमल अवगाही ॥
> भयउ हृदय आनन्द उछाहू। उमगेउ प्रेम प्रमोद प्रवाहू ॥
> चली सुभग कविता सरितासो। राम बिमल जस जल भरितासो ॥[1]

भावों के साथ उत्पन्न अश्रु, रोमांच, वैवर्ण्य आदि भी भरत के अनुसार भाव ही हैं। ये सांत्विक-भाव होते हैं। इनकी उत्पत्ति भावों के साथ-साथ है, इसलिए इन्हें अनुभाव नहीं कहा जा सकता, इन सभी की व्यंजना कवि विम्बाधायक शब्दों के माध्यम से करता है।

केहि छाया कवि मति अनुसरई : मानस-विम्ब के चाक्षुस विम्ब में रूपायन का प्रश्न :

सबसे बड़ी समस्या तब होती है, जब इन भावों को हू-ब हू व्यक्त करने की व्याकुलता बढ़ती है। भाव अमूर्त हैं। वे एक प्रकार से मानस बिम्ब हैं। क्योंकि पहले मानसी सृष्टि ही होती है। मानस कल्प ही बाद में प्रत्यक्ष जगत् के दृश्यमान सृष्टिरूप में प्रति-फलित होता है। इसी से जो कुछ भी दृश्यमान है, वह मानस कल्पना का ही चाक्षुष प्रत्यक्ष बिम्ब है। और विम्ब शब्दार्थ के माध्यम से व्यक्त भाव-गर्भित मानसी प्रतिकृति ही तो हैं। भाव मानस-विम्ब हैं - उनका चाक्षुष विम्बों में तद्वत् रूपांकन कैसे किया जाय। प्रसिद्ध सौन्दर्य समीक्षक न्यूटन एरिक ने कहा है कि मानस विम्बों को चाक्षुष-विम्बों में नहीं उतारा जा सकता।[2] मानस-बिम्बों का चाक्षुस-विम्वों में अनुदित होने पर कुछ परिवर्तन अवश्य हो जाता है। क्योंकि अन्तर्जगत के भावों की वाह्यजगत के पदार्थों में तद्वत अभिव्यंक्ति असम्भव है। आन्तरिक भाव बाह्य पदार्थ के विम्ब नहीं हो सकते। उन्हें इन्द्रिय बिम्वों में उसी प्रकार नहीं ढाला जा सकता। इस तथ्य की मार्मिक अनुभूति तुलसी को थी। उन्होंने इसे अपने 'मानस' में कुछ इस प्रकार व्यक्त किया :

> परम पेम पूरन दोउ भाई। मन बुधि चित अहमिति बिसराई ॥
> कहहु सुपेमु प्रकट को करई। केहि छायाँ कवि मति अनुसरई ॥[3]

राम भरत के मिलन प्रीति का क्षण है। उसकी शाब्दिक व्यंजना का प्रश्न है। तुलसी का कथन है :

> कबिहि अरथ आखर बल साँचा। अनुहरि ताल गतिहि नटु नाचा ॥
> अगम सनेह भरत रघुवर को। जहँ न जाइ मनु बिधि हरिहर को ॥
> सो मैं कुमति कहउँ केहि भाँती। बाज सुराग कि गाँडर ताँती ॥[4]

प्रेम की उस अनुभूति को शब्दों के माध्यम से वैसा ही व्यक्त नहीं किया जा सकता; क्योंकि कवियों की अभिव्यक्ति शक्ति शब्दार्थ ही है और इनकी शक्ति मन, चित्त, बुद्धि, अहमन्यता को विस्मृत कर देने वाली प्रेमानुभूति की व्यंजना में असमर्थ है। जो भी

मानस-विम्व उभरा उसे कवि चाक्षुप-विम्व में अनुदित करने में असमर्थ है। फिर भी कवि भावों की इन्द्रिय प्रत्यक्ष व्यंजना के लिए विम्बाधायक शब्दों का आश्रय लेता है। उदाहरण द्वारा स्पष्टीकरण आवश्यक है। मधुस्वरूप कह कर जब भी हम रूप के माधुर्य (मिठास) को व्यक्त करना चाहते हैं तो यह केवल स्वादेन्द्रिय विम्वों के माध्यम से उस अमूर्त भावसत्ता को गोचर करने का प्रयास ही इंगित होता है। इसी प्रकार जब भी कवि मनोभावों या संवेगों की प्रभविष्णु अभिव्यक्ति करना चाहता है, तो वह अनुकूल विम्बाधायक शब्दों को अपनाकर उनकी ऐन्द्रिय प्रत्यक्ष अभिव्यक्ति द्वारा सहृदय में रसबोध कराना चाहता है।

विम्ब-सर्जन का माध्यम (उपकरण) शब्दार्थ है। प्रत्येक शब्द का अपना विम्ब है और इसी प्रकार अर्थ भी अपना एक विम्ब रखता है। हरएक छन्द के लय, गति, यति, और वर्ण-योजना का भी विम्ब है। ये सभी सम्मिलित होकर एक विम्ब निर्मित करते हैं। तुलसीदास का एक सवैया इसके लिए उल्लेख्य है:

बर दंत की पंगति कुदकंली, अधराधर-पल्लव खोलन की।
चपला चमकै घनबीच जगै छबि मोतिन माल अमोलन की॥
घुंघरारी लटैं लटकै मुख ऊपर, कुंडल लोल कपोलन की।
निवछावरि प्रान करै तुलसी, बलि जाउँ लला इन बोलन की॥[५]

इसमें आए शब्द क्रमशः 'कुंदकली', अवराधर पल्लव, घुघरारीलट, कुंडल लोल अपना-अपना विम्व रख रहे हैं और पूरा शब्दार्थ दातों की पंक्ति, अघरों की छवि दातों की आभा, कुंडल का कपोलों पर हिलने के विम्व को अलग-अलग रूपायित कर रहा है। और यहाँ सवैया छन्द का भी अपना एक विम्व अलग उभरता है। शब्दार्थ और छन्द विम्व के समन्वय से निर्मित शिशु राम के रूप सौन्दर्य के संश्लिष्ट विम्व का अपना एक अलग ही महत्व है। समग्रतः तुलसी की सर्जनात्मक कल्पना से निर्मित यह विम्व उनकी सूक्ष्म और समृद्ध अन्त-र्दृष्टि और भावना का परिचायक है।

सामान्य प्रयोग के शब्द कवि के लिए उपयुक्त नहीं होते। क्योंकि उनक शब्दार्थ-बिम्ब वार-वार प्रयोग होते-होते घिस जाता है या अर्थहीन होकर रूढ़ बन जाता है। इसीलिए कवि अपनी समृद्ध कल्पना और भावना से उनमें नये अर्थ बिम्वों को भरता है या घिसे हुए बिम्बों को पुनः उभारता है। यह पूरी प्रयोगात्मक प्रक्रिया काव्य भाषा के संदर्भ में सर्जनात्मक भाषा (क्रियेटिव लॉंग्वेज) या 'भाषा के भाव-कल्पनात्मक' प्रयोग से अभिहित है। दीपशिखा का बिम्व नारी सौन्दर्य के लिए काव्य में हमेशा से प्रयुक्त है। पर तुलसीदास ने परम्परित सौन्दर्य विम्व को सर्जनात्मक कल्पना से पुनः प्रोद्भासित किया है। परिणामतः कालिदास, विहारी, पन्त, अज्ञेय के बिम्बों के संदर्भ में इनकी दीपशिखा कहीं अधिक शीतल और भास्वर है।

सुन्दरता कहँ सुन्दर करई। छविगृह-दीपसिखा जनु बरई॥[६]

प्रस्तुत रूप चित्र सीता के दिव्य सौन्दर्य को रूपायित करने के लिए अंकित है। राम सीता के रूप-सौन्दर्य पर कहते हैं: सीता के दिव्य सौन्दर्य से जनक की पुष्प वाटिका और भी दीपित हो रही थी—जैसे दीपशिखा के प्रकाश से छविगुह की शोभा सहसा और प्रति

भासित होने लगती है। सीता के रूप सौन्दर्य की अनुभूति अमूर्त है। तुलसी की सर्जनात्मक कल्पना में कभी ऐसा दिव्य सौन्दर्य कौंध गया होगा—वही मानसी साक्षात्कारकृत मूर्ति उनकी अन्तः चेतना में स्मृतिरूप में विद्यमान है। सीता के दिव्यरूप की आलोक-दीप्ति और परिवेश के आलोकमय होने के लिए एक उपमान रखा गया है: छविगृह में दीपशिखा का दीपित होना। इसका भी चित्र कभी न कभी तुलसी के मानस में रहा होगा। इसी प्रकार की अन्यान्य छवियाँ उनके अवचेतनमन में स्मृति रूप में पड़ी रही। सीता के रूप सौन्दर्य के मानस साक्षात्कार की अमूर्त अनुभूति का इन्द्रिय प्रत्यक्ष करने के लिए स्मृति और कल्पना के माध्यम से समर्थविम्वाधायक शब्द का चयन कर दीपशिखा का विम्व प्रस्तुत किया गया है। इस बिम्बरचना प्रक्रिया में दो स्थितियाँ स्पष्ट हैं: प्रथम मानसी अनुभूति की अवस्था; दूसरी मानस-विम्वों [मेन्टलइमेज] को विम्वाधायक शब्दों के माध्यम से व्यक्त करने की अवस्था। ऐसी स्थिति में कवि के लिए शब्द चयन ली समस्या प्रमुख हो जाती है। क्योंकि शब्दों का भी अपना विम्व होता है। उन विम्वों का मानस-विम्बों के अनुकूल उसकी प्रकृति से मेल बैठाना पड़ता है। तुलसी को शब्दों के विम्व से मानस-विम्वों के आनुकूल्य का पूर्ण बोध है। परिणामतः मानस-विम्बों के अनुकूल ही क्रमशः सीता के आलोकमय सौन्दर्य के लिए 'दीपशिखा उससे विच्छुरित प्रकाश की व्यंजना के लिए 'वलना' परिवेश के लिए 'छविगृह' के बिम्व का चयन कर एक ऐसे संश्लिष्ट दिव्य आलोकमय बिम्व को मूर्तित किया है जो सौन्दर्य व्यंजना के साथ ही साथ एक महत्वपूर्ण भाव को भी इंगित करता है—दीपशिखा के आलोक से अन्धकार दूर हो सकता हैं, पर उस पर पड़ने से व्यक्ति जल भी सकता है—नारी रूप सौन्दर्य का आलोक ऐसा ही है—उसे मातृभाव, राममयी दृष्टि से देखने पर व्यक्ति का अज्ञानान्धकार दूर हो सकता है—पर काममयी दृष्टि उसे जलाकर समाप्त कर सकती है। विम्व में जिस भाव संकेत का इशारा होना चाहिए, वह यहाँ पर है। इसलिए यह एक भाव-गर्भित-रूप-विम्व है।

एरिकन्यूटन ने मिडियम (माध्यम) और कलाकार की प्रकृति के आनुकूल्य का विशेष ध्यान रखने का निर्देश दिया है[9], अन्यथा चित्र भोंड़ा हो जाता है या मात्र रंगों का ही फैलाव प्रतीत होता है। जो भी भाव हो उसके अनुकूल उपकरण का चयन ही कलाकार की श्रेष्ठता है। जैसाकि कहा जा चुका है कि कवि का माध्यम या उपकरण भाषा या शब्दार्थ ही है इस लिए कवि को भी आवश्यक है कि वह भाषा की प्रकृति से पूर्णतः परचित हो। तुलसीदास को भाषा की प्रकृति का पूर्णतः बोध है। इसी से वे बिम्ब-सर्जन में माध्यम (भाषा) की प्रकृति को अपनी इच्छा से एक मेक कर उपयोग करते हैं। सार्थक शब्द ही भाव चारुता की रम्य अभिव्यक्ति कर सकता है। तुलसी के शब्दार्थ विम्बों को पूर्णतः उभारने में समर्थ हैं क्योंकि उन्हें शब्द और भाव की परस्पर स्पर्द्धिता की सम्यक प्रतीति है।

मानस-विम्बों को चाक्षुष विम्वों में अनुदित करते समय एक प्रश्न महत्वपूर्ण हैं। क्या उसमें राग तत्त्व होता है या वह राग तत्त्वहीन मात्र विम्ब का ही सर्जन है। सी० डे० लेविस ने 'इमेज' को भावगर्भित शब्द चित्र कहा है[10]। आशय है विम्वों में भाव-

तत्त्व प्रधान हैं—क्योंकि इसी से वे रागमय और समृद्ध बनते हैं। इस प्रसंग में तुलसीदास के विम्ब विधान में तीन स्थितियां हैं :

१ ऐसा विम्ब जिसमें केवल अनुभूति की प्रधानता है। बिम्वाधायक रेखाएँ अस्फुट, धूमिल और गौण हैं।

२ ऐसा विम्ब जिसमें अनुभूति या भाव गौण है। विम्ब ज्यादा प्रांजल, भास्वर और उर्वरक है।

३ ऐसा विम्ब जो भाव और विम्ब दोनों के संश्लिष्ट रूप को प्रस्तुत करता है। इन सबों को एक-एक उदाहरण द्वारा स्पष्ट करना ज्यादा समीचीन होगा।

(१) ऐसा बिम्ब जिसमें अनुभूति की प्रधानता है :

तत्व प्रेम कर मम अरु तोरा। जानत प्रिया एक मन मोरा॥
सोमन रहत सदा तोहि पाहीं। जान प्रीतिरस एतन्नोहि माहीं॥[९]

इसमें राम की अनुभूति की निश्छलता का रमणीय अभिव्यक्ति काम्य है। इसी अनुभूति की तीव्रता के कारण यह चौपाई रम्य है। इसमें बिम्बों का कोई आकर्षण नहीं है। रेखाएँ तथा रंग विशेप प्रभावकारी नहीं हैं।

(२) ऐसा बिम्ब जिसमें अनुभूति या भाव गौण है :

अवगुन एक मोर मैं माना। बिछुरत प्रान न कीन्ह पयाना॥
नाथ सो नैनन्हि को अपराधा। निसरत प्रान करहिं हठिबाधा॥
विरह अगिनि तनु तूल समीरा। स्वास जरै छन माहि सरीरा॥
नयन स्रवहिं जल निजहितलागी। जरै न पाव देह विरहागी॥[१०]

तुलनात्मक दृष्टि से इसमें विम्ब की रेखाएँ अधिक भास्वर है। पर अनुभूति तत्त्व गौण हैं।

(३) ऐसा बिम्ब जो भाव और बिम्ब दोनों के संश्लिष्ट रूप को प्रस्तुत करता है :

हृदय न विदरेउ पंक जिमि बिछुरत प्रीतमु नीर।
जानत हौं मोहि दीन्ह बिधि यहु जातना सरीर॥[११]

राम लक्ष्मण सीता को रथ से उतार कर लौटते समय सुमन्त की पाश्चाताप भरी उक्ति है—परमप्रिय से वियुक्त होकर सुमंत्र का हृदय फट नहीं गया लगता है विधि ने उसे शारीरिक यातना सहने के लिए इस प्रकार रख छोड़ा है। मूल भाव है—प्रीति की अनन्यता की व्यंजना। इसके लिए पंक और जल का बिम्ब रखा गया। पंक जल की प्रीति अनुपम है क्योंकि ज्योहि जल सूख जाता है, पंकितभूमि में दरारे पड़ जाती है। उत्प्रेक्षा है—प्रीतम जल के वियोग में प्रेमी पंक का हृदय फट गया। इससे प्रेम की अनन्यता लक्षित है। पर दूसरी तरफ वैषम्य [कान्ट्रास्ट] में सुमंत्र का कथन है। सुमंत्र राम को छोड़कर जा रहे हैं, पर उनका हृदय नहीं फटता। इसमें एक तरफ तीव्र अनुभूति और सूक्ष्म निरीक्षण शक्ति है और दूसरी तरफ 'विदरेउ' से दरार का विम्ब उभरता है

जिसके माध्यम से प्रेम भाव की अनन्यता की व्यंजना होती है। समग्र रूप से मिलकर यह एक से संश्लिष्ट भावबिम्व को प्रस्तुत करता है।

जुगति वेधि पुनि पोहिहहि : सर्जनात्मक कल्पना और बिम्ब के उपकरण

बिम्व का माध्यम शब्दार्थ, उसका प्रेरक तत्व भाव और निर्मातृ शक्ति सर्जनात्मक कल्पना है। इस प्रकार बिम्ब के आन्तरिक और बाह्य तीन उपकरण सिद्ध होते हैं।

(१) सार्थक-शब्दार्थ
(२) रागात्मक तत्व
(३) सर्जनात्मक कल्पना

इन्हीं तीनों के समन्वय से बिम्बों का सर्जन होता है। बिम्ब अचाक्षुष होकर भी अगोचर नहीं है क्योंकि उसका विषय मूर्त और अमूर्त दोनों होता है। विम्ब किसी पदार्थ की पुनर्निर्मिति है। पर मूल की प्रतिकृतिं में कुछ परिवर्तन स्वाभाविक है। मूल पदार्थ को किस प्रकार बिम्व में पुनः सृष्टि होती है ? इसके लिए अनुभूति ग्रहण और चित्र-निर्मिति की प्रक्रिया समझना आवश्यक है। कुछ प्राचीन दार्शनिक [हाब्स] और विचारकों [हार्टले] आदि के अनुसार मानव मस्तिष्क पर बाह्य जगत के सम्पर्क से उत्पन्न संवेदनाएँ अंकित होती रहती हैं। इसमें मस्तिष्क सक्रिय नहीं रहता अपितु सरल संवेदनाएँ पुनः जटिल सवेदनाओं में परिवर्तित हो जाती है। इसमें प्रस्तार-विस्तार या पर्म्युटेशन-कॉम्वीनेशन से उनके अनेक रूप निर्मित होते रहते हैं। इसमे मस्तिष्क का कोई योगदान नहीं होता। वह निष्क्रिय और तटस्थ है। यहाँ सभी अनुभूति स्मृति रूप में संचित रहती हैं और समय पर उनका स्वतः प्रकाशन होता है। इसमें कल्पना प्रायः निष्क्रिय है। यहाँ स्मृति के आधार पर ही स्मृतपरक विम्ब उद्‌बुद्ध होते हैं :

"विटप बेलि नव किसलय; कुसमित सघन सुजाति।
कंदमूल जल थल रुह अगनित अनवन भाँति॥
मंजुल मंजु, बकुल कुल, सुरतरु ताल तमाल।
कदलि कदम्ब सुचंपक पाटल, पनस रसाल॥
सरित सरन सरसीरूह फूले नाना रंग।
गुंजत मंजु मधुपगन कूजत विविध विहंग॥"[१२]

यहाँ पूर्णतः पूर्वानुभूति की स्मृति की परिगणनात्मक आवृति है। इसमें कल्पना का कोई संश्लेष नहीं हैं। यह मात्र पदार्थों का अतीत स्मृति के आधार पर यथार्थ वर्णन है। पर यही तुलसीदास एक जगह स्मृति के आधार पर ही सही, पर कल्पनात्मक संस्पर्श से विवेक द्वारा चित्र की रेखाओं को उभारते हुए विम्व का भी सर्जन करते हैं और इस प्रकार एक भावपरक संश्लिष्ट विम्ब की पुनः सृष्टि होती है :

सोहत स्याम जलद मृदु घोरत धातु रंग मगे सृंगनि
मनहु आदि अंभोज विराजत सेवित सुर मुनि भृंगनि।
सिखर परस घन घटहिं मिलति बग पाँति सो छबि कबि बरनी
आदि बराह बिहरि वारिधि मनो उठ्यो है दसन धरि धरनी[१३]

यह पद एक संश्लिष्ट विम्ब को रूपायित करता है। मूल बात केवल यहीं कहनी है कि बादल छाये हैं और बगलों की पंक्ति उड़ रही है। मेघ माला, शृंग और बक पंक्ति ये तीन मूल विम्ब हैं। कवि को कहना है कि मंदमंद गरजते काले बादल गेरू के लाल रंगों से रंगे शृंगों से लगे हैं और उनसे स्पर्श करती बगलों की पँक्ति दिखायी दे रही है। इसकी बिम्बात्मक व्यंजना के लिए सार्थक शब्द और सर्जनात्मक कल्पना का आश्रय लिया गया है। परिणामतः 'जलदं' शब्द वर्ण-ध्वनि विन्यास से रूप और नाद-विम्ब को उभारता है। पुनः उसके साथ शृंग और बगलों की श्वेत पंक्ति का सहयोग उस विम्ब को और सजीव बनाता है। संस्कार रूप में मेघमाला, शृंग और बक पंक्ति का स्मृत-विम्ब मानस पर अलग-अलग अंकित हैं। सर्जनात्मक कल्पना ने उन्हें एक साथ संश्लेषित कर एक संश्लिष्ट रूप खड़ा कर दिया। अगर उनका अलग-अलग वर्णन होता, तो केवल अर्थ ग्रहण ही कराते, उनसे संश्लिष्ट विम्ब नहीं उभरता।

एब्रम ने 'द मिरर एन्ड द लैम्प'[14] में कल्पना के संदर्भ में यह स्पष्ट किया है कि मानव मस्तिष्क मात्र निष्क्रिय सफेद स्लेट ही नहीं है जिस पर अतीत का अनुभव जन्य विम्ब अंकित रहता है, अपितु वह सक्रिय, सचेतन है जो बाह्य जगत से प्राप्त यथार्थ परक स्मृत विम्बों को अपनी सर्जनात्मक कल्पना शक्ति से नया रूप देता है जिससे भावगर्भित मानसी-प्रतिच्छबि बनकर एक संश्लिष्ट विम्ब को उभारता है। यही कारण है कि डब्ल्यू० बी० एट्स[15] ने यह कामना व्यक्त की थी कि उसका मन मात्र दर्पण न रहकर, दर्पण से दीप बन जाय। जिससे वह केवल बाह्य जगत का प्रतिविम्बन न होकर, उसमें कुछ सर्जन करते हुए नयी उद्भावना करने की क्षमता हो।

तुलसीदास के विम्ब-सर्जन प्रक्रिया के विविध आयाम क्या हैं? काव्य-सर्जन शब्दार्थ के माध्यम से अनुभूति की कल्पनात्मक पुनः सृष्टि है। पर क्या अनुभूति के क्षण में ही रचना सम्भव हो जाती है? ऐसा नहीं होता। अनुभूतियाँ संकलित होकर संस्कार बनती हैं और काव्य में अबोध-पूर्वा-स्मृति रूप संस्कार ही प्रकट होता है। अनुभूति का संस्कार में परिवर्तन और विम्ब सर्जन में कवि स्मृति और कल्पना की सहायता से अनुभूति के समक्ष दृश्यमान जगत के उपकरणों, पदार्थ, व्यक्ति, घटना की पुनः सृष्टि करता है जिसके संदर्भ में ये अनुभूतियाँ घटित हुई थी। बिम्ब रचना के समय कवि मानस में अनेक बिम्ब उठते हैं वह उन्हें विवेक द्वारा अनुभूति के अनुकूल चयन करके उचित संश्लेषण द्वारा अभीष्ट बिम्बों का सर्जन करता है। इसके लिए 'मानस' से एक उदाहरण द्रष्टव्य है:

जहं विलोक मृग सावक नैनी। जनु तहं बरिस कमल सित श्रेनी॥[16]

इसमें सीता की दृष्टि की दिव्य कान्ति और शोभा की झाँकी प्रस्तुत करना तुलसी को काम्य है। अनुभूति तो अमूर्त है। पर सम्भव है तुलसीदास ने ऐसी सात्विक दृष्टि की चकित चितवन को अपने जीवन में कभी देखा हो उसका संस्कार उनकी अन्तश्चेतना में पड़ा है। दूसरी तरफ मृग शावक के नेत्रों एवं उनके चकित चितवन का प्रभाव भी किसी न किसी प्रकार उनके मन पर पड़ा है। जब सीता की दृष्टि की सात्विकता, चितवन की आश्चर्य भरी चंचलता की अभिव्यक्ति की समस्या आयी तो सहसा उनके मानस में

स्मृति और कल्पना द्वारा उक्त विम्ब उभर आये । परिणामतः उन्होंने उसका सार्थक विम्बाधायक शब्दोः 'मृग सावक' और 'सित कमल' के माध्यम से मूर्तरूप प्रस्तुत कर दिया। सीता चकित होकर नृपकिशोर को इधर उधर देख रही हैं सीता को 'मृग-शावक नयनी कहा गया है मृग शावक के नेत्रों के कोओं में लाल डोरे नहीं उभरे रहते । पूरा का पूरा नेत्र कोआ श्वेत होता है । सीता के नेत्र ऐसे ही हैं । जहाँ भी देखती हैं, वहाँ श्वेत कमलों की पंक्ति बरस जाती हैं । 'वरिस' से कान्ति की तरलता, उसका प्राचुर्य, एवं आभा की आर्द्रता व्यक्त होती हैं । परिवेश के लिए जनक वाटिका दृश्य उपस्थित है—वाटिका में मृग-शावक, सित कमल, और मृगों की चकित चितवन परिवेश को सजीव करती है । इनका अलग-अलग वर्णन कोई अर्थ नहीं रखता । परन्तु एक साथ संश्लिष्ट होकर एक उज्ज्वल बिम्ब की कल्पना को मूर्तित करना है । इस प्रकार यहाँ अनुभूति विम्ब रूप में अनुदित हो गयी हैं ।

देखत तव रचना विचित्र अति : बिम्ब का शिल्प विधान क्या है—कौन-कौन से तकनीकी आयाम हैं :

तुलसीदास की बिम्बन प्रक्रिया के तीन आयाम हो सकते हैं :

(१) सर्जनात्मक कल्पना द्वारा प्रसंग या परिवेश की नियोजना तथा आत्मनिष्ट अनुभूति का वस्तुनिष्ट विन्यास ।

(२) अभिव्यंजना के लिए शब्द, अर्थ, लय, संगीत, शब्द शक्तियाँ एवं अप्रस्तुत का उपयोग ।

(३) विशेष से सामान्य द्वारा अनुभूति को सर्व संवेद्य बनाना ।

तुलसीदास मध्ययुगीन सगुण भक्ति काव्य धारा के प्रमुख कवि हैं । इसलिए आवश्यक है कि मध्ययुगीन कल्पना के सदर्भ में इनके विम्ब-विन्यास के विविध आयामों का आँकलन किया जाय । मध्ययुगीन कल्पना से तोन प्रमुख तत्त्व हैं :

(१) समय एवं विवेक की प्रधानता ।

(२) अप्रस्तुत योजना

(३) वस्तु और भाव का अनुवर्तन ।

इस युग की कल्पना स्वच्छन्द नहीं है । उसमें नियमानुर्वतिता का आग्रह है । उसमें विवेक या संयम का अनुशासन है । सगुण भक्तों की कल्पना में सहज भावुकता और अनुभूति की प्रधानता होते हुए भी उसमें एक साम्प्रदायिक या शास्त्रीय अकुंश विद्यमान है । परिणामतः उसकी कल्पना का वृत्त व्यापक नहीं है । वह एक निश्चित बिन्दु पर कुछ सादृश्य-संघटनों द्वारा अपने अभिप्सित भावों को व्यक्त करती है । कारणस्पष्ट है— व्यक्ति की प्रधानता का न होना तथा काव्यपरम्पराओं का रूढ़ात्मक अनुगमन । व्यक्ति की अपेक्षा मानवेतर दिव्य पुरुष की अवधारणा द्वारा भावों की अभिव्यक्ति ही कल्पना का प्रमुख कार्य रहा है अगर प्रकृत पुरुषों का यशगान किया जाता है तो उनकी दृष्टि में शारदा को कष्ट होता है : कीन्हे प्राकृत जन गुन गाना सिर धुनि गिरा लगत पछिताना ।[१८]

तुलसी की कल्पना का स्वरुप यही है। इसमें भाव और वस्तु का अनुवर्तन तथा संयम का अनुशासन है। मध्ययुगीन काव्य विम्ब में इस कल्पना का विशेष महत्त्व है। कवि अनुभूतियों के निर्वैयक्तिकरण द्वारा विम्व सर्जन करता है। इसके लिए दो मार्ग हैं एक तो वह है जिसे इलियट ने कुछ इस प्रकार कहा है कवि को निर्वैयक्तिक होने के लिए यह चाहिए कि वह परम्परा के ज्ञान, ऐतिहासिक चेतना द्वारा अपने छोटे से निजमन को व्यापक समष्टिमन में डूवा दे जिससे उसमें उसकी सारी परम्परा वोल उठे। दूसरामार्ग है अपनी भावनाओं को परम्परा प्राप्त आदर्श पुरूषों की भावना से एकमेक कर देने की और पुनः उस विशेष को सामान्य बनाकर साधारणीकरण द्वारा रसवोधकराना। निर्वैयक्तिक होने का एक उपाय और है। कवि को चाहिए कि वह आत्मतत्त्व निरपेक्ष पदार्थों का प्रयोग करें। काव्य में ये पदार्थ व्यक्तिगत वासना के द्योतक न होकर तटस्थ अनुभव रह जाते हैं। तुलसी का कथन है :

उपल वरसि गरजत तरजि, डारत कुलिस कठोर।
चितव कि चातक मेघ तजि कबहुँ दूसरी ओर ॥[१८]

प्रेम की अनन्यता को चातक के माध्यम से व्यक्त करना अभीष्ट है। प्रिय के प्रति प्रेम की एक निष्ठता ऐसी ही होनी चाहिए सभी उत्पीड़न और अत्याचार को सहते हुए भी प्रेमी अपने प्रेमपन से नहीं डिगता यहाँ चातक का प्रेम आत्मतत्व असम्पृक्त पदार्थ हैं। इसके माध्यम से तुलसीदास ने प्रेम के सार्वभौम अनन्य स्वरूप की व्यंजना को हैं जो विशेष न होकर सामान्य द्वारा सहृदय को सहज संवेद्य है। 'उपल वरसि' गरजत तरजि, डारत कुलिस' के बिम्व अत्याचार-उत्पीड़न के भाव की विम्बात्मक अभिव्यक्ति करते हैं। भारतीय काव्य शास्त्र में इसी को ध्यान में रखकर विभाव अनुभाव की योजना है, जहाँ प्रसंगों की नियोजना द्वारा कवि अपनी अनुभूतियों को मूर्तितकरता है। इस अवस्था तक कवि का सारा व्यापार कल्पनाश्रित है। पर जब तक उसका सम्प्रेषण नहीं होता, तब तक कोई अर्थ नहीं हैं। इसलिए अभिव्यंजना के माध्यम भाषा, लय, संगीत, शब्द शक्ति और अप्रस्तुतों का आश्रय लेना पड़ता है।

विम्वों के निर्माण में तुलसी ने शब्द-शक्तियों का भी आश्रय लिया हैं। लक्षणा द्वारा इश पंक्ति में स्पष्ट बिम्व अपना एक अलग ही महत्त्व रखता है :

"मनहु उमगि अँग, अँग छबि छलकै"

इस पँक्ति का लक्ष्यार्थ अत्यन्त महत्वपूर्ण है। अभिधा का अर्थ तुलनात्मक रूप से कोई महत्व नहीं रखता है। इसका लक्ष्यार्थ है रूप सौन्दर्य का अत्यधिक मात्रा में प्रकट होना। अंग प्रत्यंग से शोभा की तरलता छलक रही है। 'छलकै' शब्द पूरे रूप को तरल कान्ति से आप्लावित करता है। रूप की जो छवि अंग अंग में अनुभूति का विषय थी, वही अब प्रभूत परिमाण में चाक्षुष प्रत्यक्ष होकर तरल बनकर छलक रही है।

व्यंजना शक्ति भी विम्ब को उभारती है। इसके लिए एक उद्धरण प्रस्तुत है :

जो आपन चाहै कल्याना। सुजसु सुमति सुभगति सुखनाना।
सो परनारि लिलार गोसाईं। तजउ चउथि के चंद की नाईं ॥[१९]

नारी ललाट की शोभा का परिमाण चौथ का चाँद है या द्वितीया का चन्द्रमा है क्योंकि दोनों निष्कलुष हैं। नारी सौन्दर्य भी निष्कलुष होता है। पर दृष्टि के बदलने । व्यक्ति को कलंक भी लग सकता है। "तजौ चौथि के चंद" से एक नये भाव की व्यंजना है— चौथ का चाँद मंगलकारी भी होता है और कभी-कभी उसे देखने पर कलंक भी लगता हैं। पर वह चाँद स्वयं निष्कलुष हैं। इसी प्रकार व्यक्ति नारी सौन्दर्य की आलोकमयी किरणों से जीवन मंगलमय बना सकता है। पर कामपरक दृष्टि उसे कलंकित कर सकती है, उसका जीवन आज्ञानान्धकार में जल सकता है। प्रस्तुत विम्ब में नारी सौन्दर्य के साथ ही द्रष्टा के देखने की दृष्टि का भी संकेत है। आशय हैं वस्तुगत सौन्दर्य का आन्तरिक मूल्य द्रष्टा के आन्तरिक जगत की उदात्त अनुभूति का रुपायन हैं।

उपमान विम्व-रचना का एक माध्यम है क्योंकि विम्व में सादृश्य-मूलक संघटना इसी की सहायता से की जातो है। पर फिर भी उपमान बिम्व नहीं हो सकता, वह उसका एक साधन हो सकता। क्योंकि उपमान की अपेक्षा विम्व का वृत्त विस्तृत होता है। प्रत्येक उपमान का अपना बिम्व है, उसी के द्वारा अभिप्सित भाव की व्यंजना को जाती हैं: तुलसी के उपमान के माध्यम से निर्मित विम्ब को लें:

> लता भवन ते प्रकट भे तेहि अवसर दोउ भाइ।
> निकसे जुनु जुग बिमल विधु जलद पटल बिलगाइ ॥[२०]

राम-लक्ष्मण की छवि तथा उनके नेत्र सुभग, शीतल कान्ति के लिए मेघ खण्ड के बीच प्रकट होते चन्द्रमा का दृश्य लाया गया है। मूल भाव है राम-लक्ष्मण के नेत्र को शीतल करने वाले आह्लादक सौन्दर्य की व्यंजना। इसके लिए उपमान लाया गया हैं—मेघ खण्ड बीच चन्द्रमा।" लता की श्यामलता–मेघ खण्ड के परिवेश को उपस्थापित करती है और उससे प्रकट होते राम लक्ष्मण मेघ के बीच से प्रकट होते चन्द्रमा को रूपायित करते हैं— गुण और पदार्थ दोनों के साम्य पर यहाँ विम्ब की रम्यता व्यक्त होती है।

भाव भेद रस भेद अपारा : बिम्ब की अनेक रूपता

तुलसीदास के काव्य में विम्बों का प्राचुर्य और वैविध्य है सामान्य रूप से इनके विम्बों के विभाजन का तीन आधार हो सकता है:

(१) बिम्बों का ऐन्द्रिय आधार।

(२) बिम्बों का सर्जनात्मक-कल्पना का आधार।

(३) विम्बों का अनुभूतिमूलक आधार।

ऐन्द्रिय आधार पर बिम्वों के पाँच भेद हैं:—

(१) दृश्य या चाक्षुष-विम्ब

(२) श्रव्य बिम्ब

(३) स्पृश्य विम्ब

(४) घ्रातव्य बिम्ब

(५) आस्वाद्य बिम्ब

कभी कभी विभिन्नविम्वों में विपर्यय भी होता रहता है। अतः ऐन्द्रियसन्निकर्ष-जन्यविम्वों में ऐन्द्रिय-विपर्यय विम्व भी हो सकता है। सबसे पहले तुलसी का एक चाक्षुप-विम्व द्रष्टव्य है :

चाक्षुषविम्व :

"उदित उदयगिरि मंच पर, रघुवर बाल पतंग।
विकसे संत सरोज सब हरखे लोचन भृंग॥"[२१]

इसमें राम के रूप लावण्य के प्रभाव की मूर्त अभिव्यक्ति चाक्षुष विम्वों के द्वारा की गयी है। परिवेश स्वयंवर का है राम मंच पर जाते हैं शोभा देखकर सभी संत गण कमल की भाँति खिल जाते हैं। राम सूर्यवंशी हैं—उनका उदय कमल का प्रकाशक है और कमल के खिलने पर भौंरे प्रसन्न होते हैं। इसी भाव की व्यंजना करनी है। संतों के लिए 'सरोज', नेत्र के लिए 'भृंग', मंच के लिए 'उदयगिरि' और वालक राम के लिए 'वालपतंग' विम्व लाये गये हैं। इनकी रेखाएँ स्पष्ट हैं और वे एक संश्लिष्ट चित्र भी उभारती हैं। पर रंगों का आलेपन उतना नहीं हो पाया है जितना आवश्यक है। इसलिए रेखाएँ चटक होकर भी वर्ण की आभा (शेड्स आफ कलर) से शून्य हो जाती हैं। पर इसका आशय यह नहीं है कि तुलसी में वर्णो का वर्णन (कलरिंग) नहीं है एक उदाहरण इस कथन को स्पष्ट कर देगा:—

अनुरूप वर्ण-योजना प्रधान विम्व :—

चम्पक हरवा अंग मिलि अधिक सुहाइ।
जानि परै सियहियरे जब कुम्हिलाई॥[२२]

सीता ने चम्पे की कली का हार पहन रखा है। पर उनके अंग की चम्पईद्युति चम्पे की चम्पई कान्ति से मिलकर एक मेक हो गयी है—परिणामतः उसे पहचानना कठिन हो रहा है कि सीता ने माला भी पहन रखा है। पहचान तभी होती है, जव चम्पे की माला कुम्हला जाती है। पूरा रूप-विम्व चाक्षुष ही है—पर रूप की रेखाएँ कम रंगों का अनुलेपन ही अधिक है इस प्रकार विम्वों की वर्ण-योजना में तुलसी का अपना एक अलग वैशिष्ट्य है।

श्रव्य या नाद विम्व :

नाद विम्व के विधायक तत्त्व हैं : वर्ण-ध्वनि, छान्दसलय, तुकान्त अनुप्रास आदि। इनके माध्यम से नाद विम्वों की योजना होती है :

(क) घन घमंड नभ गर्जत घोरा।[२३]
(ख) कंकन किंकिनि नूपुर धुनि सुनि।
कहत लखन सन रामु हृदय गुनि॥
मानहु मदन दुंदुभी दीन्हीं।
मनसा बिश्व विजय कहँ कीन्हीं॥[२४]

पहले उद्धरण में महाप्राण वर्णध्वनि का अपना श्रव्यविम्व है साथ ही साथ चौपाई की लय का एक स्वतंत्र बिम्ब उभरता है और ये दोनों बिम्ब मिलकर एक संश्लिष्ट नाद-विम्ब को प्रस्तुत करते हैं। दूसरा उद्धरण नादनुप्रास के माध्यम से श्रव्य-विम्ब को उत्पन्न करता है। कंकन किंकिनि शब्द नूपुर की ध्वनि के अनुरूप ही प्रयुक्त होकर कर्ण सुभग बनता

है। अनेक श्रव्यबिम्वों की योजना ध्वनि-प्रतीकों पर भी होती है। इस चौपाई में 'दुंदुभी' द्वारा उसी प्रकार के ध्वनि-प्रतीक-बिम्ब का निर्माण हो रहा है।

स्पृश्य बिम्ब :

स्पर्श जन्य संवेदनों के आधार पर स्पृश्य-बिम्ब बनते हैं। इसलिए इसमें स्पर्श-बिम्ब वाचक शब्दों कोमल, कर्कश, कठोर, मुलायम आदि विशेषणों द्वारा यह स्थिति उत्पन्न की जाती है जो बिम्ब को उभार सके :

तह तरु किसलय सुमन सुहाये। लछिमन रचि निज हाथ डसाये॥
तापर रूचिर मृदुल मृगछाला। तेहि आसन आसीन कृपाला॥[२५]

यहाँ "मृदुल मृगछाला" और 'किसलय' की कोमलता, स्पृश्यबिम्वों को उद्‌बोधित कर रही है।

घ्राण-बिम्ब

साहित्य में घ्राण-बिम्ब की योजना विरल है। क्योंकि इन बिम्बों की संश्लिष्ट योजना के लिए प्रखर ऐन्द्रिय संवेदन की आवश्यकता है। कीट्स जैसे अंग्रेजी के रोमांटिक कवि में भी यह बिम्ब बहुत कम है। तुलसीदास में सूर की अपेक्षा घ्राण-बिम्ब कम है। सामान्यतया घ्राण-प्रतीक पुष्पों के चयन द्वारा इस प्रकार के बिम्बों को उभारने का प्रयास किया गया है :

सिय तुव अंग रंग मिलि अधिक उदोत। हार बेलि पहिरावौं चंपक होत॥[२६]

बेले का हार और चम्पा का प्रयोग गन्ध प्रतीक द्वारा गन्ध बिम्ब को व्यक्त करता है।

आस्वाद्य-बिम्ब

इस प्रकार के बिम्ब ज्यादा सुलभ हैं। क्योंकि रूप-सौन्दर्य की व्यंजना में ये बिम्ब अधिक सहायक हैं :

सुनि सुन्दर बैन सुधारस-साने, सयानी हैं जानकी जान भली॥[२७]

यहाँ 'बैन' के लिए 'सुधारससाने' आस्वाद्य बिम्ब को उभारता है।

ऐन्द्रियविपर्ययबिम्ब

इस प्रकार की बिम्ब योजना में इन्द्रिय विपर्यय हुआ करता है प्रत्येक इद्रियानुभय गम्य बिम्ब दूसरे ऐन्द्रिय संवेद्यबिम्ब के साथ विपर्यय रूप में प्रयुक्त होते हैं :

(क) बंदउ लछिमन पद जल जाता। सीतल सुभग भगत सुखदाता॥[२८]

(ख) कमनीय कलेवर कोमल स्यामल गौर किसोर, जटा सिर सोहैं॥

(क) उद्धरण में 'पद' दृश्य-बिम्ब के लिए स्पर्श-बिम्ब 'सीतल और उद्धरण (ख) में 'किसोर' चाक्षुष बिम्ब या रूप बिम्ब के लिए स्पर्श-बिम्ब 'कोमल' का प्रयोग हुआ है :

सर्जनात्मक कल्पना के आधार पर निर्मित बिम्ब प्रकार

स्मृति-बिम्ब

स्मृति के आधार पर बिम्बों का निर्माण होता है। इसमें कल्पनानिष्क्रिय रहती है। कवि अतीत की स्मृति पर यथार्थ परक चित्रों को उभारता है—इससे केवल अर्थ ग्रहण हीं होता है—बिम्ब का संश्लिष्ट रूप नहीं उभारता :

बिटप बेलि तृन अगनित जाती—फल प्रसून पल्लव बहु भाँति।
सुन्दर सिला सुखद तरु छाँहीं—जाइ बरनि बन छबि केहि पाहीं॥
सरनि सरोरुह जल बिहग कूजल, गुंजत भृंग।
बैर बिगत बिहरत बिपिन मृग बिहंग बहुरंग॥[२९]

लक्षित और उपलक्षित बिम्ब :—

जब प्रस्तुत द्वारा ही चित्रों को उभारा जाता है, उस समय लक्षित बिम्ब या [डाइरेक्ट इमेजरी] होती है, परन्तु जब भी अप्रस्तुत द्वारा चित्रों को उभारा जाता है, उस समय उपलक्षित या [फिगरेटीव इमेजरी] होती है। यहाँ एक ही उद्धरण में दोनों रूप द्रष्टव्य है :

काम कोटि छबि स्याम सरीरा नील कंज वारिद गंभीरा
अरुन चरन पंकज नख जोतीकमल दलन्हि बैठे जनु मोती } उपलक्षित बिम्ब।[३०]

रेख कुलिस ध्वज अंकुस सोहे। नुपूर धुनि सुनि मुनि मन मोहे॥
कटि किंकिनी उदर त्रय रेखा। नाभि गंभीर जान जेहिं देखा॥ } लक्षित बिम्ब।[३१]

पहली चार पक्तियों में कवि प्रौढ़ोक्ति सिद्ध अप्रस्तुतों द्वारा रूप-बिम्ब को निर्मित किया गया है, इसलिए यह उपलक्षित बिम्ब है। दूसरी चार पंक्तियों में राम का चित्र उपलक्षित बिम्बों को रूपायित करता है। ऐसे तो लक्षित बिम्ब वर्णन मात्र ही होते हैं, उनसे रूप की रेखाएँ ही उभरती हैं। परन्तु कभी कभी विशेष भाव को व्यक्त करने के उद्देश्य से भी लक्षित बिम्ब की योजना होती है :

हे खग मृग हे मधुकर श्रेनी। तुम्ह देखी सीती मृग नयनी॥
खंजन सुक कपोत मृग मीना। मधुप निकर कोकिला प्रवीना॥
कुंद कली दाड़िम दामिनी। कमल सरद ससि अहि भामिनी॥
वरुन पास मनोज धनु हंसा। गज के हरि निज सुनत प्रसंसा॥
श्रीफल कनक कदलि हरषाहीं। नेकु न संक सकुच मन माहीं॥[३२]

अपने लौकिक सौन्दर्य से सीता ने सौन्दर्य के उपमान रूप में प्रयुक्त सभी उपमानों को अपने में समाहित कर लिया। परिणामतः सभी आशंकित और त्रस्त थे पर सीता के लुप्त होने पर ये सभी प्रवल प्रतिद्वन्द्वी से मुक्त होकर गये, परिणामतः उनका सौन्दर्य अभी प्रशंसित है। इस भाव की व्यंजना के लिए लक्षित बिम्ब लाया गया है, पर प्रसंग गर्भत्व के कारण यह बिम्ब भाव-परक बिम्ब बन जाता है।

बिम्बों का अनुभूतिपरक आधार

(क) सरल अनुभूतिमूलक बिम्ब :

बहुरि बदन बिधु अंचल ढाँकी। पिय तन चितै भौंह करि बांकी॥
खंजन मंजु तिरीछे नैननि। निज पति कहेउ तिन्हहिं सियसैननि॥[३३]

इस बन्ध में पवित्र दाम्पत्यरति की मनोहर व्यंजना काम्य है। कुलवधू की महत्ता, गौरव और माधुर्य उसके शील और मर्यादोचित लज्जा में ही है। प्रस्तुत चित्र में बिम्ब की

रेखाएँ स्पष्ट और रंग भास्वर है। ग्राम वधूओं के पूछने पर लज्जा के अभ्युदय से नेत्रों में तिरछापन, भौहों में बाँकपन और शील के प्रभाव से 'चन्द्र वदन पर घूँघट का कढ़ जाना', ये सब क्रिया-विधायक बिम्ब [फन्कसनल-इमेज] को प्रस्तुत करते हैं—इसमें रंग एक और बिम्ब की रेखाएँ भी स्पष्ट हैं।

(ख) मिश्र अनुभूतिपरक बिम्ब :

पुर तें निकसी रघुबीर बधू, धरि धीर दए मग में डग द्वै।
झलकी भरी भालकनी जल की, पुट सुखि गये मधुराधर वै॥
फिर बूझति हैं चलनो अब केतिक, पर्नकुटी करि हौ कित ह्वै।
तिय की लखि आतुरता पिय की अँखियाँ अति चारु चलीं जलच्वै॥[१४]

इस चित्र में स्वतंत्र 'श्रम' भाव की व्यंजना है। सीता के श्रम और आतुरता की व्यंजना के लिए कई चित्र उभारे गये हैं। सीता के भाल पर श्रम की बूदों की झलक, अधरों के दोनों दलों का सूख जाना, पुनः आतुरता के व्यंजक शब्द 'चलनो अब केतिक' आदि। अन्त में राम के दयार्द्र होने का चित्र : आँखों में अश्रु-जल भरने द्वारा अंकित है। श्रम, आतुरता, दयार्द्रता की प्रेरक मानसिक और शारीरिक क्रियाओं के व्यंजक विभिन्न रंग और रेखाओं के माध्यम से मिश्र बिम्ब की रचना की गयी है।

(ग) जटिल अनुभूतिपरक बिम्ब :

तुलसी की अनुभूतियाँ सरल हैं। उसमें सहजता हैं। इसलिए इनके बिम्बों में जटिलता नहीं है। अतः जटिल बिम्बों का अन्वेषण तुलसी के काव्य में समीचीन नहीं होगा।

कभी-कभी अमूर्त भाव की व्यंजना के लिए ऐसे शब्दों का प्रयोग होता है जो अभीष्ट बिम्ब को प्रस्तुत करने में समर्थ हैं :

"हौं सनाथ ह्वै हौं सही, तुमहूँ अनाथ पति जौ लघुतहि न भितैहौ।"

यहाँ 'लघुतहि' अमूर्त है। इसका अपना कोई यहाँ स्वतंत्र बिम्ब नहीं है। पर 'भितैहौ' शब्द से भयभीत होने की जो आशंका मन में उठती है वह एक भयावह दृश्य या व्यक्ति के बिम्ब को उभारता है। 'लघुतहि', भितैहौ' के साहचर्य से एक बिम्ब उपस्थित करता है : 'लघुता से भयभीत होना।' बड़ों का छोटों से बात न करना इस तथ्य का सूचक है कि उनसे डर के कारण ही वे बात नहीं करते। डर इस बात का है कि लोग देखकर क्या कहेंगे—यही न कि इतने बड़े होकर ऐसे छोटे से बात-चीत कर रहे हैं।

सब उपमा कबि रहे जुठारी : नये उपमानों का विन्यास

बिम्बों की नवीनता, भास्वरता और उर्वरता उसके नूतन प्रयोग पर आधृत है। इसलिए बिम्ब के संदर्भ में मौलिकता का प्रश्न स्वभाविक है। काव्य में बहुप्रचलित उपमान जब मैले हो जाते हैं, उनसे निर्मित बिम्ब रूढ़ बन जाते हैं, तब समर्थ कवि या तो नये बिम्बों की योजना करता है या उन्हीं बिम्बों के घिसे रूप को नयी अर्थवत्ता से अनुप्राणित कर उभारता है। बिम्बों में वैचित्र्य और आकर्षण लाने के लिए कवि परम्परागत रूढ़ निर्जीव उपमान और उनसे निर्मित या आश्रित बिम्बों को छोड़ कर नये उपमानों की खोज करता है

और फिर उनसे अभिनव बिम्बों को रचता है। तुलसीदास ने अधिकांशतः परम्परित उपमानों के माध्यम से ही बिम्बों को उभारने का प्रयास किया है। पर गुणात्मक दृष्टि से उन्होंने कुछ ऐसे बिम्बाधायक शब्दों एवं उपमानों की खोज भी कीहै जिसका अपना अलग ही वैशिष्ट्य है। उक्त कथन की कुछ उदाहरणों द्वारा व्याख्या अपेक्षित है।

भारतीय काव्य या धर्म-साधना में कच्छप एक विशेष प्रसंग में प्रयुक्त हुआ करता था। मूलतः कच्छप का एक पुरावृत्तात्मक [मिथिक फार्म] रूप है। भारतीय सृष्टि-संरचना [इन्डियन कॉसमॉलॉजिकल मिथ] पुराक्लृप्त के अनुसार कच्छप ने सम्पूर्ण पृथ्वी को धारण किया है। पुरावृत कथा [मिथिक स्टोरी] के अनुसार समुद्र मंथन के समय विष्णु ने कच्छप रूप में अवतार लेकर मदराचल पर्वत को धारण किया :

सो मैं बरनि कहौं बिधि केही। डावर कमठ कि मंदर लेही ॥[३५]

यहाँ पर 'कच्छप' का विम्ब परम्परागत हैं। इससे एक पुरावृतात्मक रूप उभरता है। यह एक प्रकार से परम्परित बिम्ब है। पर तुलसीदास ने दूसरी जगह कच्छप का उपमान नवीनता के साथ प्रयुक्त किया है :

"रामहि बन्धु सोच दिन राती। अंडहि कमठ हृदय जेहि भाँती ॥"[३६]

ऐसी धारणा है—कच्छप अंडे पर बैठ कर सेवा नहीं करता, पर दूर से ही कपनी दृष्टि उस पर रक्षा के लिए रखता है। वह उससे दूर नहीं रहना चाहता ठीक इसी प्रकार राम भी भरत के प्रति रक्षा दृष्टि रखे हुए हैं। दूर रह कर भी उनकी दृष्टि भरत के मांगल्य के लिए श्रेयस्कर है। इस भाव की व्यंजना के लिए एकदम नए उपमान की योजना की गयी है।

(ख) जनक वचन छुए बिरवा लजारू के से।
बीर रहे सकल सकुच सिर नाइ कै ॥

प्रसंग धनुषयज्ञ का है। सभी राजा जनक के क्षोभपूर्ण वाक्य को सुन चुके हैं। इसे सुनकर लक्ष्मण को तो अमर्ष हुआ पर अभिमानी राजा लज्जा से गड़ गये। लज्जा के उत्कर्ष और क्रिया के बिम्ब प्रतिबिम्ब रूप को रूपायित करने के लिएं 'लाजवन्ती' पौधे का उपमान रखा गया। इस पौधे को स्पर्श करने से ही इसकी पत्तियाँ झुक जाती हैं—संकुचित हो जाती हैं। राजा भी जनक के वचनोपरान्त, धनुष न टूटने की लज्जा से संकुचित होकर अपने मस्तक को नीचा कर दिय। लज्जाभाव की अभिव्यक्ति केलिए 'सिरनाइ' का प्रयोग महत्त्वपूर्ण हैं। नये उपमानों का ऐसा प्रयोग नव नवोन्मेष शालिनी प्रतिभा का परिणाम है।

इस अनुशीलन से स्पष्ट है कि तुलसीदास के बिम्बों में वैविध्य और प्रचुरता हैं। उनके बिम्बों की रेखाएँ प्रखर तथा रंगों का उभार अनुरूप वर्णों केनुसार ही है। इसलिए क्रिया, गति और पदार्थ तथा गुण के साम्यमूलक उपमानों पर आश्रित तुलसी के बिम्बों का अपना एक वैशिष्ट्य है। तुलसी का बिम्ब विन्यास भाव और वस्तु की चारुता और एकान्विति की दृष्टि से अनुपम है!

संदर्भ ग्रंथो की सूची

[१] राम चरित मानस : बालकाण्ड, ३८९ से ११

[२] एरिक न्यूटन : मिनिंग ऑफ ब्यूटी, पृ० ९०

[३] राम चरितमानस : अयोध्याकाण्ड २४०-२, ३

[४] राम चरितमानस : अयोध्याकाण्ड २४०-४ से ६

[५] कवितावली बालकाण्ड ५

[६] राम चरित मानस-बालकाण्ड २२९-७

[७] एरिक न्यूटन : मिनिंग ऑफ ब्यूटी पृ० ८९

[८] सी० डे० लेविस : पोयटिक इमेज पृ० २२

[९] राम चरित मानस : सुन्दरकाण्ड १४-६,७

[१०] राम चरित मानस : सुन्दरकाण्ड ३०-५ से ८

[११] राम चरित मानस : अयोध्याकाण्ड दो० १४६

[१२] गीतावली : अयो० ४७

[१३] गीतावली अयोध्याकाण्ड ५०

[१४] एब्रम : द मिरर एन्ड द लैम्प

[१५] "It must go further still : that soul must become. Its own betryer, its own deliverer, the one activity, the mirror turn lamp." W. B. yeats.

[१६] मानस : बालकाण्ड २३१-२

[१७] मानस : बालकाण्ड १०-७

[१८] दोहावली २८३

[१९] मानस सुन्दरकाण्ड ३७-५

[२०] मानस : बालकाण्ड दोहा २३२

[२१] वही ,, दोहा २५४

[२२] बरवै रामायण बालकाण्ड २२

[२३] मानस किष्किन्धाकाण्ड १३-१

[२४] मानस : बालकाण्ड २२९-१,२

[२५] मानस लंकाकाण्ड १०-३,४

[२६] बरवैरामायण बालकाण्ड १३

[२७] कवितावली अयोध्याकाण्ड २७

[२८] मानस : बालकाण्ड १६-५

[२९] वही अयोध्या २४८-७ से दो० २४९

[३०] वही बालकाण्ड १९८-१,२

[३१] वही ,, १९८-३,४

[३२] वही अरण्यकाण्ड २९-९ से १३

[३३] वही अयोध्याकाण्ड ११६-६,७

[३४] कवितावली अयोध्याकाण्ड ११

[३५] मानस अयोध्याकाण्ड १३८-७

[३६] मानस अयोध्याकाण्ड ६-८

मानवीय संस्कृति की महान् गाथा 'मानस'

डा० सूर्यनारायण द्विवेदी
प्रवक्ता, हिन्दी विभाग
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय

अनादि काल से मानवीय भावनाओं और अनुभूतियों के विभिन्न स्तरों को उनकी अशेष गहराई के साथ अंकित करने में विश्वसाहित्य के गाथाचक्रों का महत्वपूर्ण योगदान रहा है। विभिन्न देश, काल, संस्कृति से सम्बद्ध विभिन्न देशभाषाओं में प्रतिविम्बित यह साहित्य-सम्पदा मानवीय-सम्वेदना से इतना निकट का सम्बन्ध जोड़ती आई है कि आज भी इस प्रकार के उत्कृष्ट साहित्य का संसार की विभिन्न जातियों एवं संस्कृतियों में अभाव नहीं। सच तो यह है कि ऐसी गाथाएं समय-समय पर प्रगति एवं निगति के विभिन्न मोड़ों से गुजरने वाली मनुसन्तति की पद-पद पर पथ प्रदर्शिका भी रही है। इनमें प्रतिबिम्बित अतीत एक ओर वर्तमान का नियामक तो दूसरी ओर भावी मानव समाज का प्रेरणा स्रोत रहा है। यही कारण है कि नित्यनूतन मानवीय चेतना भी इस प्रकार के वाङ्मय से अपना नाता नहीं तोड़ सकी है। भारत की राष्ट्रभाषा हिन्दी का रामचरित मानस ऐसे ही गाथा चक्रों की अमूल्य निधि है।

विश्व के गाथाचक्रों के पर्यवेक्षकों ने इन्हें अध्ययनीय सुविधा के लिए तीन मोटे-मोटे विभागों में रेखांकित करना चाहा है : १—लोक विश्वास, निजन्धरी एवं धर्म प्रधान गाथाएँ २—वीर भावना प्रधान गाथाएँ एवं ३—प्रणय भावना प्रधान गाथाएँ। आगे चलकर लोकविश्वास, निजन्धरी एवं धर्म प्रधान गाथाओं ने पौराणिक एवं ऐतिहासिक गाथाओं का रूप लिया। वीर प्रधान गाथाओं से वीर भावना प्रधान वाङ्मय सामने आया एवं प्रणयभावना-प्रधान गाथाएँ रोमांटिक साहित्य का प्रेरणा स्रोत बनीं। जहाँ तक 'रामचरित मानस' का संबंध है, वह मूलतः पुराण एवं इतिहास से प्रेरणा लेकर लोक विश्वासात्मक गाथा के रूप में हिन्दी संसार की निधि बना।

भारतीय ज्ञान की अनादिकालीन निधि वेदों एवं वेदांगों में संरक्षित है, ऐसा भारतीयों का विश्वास रहा है। वेदों को उसके ज्ञाता मनीषियों ने परोक्षवादी भी कहा है। उसमें निहित ज्ञान के वास्तविक तथ्य की प्रत्यभिज्ञा के लिए उसी परम्परा में आगे उपबृंहण का मूल आधार घोषित किया गया है। इसीलिए भारतीय वाङ्मय के वेदोत्तर कालीन साहित्य (पुराण एवं इतिहास) की मूल्यवत्ता स्वभावतः बढ़ी। रामचरित मानस का सम्पूर्ण कथाफलक न केवल उस मूल्यवती निधि से उपकृत हुआ है अपितु अशेष स्तरों पर उसने अपने उपकर्ता ग्रन्थों एवं ग्रन्थकारों का आभार भी स्वीकार किया है। यही क्यों कदाचित् पग-पग पर अपनी कृति के प्रतिपाद्य को अपने राष्ट्र की अनादिकाल से आती हुई परम्परा के उत्कृष्टतम उपलब्ध सत्यों से अपृथक् एवं अभिन्न भी घोषित किया है। मानसकार इस संबंध में संदेह की कोई गुंजाईश नहीं रहने देना चाहते कि उनकी यह कृति कपोल

कल्पना न होकर भारतीय संस्कृति के शाश्वत मूल्यों से सर्वथा समर्थित एवं समस्त मानव जाति के लिए समान रूप से कल्याण विधायिनी है।

वेदार्थ प्रतिपादक पुराणों में मूलतः गाथाओं का उपयोग कतिपय अनिवार्य एवं अत्यन्त आवश्यक अभिव्यक्तियों के लिए किया जाता रहा है वे हैं— १—जीवन के अशेष अंगों की देशकाल परिस्थिति सापेक्ष अनुभूतियों को रुपायित करने के लिए, २—उत्थानशील देशवासियों की भास्वर प्रतिमाओं में उदात्त विचारों की परिपुष्टि के लिए एवं ३—मानवीय स्तर पर धर्म, नीति, सामाजिकता, व्यक्ति-प्रतिष्ठा, साधना, लोक परलोक चिन्ता, सिद्धान्त विवेचन, वैषम्य संगति एवं शाश्वत प्रश्नों के अपेक्षित समाधान के लिए। पुराणों में प्रायः विविध-गाथा प्रसंगों के द्वारा ऐसे ही तथ्यों को प्रकाश में लाना अभीष्ट था। रामचरित मानस वेद, पुराण, निगम एवं आगम के उन्हीं ऋत-सत्यात्मक तथ्यों के रहस्यों से अपने देश के जन सामान्य को परिचित कराना चाहता था। अतएव स्वभावतः मानस में उपर्युक्त उद्देश्यों की अभिव्यक्ति आसानी से ढूढ़ी जा सकती है।

भारतीय संस्कृति दो प्रकार के सत्यों का उद्घाटन करती एवं उन्हें आचार में आश्रय देती आई है। १—शाश्वत सत्य, जो प्रत्येक स्थिति में अपरिवर्तित होता है एवं २—प्रवाह सत्य, जो परिस्थितियों के अनुसार निश्चित रूप लेता एवं विवेक का आधार लेकर जनता में प्रतिष्ठित होता है। वेदों में पहले प्रकार को ऋत एवं दूसरे प्रकार को ही सत्य संज्ञा दी गई है। जैसा पहले ही कहा गया है कि ऋत शाश्वत सत्य सम्पदा है। अतएव अनादि काल से परम्परा को प्राप्त एवं अनन्त काल तक चलने वाली है। जहाँ तक प्रवाह सत्य का संबंध है उसके रूपों में समय-समय पर युगमनीषियों द्वारा विशेष व्यवस्था द्वारा परिवर्तन लाया जाता एवं व्यक्ति तथा समाज में व्यवस्थाएं बैठाई जाती हैं। रामचरितमानस ऐसे उभयविध सत्य की प्रधान रंगस्थली है जहाँ विविध कथा प्रसंगों से मुख्य सांस्कृतिक पक्ष उद्घाटित हुआ है।

सांस्कृतिक सत्यों का उद्घाटन आवश्यक माध्यम के विना संभव नहीं। माध्यम प्रधान तो नहीं होता पर उसमें निहित तथ्य की अभिव्यक्ति को ध्यान में रखकर उसे विशिष्टता दी जाती है। और अगर माध्यम भी इतना महत्वपूर्ण मिल जाय जिसमें महत्वशील सांस्कृतिक सत्य तो आश्रित हो ही स्वयं लोकविश्वास एवं शास्त्रीय समर्थन भी उसका साथ देता हो तो कहना न होगा कि ऐसा माध्यम अपनी अशेष धारणाशक्ति के साथ किसी भी तथ्य का अभिव्यंजक तो होगा ही स्वयं भी श्रद्धेय हो सकता है। भारतीय पुराणों एवं इतिहासों में मानवीय जीवन में अवतरित होने वाले ऐसे पुरुषों की निरन्तर खोज होती रही, जो मानवीय संस्कृति के मूल सत्य का मूलधार सिद्ध हो सकें। मानवीय प्रज्ञा ने अनुसंधान एवं विचार के बल पर ऐसे महान पुरुषों की खोज कर ही ली, जिनमें एकत्र सारे मानवीय गुणों का उत्कृष्ट आकार हो। बाल्मीकि की चिन्ता एवं नारद का उत्तर जिसमें उन्होंने २४ गुणों से राम नाम के पुरुष के अवतरण की बात कही है, बहुत स्पष्टतया मेरी बात का समर्थन करेगा। मानस ने भी उसी महापुरुष को माध्यम बनाकर मानवीय संस्कृति के शाश्वत मूल्यों को भास्वर अभिव्यक्ति दी और यह स्पष्ट

घोषित किया कि न तो मानस का राम साधारण मानव हैं और न उसमें निहित मानवीय मूल्य साधारण मूल्य। जैसे अमृत स्थापन के लिए अमृत कलश आवश्यक है वैसे ही किसी भी अनुकूल या विपरीत स्थितियों में भी अविचलित हृदय से मानवीय मूल्यों को धारण करने वाला ही ऐसे सत्यों का वाहक हो सकता है। राम को उन्होंने ऐसा ही महान् वाहक पाया। अतएव सम्पूर्ण विप्रतिपत्तियों का निरास कर उन्हें अपनी संस्कृति के मूल्यों से विभूषित कर दिया। क्या स्वार्थ, क्या परमार्थ, क्या नीति एवं क्या प्रीति किसी भी क्षेत्र में राम को अप्रतिम पाकर ही उन्होंने उनके हाथ में अपनी संस्कृति का प्रतिनिधित्व दिया। कुछ लोग मानस में कतिपय सम्प्रदाय एवं वर्ग के नाम देखकर चौंक उठते एवं उस पर साम्प्रदायिक होने का आरोप करना नहीं भूलते। जबकि सच यह है कि राम में विशिष्ट सत्यों की प्रतिष्ठा के बावजूद उन्हें मानवीय भूमिका देने के लिए तत्कालीन समाज का ढांचा तो आधार के लिए आवश्यक ही होता और मानसकार ने वही किया। ऐसे लोग यह भूल जाते हैं कि महान् रचनाओं में भी देश, काल, एवं प्रसंग के आग्रह पर कुछ पुरातन धारणाओं का उल्लेख विश्वास दिलाने के लिए आवश्यक होता है, जिनके बीच रचनाकार बड़ी कुशलता से वास्तविक तथ्य प्रतिपादित करता चलता है। दूसरी ओर वह प्रत्येक स्थल पर केवल तथ्य कथन ही नहीं करता बल्कि वातावरण सृष्टि में भी उलझता है। अतएव केवल उसकी कृति के प्रत्येक-विध वर्णन को लेकर उसे साम्प्रदायिक नहीं कहा जा सकता। तीसरी ओर किसी भी रचना में अपने देशकाल एवं समाज से सर्वथा कटकर कथानक कैसे गढ़े जा सकते हैं। तब स्वभावतः ऐसी रचनाओं में स्थितियों की अभिव्यक्ति के लिए जाति, वर्ग, का नामतः एवं रूपतः कथन तो करना ही होगा। कुछ लोगों को जब ऐसे वर्णनों में साम्प्रदायिकता की बू आए तो उन्हें अपने मानस का संस्कार करके ही किसी सांस्कृतिक सम्पदा का अध्ययन करना चाहिए।

रामचरितमानस ने अपने उद्देश्य की सिद्धि के लिए न केवल अपने से पूर्ववर्ती मनीषियों एवं जन परम्परा से समर्थित राम को अपना माध्यम चुना बल्कि साथ ही साथ उनके चारित्रिक गुणों को सामने लाने के लिए वर्णनीय घटना-क्रमों और उनकी वर्णन पद्धति को भी पूर्ववर्ती गाथा ग्रन्थों की तरह ही लिया। कारण स्पष्ट है कि भारतीय संस्कृति में धर्म, नीति, राजनीति, समाजनीति, व्यवहार एवं विचार की अपृथक एवं अनिवार्य संश्लिष्टता ही इसके लिए प्रेरणा देती आई है। इस संस्कृति में मानव का उत्कृष्टतम प्रतिनिधि-महामानव निश्चित ही सृष्टि के विधाता का उत्कृष्ट मानवीय प्रतिनिधि ही नहीं परमात्म सता का भी अंशावतार माना जाता रहा है। इसीलिए वह महापुरुष कभी-कभी 'भगवान' शब्द से भी अभिहित होता आया है।" भगवान् शब्द से भारतीय मनीषियों ने समग्र ऐश्वर्य, समग्र धर्म, समग्र यश, समग्र श्री, समग्र ज्ञान एवं समग्र वैराग्य को समन्वित रूप में ग्रहण किया है। इसीलिए अपने ऐसे मानवीय प्रतिनिधि में भगवद् गुणों को पाने के कारण उसने उसे परमात्मा का पग-पग पर अवतार माना है। मानसकार जब अपनी रचना के प्रतिपाद्य की घोषणा करने चलते हैं तो उद्देश्य की घोषणा न कर उद्देश्य के आश्रय की ओर इंगित करते हुए कहते हैं "एहि मंह आदि मध्य अवसाना। प्रभु प्रतिपाद्य राम भगवाना।" तो इससे यहां किसी सामान्य पुरुष का वर्णन नहीं अपितु उस महान् पुरुष

का वर्णन समझना चाहिए जिसमें एकत्र भ.रतीय संस्कृति के आदर्शों ने अनायास स्थान पाया है। इस प्रकार मानस एक व्यक्ति नहीं, एक संस्कृति भी नहीं बल्कि एक समग्र मानवीय संस्कृति की अमर गाथा है। परिवर्तनशील आचार विचार क्रम के आवर्त में न फंस कर इसके अध्ययन से समस्त मानव जाति की महानतम संस्कृति के मूल्य पाए जा सकते हैं।

सांस्कृतिक अध्ययन की दिशा में प्रयत्नशील अद्यतन मनीषियों में से कुछ को छोड़कर प्राय: विद्वान एक देश के विभिन्न कालों की सांस्कृतिक धारा को परिच्छिन्न रूप में अध्ययन करने में विश्वास करने लगे हैं। जब कि सत्य यह है कि जब तक यह निश्चित न कर लिया जाय कि संस्कृति का मूलभूत तत्व मूलत: मानवमात्र की सर्वविध विकासशीलता से सम्बद्ध है, संस्कृति, जो किसी एक देश एवं काल की बनेगी वह स्वभावत: निश्चित देश काल के अभिनिवेशों से भी प्रभावित होगी। जबकि शास्वत मानवीय मूल्य देश एवं काल में व्याप्त होने पर भी देश एवं काल से अधिक व्यापक होने चाहिए। व्याप्य एवं व्यापक का संबंध क्रमश: सीमित एवं असीमित दायरे वाला होता है। अतएव मानवीय विकास के महत्तम निदेशक कार्य ऐसी संस्कृति से संभव है जिसमें देश एवं काल के प्रति पक्षपात विहीनता अवश्य हो। अन्यथा सर्वग्राह्यता संभव न हो पाएगी। भारतीय संस्कृति की व्यापकता, सूक्ष्मता, सर्वगाहिता एवं सर्वजन कल्याणमयता का रहस्य न समझने से ही इस संस्कृति के अध्येता उसे विभिन्न देश, काल, जाति, वर्ग, सम्प्रदाय, आदि से सम्बद्ध कर लेते हैं। जबकि वास्तविकता यह है कि यह संस्कृति उन सारे गुणों का एकत्र समन्वित रूप है जो समय समय पर इस देश की मानवीय धारा से जुड़ी है। इस संस्कृति की महानता का स्पष्ट निर्वचन करने के लिए इस देश के समग्र रूप को देखना समझना और हृदयंगम करना आवश्यक हो जाता है। मानस से पूर्ववती वाङमय एवं भारतीय जनजीवन की अनुभूतियों की समग्र संचित तत्व-सम्पदा मानस में एकत्र समन्विति है। इसीलिए अध्येता को आश्चर्य में डाल देती है, जहां अनन्त विरोधाभास युक्त तथ्य एकत्र समन्वित होकर समग्र रचना को उजागर ही नहीं करते अपितु विभिन्न दृष्टियों के अध्येता के अनुरूप सामग्री देकर अध्येता को अपूर्व तृप्ति भी देते हैं। मानस की यह महता उसकी अपनी आत्मसात कृत महत्ता है, जिसे उसने अपने से पूर्ववर्ती उस समग्र वाङमय प्रवाह से पाया है, जो सौभाग्यवश उस की संस्कृति की अशेष भाव एवं विचारधारा को अनायास धारण करते हैं। मानसकार इसीलिए भारतीय संस्कृति के उद्घोषक उन प्रेरणा स्रोतों की असकृत् चर्चा करते हैं, नानापुराण निगमागम संमतं यत्। इस प्रकार मानस में प्रतिविम्बित संस्कृति के कुछ नामों या जोति नामों के कारण उसके शाश्वत सत्य प्रतिपादन में कोई अन्तर नहीं आता।

मानस का अन्त: संघर्ष अशेष मानव के हृदयस्थल का संघर्ष है। उसकी कथा अशेष मानवीय अन्तस्तल की कथा है एवं उसकी जनकजा का उद्धार अशेष मानवीय प्रज्ञा का असात्विक वृत्तियों से उद्धार है। इस रूप में मानस प्रतिमानव की चाहे वह किसी जाति किसी धर्म किसी सम्प्रदाय का हो, अपनी गाथा है, जहां गुंथे उदात्तमूल्य मानवीय महत्तम उद्धार के महान मूल्य हैं। वे किसी भी संस्कृति में पाए जा सकते हैं।

विश्व में अपनी अभिव्यक्तियां को आवश्यक प्रभावान्विति से मंडित करने के लिए रचनाकार अपनी रचना में विविध प्रकार की वैचित्र्य विशिष्ट योजनाएँ करते हैं। ताकि

उनकी कृति का अध्येता सहृदय उसके अशेष कथ्य को रमणीय माध्यम में पाकर ठीक-ठीक आत्मसात् कर पाए। किन्तु कभी-कभी ऐसा होता है कि जब कथ्य ही ऐसा हो कि प्रायः जिसमें मानवीय संस्कृति के प्रत्येक प्राण में स्वभावतः उठने वाले प्रश्नों के संबंध में बात उठाई गई हो, तब तो उस रचना के प्रति आकर्षण स्वयं बढ़ जाता हैं और अगर कथा की रमणीय स्वात्मानुभूति प्रवणता के साथ काव्योचित संस्पर्श भी रचना को अंकित करती हो तो रचना निश्चित ही अमूल्य हो उठती है। मानस असाधारण मानवीय अन्तस्थल के प्रश्नों की बात अत्यन्त साधारण ढंग से उठाता है और प्रश्न की असाधारणता स्वभावतः उसके माध्यम (कविता) में ऐसी चमत्कृति उत्पन्न कर देती है कि रचना एवं उसके कथ्य की समन्विति एक ही साथ दो-दो वैशिष्टचों को अनायास अर्जित कर लेती है। अर्थात् उत्कृष्ट कोटि की महाकाव्यता एवं अत्यन्त उत्कृष्ट कोटि की आध्यात्मिक विराटता। महाकाव्यत्व इसलिए कि सरस्वती का स्वभाव है उत्कृष्टतम कृतियों के लिए विशेष कृपा वितरित करना एवं आध्यात्मिकता इसलिए कि मानवीय आत्मा से सीधे सम्बद्ध प्रश्न ही उसके अपने प्रश्न हैं। इसीलिए मानस एक ही साथ महाकाव्य एवं महान आध्यात्मिक रचना बन पाया है, जिसका अध्येता बिना किसी कठिनाई के एकत्र ही लोकमत एवं वेदमत के वरदान से मंडित इस गाथा-रघुनाथगाथा—को मानवीय चेतना की अपनी गाथा मानकर पग-पग पर तन्मय हो जाता है। सच तो यह है कि मानसकार मानवीय मानस के बीच चलने वाली अप्रतिम गाथा की अभिव्यक्ति के लिए प्रस्तुत हुए हैं न कि कोई मानवीय गाथा मात्र लिखने के लिए और मानवीय मानस एक व्यापक विराट बहुरूप रुपित, अनन्त वैचित्र्य, असीम माधुर्य, अलौकिक साध और अन्तः संघर्षों की रंगस्थली है। अतएव मानस के बीच का गाथा-वैचित्र्य स्वभावतः उसी प्रकार के वैविध्य से ओतप्रोत है। मानवीय मानस (समष्टि) के एक ही होने के कारण मानस की उपलब्धियों से प्रत्येक मानवीय मानस का अकृत्रिम संबंध है। हाँ। अध्ययन यदि असदाग्रह-विहीन हो। अन्यथा अध्येता के अपने ही आग्रह उसकी दृष्टि पर छाकर उसे मानस के अप्रतिम मूल्यों का अवगाहन न करने देंगे। इस संबंध में मानसकार की पंक्तियाँ बहुत स्पष्ट है "तिनकहँ मानस अगम अति जिन्हहिं न प्रिय रघुनाथ।"

महान् संस्कृति की मूल्यवत्ता भी उतनी ही महान् होती है, जहाँ स्वभाव वैचित्र्य, विचारवैचित्र्य, भाववैचित्र्य एवं व्यवहार वैचित्र्य तो मिलते हैं पर उन सबके बीच प्राणवत्ता एक ही होती है। यही कारण है कि उसके बाहक तत्व अशेष प्राणियों के प्राणों को अपनी अभिव्यक्ति देते है। भारतीय संस्कृति के स्वरूप का सृजन करने में अनन्त मानवीय जातियों, व्यक्तियों एवं समाजों ने अपना अस्तित्व विसर्जित कर दिया। फलतः जो उसका रूप प्राप्त हुआ है वह अनन्त औत्सर्गिक साधना का अमृत रस है। मानस में वहीं रस फलाकृति में समाहित है जिसे चखकर ही जाना जा सकता है। मानवीय मानस की इस महान् गाथा में यदि मानवीय संस्कृति प्रतिबिम्बित हो तो क्या आश्चर्य है क्योंकि—न मानवात् श्रेष्ठतरं नु किंचित्।

———

प्रसन्नराघव और 'मानस' के साम्य तत्त्व

परमेश्वर दत्त शुक्ल
शोधछात्र, संस्कृत-पालि विभाग

संस्कृत-साहित्य के नाट्य जगत में महाकवि जयदेव विरचित 'प्रसन्न-राघव' जिस प्रकार चन्द्र सदृश अपनी कान्ति का प्रस्फुरण करता है, उसी प्रकार हिन्दी साहित्य में महाकवि गोस्वामी तुलसीदास विरचित 'रामचरितमानस'। इन महाकवियों ने अपनी रचना को उस काल में जिस सूक्ष्म प्रज्ञा-तूलिका से सजाया है, वह अनुपमेय है। जिस समय हमारे परम-पावन भारत-भूमि से प्रायः धर्म का अवच्छेद हो रहा था इन महाकवियों ने उस काल में बहने वाली धारा के प्रवाह को मोड़ने का सफल प्रयास अपने काव्य के माध्यम से किया है। एक तरफ १३वीं सदी के महाकवि जयदेव ने संस्कृत साहित्य को समृद्ध करते हुए दृश्य काव्य के माध्यम से जन-जन तक अपनी राम भक्ति को प्रसारित करने का प्रयत्न किया तो दूसरी ओर १६वीं सदी के गोस्वामी जी ने हिन्दी साहित्य को समृद्ध करते हुए अपने काव्य के माध्यम से इष्टदेव राम को ही कथा का माध्यम बनाया। इस तरह दोनों कवियों ने रामचरित को ही अपना वर्ण्य विषय बनाकर जनमानस को अपनी प्रकृष्ट प्रतिभा के बल से आकृष्ट किया।

संस्कृत साहित्य का प्रभाव प्रायः हिन्दी जगत के सभी लेखकों एवं महाकवियों पर पड़ा है। मानसकार को भी इससे अछूता नहीं कहा जा सकता। यह दूसरी बात है कि उन्होंने उक्त परम्परा को पूर्णतः आत्मसात् करके नवीन रूप दे दिया हो, परन्तु किसी न किसी रूप में उसकी झलक मिल ही जाती है। इस सन्दर्भ में जब हम 'प्रसन्नराघव' और 'मानस' पर दृष्टिपात करते हैं, तो अन्तःकरण यह कहने के लिए मचल उठता है कि 'मानस' पर 'प्रसन्नराघव' की अमिट छाप पड़ी है। मानसकार ने यद्यपि इसका स्पष्ट उल्लेख नहीं किया है, परन्तु ग्रंथारम्भ में ही इस भावना को पुष्टि कर दी है कि इस ग्रन्थ में वर्णित विषय अनेक आगमों, निगमों और पुराणों से गृहीत हैं।

नानापुराणनिगमागमसम्मतं यद्।[१]
रामायणे निगदितं क्वचिदन्यतोऽपि।
स्वान्तः सुखाय तुलसी रघुनाथ गाथा।
भाषानिबन्धमतिमञ्जुलमातनोति॥

यद्यपि यह भी सत्य है कि 'प्रसन्नराघव' का उपजीव्य ग्रन्थ 'वाल्मीकिरामायण' रहा है परन्तु जयदेव ने 'प्रसन्नराघव' में जिस प्रतिभा से नवीनता प्रस्तुत की है, वह अपने आप में अनूठी है। 'मानस' के रामचरित सम्बन्धी कथानक का आधार 'वाल्मीकिरामायण' ही है फिर भी मानस में प्राप्त कथोपकथन, वर्णनशैली, चारित्रिक विशेषतायें "जयदेवकृत प्रसन्नराघव" से साम्य रखती हैं। इस प्रकार के साम्य को घुणाक्षरन्यायजन्य भी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि घुणाक्षर न्याय जन्य साम्य कुछेक स्थलों पर ही सम्भव है, सर्वत्र नहीं।

---

[१] रामचरितमानस, बाल०-श्लोक, ७

इस तथ्य की पुष्टि के लिए 'प्रसन्नराघव' और 'रामचरितमानस' के उद्धरण विद्वानों के विचारार्थ प्रस्तुत किये जा रहे हैं—

(१) **श्रीरामगुण महिमा**—दोनों ही महाकवियां ने रामचन्द्र के मर्यादापुरुषोत्तमत्व की भूरि-भूरि प्रशंसा की है। पितृभक्ति, मातृभक्ति, गुरुभक्ति, भ्रातृप्रेम, एकपत्नीव्रत, लोक-कल्याण की भावना आदि अनेक गुणों का समन्वय जैसा मर्यादापुरुषोत्तम राम के चरित्र में परिलक्षित होता है, वैसा अन्यत्र पाना दुर्लभ है। यही कारण है कि श्रीरामचन्द्र का चरित्र समग्र मानव समाज के लिये सतत् अनुकरणीय और स्पृहणीय हो गया है। जयदेव के अनुसार उस मर्यादापुरुषोत्तम के गुणगान के लिए जब कोई भी व्यक्ति तत्पर होता है, तभी माँ सरस्वती उसकी रसना पर विद्यमान हो जाती हैं। यथा—

झटिति जगतीमागच्छन्त्याः पितामह विष्टपात्[१]
महति पथि यो देव्या वाचः श्रमः समजायत।
अपि कथमसौ मुञ्चेदेनं न चेदवगाहते,
रघुपति गुणग्रामश्लाघा सुधामयदीर्घिकाम्॥

ब्रह्मलोक से शीघ्र पृथ्वी पर आती हुई सरस्वती को विस्तीर्ण मार्ग में जो श्रम हुआ, उस श्रम को वे कैसे दूर करतीं यदि वे श्री रामचन्द्रजी के गुणसमुदायरूप सुधामय बावली में स्नान नहीं करतीं। धन्य है राम के गुणों का कीर्तन जो भारती को भी सुख देने में समर्थ है। गोस्वामी जी ने भी 'मानस' में इसी तथ्य को उद्‌घाटित करते हुए लिखा है—

भगति हेतु विधि भवन बिहाई। सुमिरत सारद आवति धाई॥[२]
रामचरित सर बिनु अन्हवाए। सो श्रम जाइ न कोटि उपाए॥

इन दोनों उदाहरणों में कितना साम्य है, यह पठन मात्र से ही स्पष्ट हो जाता है।

(२) **पुष्पवाटिका प्रसंग**—'रामचरित मानस' के 'पुष्पवाटिका प्रसंग' को कुछ विद्वान् 'मानसकार' के मस्तिष्क की उपज मानते हैं। परन्तु संभव है यह प्रसंग 'मानसकार' ने प्रसन्न राघव से लिया हो। जैसा कि 'प्रसन्न राघव' के द्वितीय अंक में राम, लक्ष्मण के साथ जनक की वाटिका में महर्षि विश्वामित्र के पूजनार्थ पुष्पचयन हेतु जाते हैं उसी समय जानकी जी भी अपनी सखियों के साथ गिरिजापूजनार्थ उसी रमणीय पुष्पवाटिका में आती हैं। उनके नूपुरों की ध्वनि सुनकर लक्ष्मण उस ओर देखने को उद्यत होते हैं, परन्तु श्रीराम, लक्ष्मण को उधर देखने से मना करते हुये कहते हैं—'परस्त्रीतिशंकापि संकोचाय रघूणाम्'।[3] अर्थात् परस्त्री की शंका भी रघुवंसियो के लिये संकोच का विषय है। गोस्वामी जी ने भी इसी प्रसंग को अपने काव्य में निम्न प्रकार दर्शाया है—

रघुबंसिन्ह कर सहज सुभाऊ। मनु कुपंथ पगु धरइ न काऊ॥[४]
मोहि अतिसय प्रतीति मनकेरी। जेंहि सपनेहुँ पर नारि न हेरी॥

रघुवंसियों का यह सहजस्वभाव है कि वे कभी भी कुमार्ग पर कदम नहीं रखते और मैं अच्छी

---

[१] प्रसन्नराघव, १।११ [२] रामचरितमानस, बालकाण्ड, ११।४,५

[३] प्रसन्नराघव—अंक २, पृ० सं० ९९ चन्द्रकला व्याख्या।

[४] रामचरितमानस–बाल०–२३१।५,६।

तरह जानता हूँ कि वे स्वप्न में भी परस्त्री दर्शन नहीं करते। इस प्रकार यह कहना अनुचित होगा कि पुष्पवाठिका का प्रसंग 'प्रसन्नराघव' से प्रभावित नहीं है।

(३) धनुभंग प्रसंग धनुभंग के प्रसंग में गोस्वामी जी ने 'मानस' में जिन उपमाओं की परिकल्पना की है वे हमें 'प्रसन्नराघव' में उसी प्रकार दृष्टिगोचर होती हैं। परन्तु जैसा क्रम हमें 'मानस' में 'धनुभंग' आदि के प्रसंग में मिलता है, वैसा 'प्रसन्नराघव' में नहीं। 'प्रसन्नराघव' के प्रथम अंक में ही धनुष उठाने के लिये रावण और वाणासुर आते हैं। आने पर उन दोनों में अनेक प्रकार का वाग्युद्ध होता है। परन्तु 'मानस' में ऐसा कहीं दृष्टिगोचर नहीं होता। रावण, वाणासुर के संदर्भ में 'मानसकार' ने मात्र इतना ही दिखाया है कि—

रावनु वानु महा भट भारे। देखि सरासन गवँहि सिधारे ॥[1]

परन्तु 'प्रसन्नराघव' में रावण वेष बदल कर आता है, वह धनुष उठाने की चेष्टा करता है, पर असफल रहता है। तब बाणासुर का भी प्रवेश होता है, वह भी धनुष उठाने की लाख कोशिश करता है, परन्तु वह धनुष को टस से मस भी नही कर पाता। इसका वर्णन 'प्रसन्नराघव' में द्रष्टव्य है—

वाणस्य वाहुशिखरैः परिपीड्यमानं,[2]
नेदं धनुश्चलति किञ्चिदपीन्दुमौलेः।
कामातुरस्य वचसामिव संविधानै
रभ्यर्थितं प्रकृति चारु मनः सतीनाम्।

गोस्वामी जी ने इसी उपमा को और भी अच्छे ढंग से इस प्रकार प्रस्तुत किया है—

भूप सहसदस एकहि बारा। लगे उठावन टरइ न टारा।[3]
डिगइ न संभु सरासन कैसे। कामी वचन सतीमनु जैसे ॥

जिस प्रकार कामी पुरुषों के चाटुकारितापूर्ण वचन-विन्यास को सुनकर सती स्त्रियों का मन अपने प्रकृत स्वभाव का परित्याग नहीं करता है, उसी प्रकार यह धनुष भी अपने स्थान का परित्याग नहीं करता। यहाँ पर कितना सामञ्जस्य है इसे विद्वान स्वतः ही समझ लेंगे।

(४) परशुराम प्रसंग—'प्रसन्नराघव' और 'मानस' में परशुराम संवाद में जहाँ हमें एक ओर साम्य परिलक्षित होता है, वहीं वैषम्य भी। 'प्रसन्नराघव' और 'मानस' के उपमा आदि के प्रसंगों में जगह-जगह साम्य दृष्टिगोचर होता है। इसका वर्णन आगे किया जायगा। परशुराम और राम-लक्ष्मण के बीच हुयी उक्तियों, प्रत्युक्तियों का जैसा भव्य निदर्शन हमें मानस में दृष्टिगोचर होता है वैसा वर्णन हिन्दी तथा संस्कृत साहित्य में प्रायः अन्यत्र कहीं भी दृष्टिगोचर नहीं होता। हम तो यहाँ तक कह सकते हैं कि 'मानस' का यह प्रसंग बड़ा रमणीक और रोमांचपूर्ण है। मानसकार ने लक्ष्मण की व्यंग्योक्तियों एवं भगवान राम की मर्यादित वार्ता का इतना भव्य उदाहरण प्रस्तुत किया है कि वह वाणी का विषय नहीं, रह जाता। यह वर्णन मानसकार की अन्यतम कल्पना है। फिर भी कतिपय भावों पर 'प्रसन्नराघव' की अनूठी छाप विद्यमान है—

---

[1] रामचरितमानस—बाल०२५०।२।

[2] प्रसन्नराघव—१।५६। [3] रामचरित मानस बाल०—२५१।१, २।

भो ब्रह्मन् ! भवतां समं नघटते सङ्ग्राम वार्त्तादिनः ।[१]
सर्वे हीनवला वयं, वलवतां यूयं स्थिता मूर्द्धनि ॥
यस्मादेकगुणं शराशनमिदं सुव्यक्तमुर्वीभृता-
मस्माकं भवतां पुनर्नवगुणं यज्ञोपवीतं वलम् ॥

हे ब्राह्मण देवता ! आप के साथ हम लोगों की युद्ध करने की बात तो बहुत दूर है, क्योंकि हम सभी (क्षत्रियगण) अल्प शक्ति वाले हैं, और आप वल सम्पन्नों के मूर्धन्य हैं। हम क्षत्रियों का यह धनुष एक (मौर्वी) गुण वाला है, और आप ब्राह्मणों का नौगुण वाला यज्ञोपवीत बल युक्त है। भला हम लोगों में इतनी सामर्थ्य कहाँ ? यहाँ प्रसन्नराघवकार ने श्रीराम के पूर्ण मर्यादा प्रतिपालकत्व को उदाहृत किया है।

इसी बात को गोस्वामी जी ने और भी कुशलता से राम के मुख से कहलाया है—

हमहिं तुम्हहि सरिवरि कसिनाथा। कहहु न कहाँ चरन कहँ माथा ॥[२]
राम मात्र लघु नाम हमारा। परसु सहित बड़ नाम तोहारा ॥
देव एकु गुन धनुष हमारे। नवगुन परमपुनीत तुम्हारे ॥
सब प्रकार हम तुम्ह सनहारे। छमहु विप्र अपराध हमारे ॥

इस प्रसंग में 'कहाँ तो वह चरण और कहाँ मेरा मस्तक तथा 'राम मात्र लघु नाम' और 'परसु सहित वड़ नाम' यह तुलसीदास जी की अपनी स्वतः की कल्पना है। 'अन्योक्ति के माध्यम से भगवान् राम ने परशुराम को किस प्रकार समझाया है, इस प्रकार के विषमालंकार की छटा शायद ही किसी काव्य में परिलक्षित हो।

(५) **सुन्दरकाण्ड**—'मानस' के सुन्दरकाण्ड प्रसंग में 'प्रसन्नराघव' के अन्य प्रसङ्गों की अपेक्षा अधिक साम्य दृष्टिगोचर होता है। फिर भी 'प्रसन्नराघव' में सुन्दरकाण्ड का वर्णन इन्द्रजाल के माध्यम से प्रदर्शित किया गया है, जब कि 'मानस' में हनूमान के मुख से इस करुणरसप्रधान हृदयस्पर्शी प्रसंग का कुछ अंश इस प्रकार उदाहृणार्थ प्रस्तुत है। प्रसन्नराघव में रावण के अत्यधिक भय दिखाने पर जानकी का कथन है—

विरम विरम रक्षः। किं मुधा जल्पितेन ।[३]
स्पृशति नहि मदीयं कण्ठसीमानमन्यः ॥
रघुपतिभुजदण्डादुत्पलश्यामकान्ते—
दशमुख ! भवदीया न्निष्कृपाणाद्वा कृपाणात् ॥

हे राक्षस ! चुप रह, अधिक मत बोल। व्यर्थ बकवास करने से क्या लाभ ? हे राक्षस ! नीलकमल के समान श्याम राघव के बाहुदण्ड से, अथवा करुणाशून्य तेरी तलवार से भिन्न कोई भी मेरे कण्ठप्रान्त का स्पर्श नहीं कर सकता।

गोस्वामी जी की जानकी इसी तथ्य को निम्न शब्दों में प्रकट करती हुयी कहती हैं कि—

---

[१] प्रसन्नराघव—४।२५

[२] रामचरितमानस—बा०—२८२—५,६,७,८ [३] प्रसन्नराघव—६।३०

स्याम सरोज दाम सम सुन्दर। प्रभु भुज करि कर सम दसकंधर ॥[१]
सो भुज कण्ठ कि तव असि घोरा। सुनु सठ अस प्रवान पन मोरा ॥

'प्रसन्नराघव' के द्वितीय उदाहरण में जानकी का वक्तव्य रावण के तलवार (चन्द्रहास) के प्रति है—

चन्द्रहास हर में परितापं, रामचन्द्र बिरहानलजातम्।
त्वंहि कान्तिजित मौक्तिकचूर्णं, धारयावहसि शीतलमन्यः ॥

हे चन्द्रहास[२]! श्रीरामचन्द्र के वियोगानल से उत्पन्न मेरे संताप को मिटा दो। क्योंकि अपनी कान्ति से मुक्ताचूर्ण को जीतने वाले तुम अपनी धार से शीतल जल ग्रहण करते हो। (यहाँ शीतल जल का अभिप्राय सीता के दुःख हरण करने से है) जब तक मनुष्य जीवित रहता है तभी तक उसे संयोग विप्रलम्भ दुःख का परिज्ञान होता है। जीवात्मा का परमात्मा में मिलन होने पर उसे किसी प्रकार की दुःखानुभूति नहीं होती। यह दार्शनिक सिद्धान्त है। मायारूपी सीता रावण के तलवार के माध्यम से मरकर परमतत्त्व से मिलना चाहती है। इसी सत्य को 'मानस' में अक्षरशः देखा जा सकता है—

चन्द्रहास हरु मम परितापं। रघुपति विरह अनल संजातं ॥[३]
सीतल निसित बहसि बरधारा। कह सीता हरु मम दुख भारा ॥

रावण के चले जाने पर 'प्रसन्नराघव' की सीता अशोक वृक्ष से प्राथना कर रही हैं कि—

कुरु सकरुणं चेतः श्रीमन्नशोक वनस्पते,[४]
दहनकणिकामेकां तावन्मम प्रकटीकुरू।
ननु! विरहिणां सन्तापाय स्फुटीकुरुते भवा –
न्नवकिसलय श्रेणी व्याजातकृशानु शिखावलिम् ॥

(विरहदग्धा जानकी को अशोक के पल्लव अग्नि सदृश दिखाई पड़ रहे हैं)

हे श्रीमान् अशोकवृक्ष! चित्त को करुणापूर्ण बनाओ, मेरे सामने एक अग्निकण को प्रकट करो तुम वियोगियों के संताप मिटाने के लिये नूतन पल्लवपंक्ति के बहाने अग्नि ज्वाला की पंक्ति को स्पष्ट कर देते हो। (विप्रलम्भ में शीतल वस्तु भी अग्नि सदृश दिखाई पड़ती है)।

यही प्रसङ्ग मानसकार के शब्दों में अत्यधिक कारुणिक ढंग से अभिव्यक्त किया गया है –

सुनहि विनय मम विपट असोका। सत्यनाम करु हरु मम सोका ॥[५]
नूतन किसलय अनल समाना। देहि अगिनि जनि करहि निदाना ॥

'प्रसन्नराघव' और 'मानस' के हनूमान ने जानकी की विषम परिस्थिति को देखकर उनके आत्मशान्त्यर्थ मुद्रिका गिरायी। उस मणिजटित मुद्रिका को देखकर सीता के कथन को दोनों महाकवियों ने इस प्रकार उपस्थित किया है—

---

[१] रामचरितमानस–सुन्दर···९।३,४
[२] प्रसन्नराघव–६।३३
[३] रामचरितमानस–सुन्द० ९।५,६
[४] प्रसन्नराघव–६।३५
[५] रामचरितमानस–सुन्द० ११।१०,११

हला पश्य, पश्य, निपतितं तावदस्यअंगारखण्डम् ।[१]

सखि (त्रिजटे) देखो, देखो, यह अग्निखण्ड अशोक से गिर पड़ा है। और मानस में—

कपि करि हृदयविचार दीन्हि मुद्रिका डारि तब ।[२]
जनु असोक अंगार दीन्ह हरषि उठि कर गहेउ ॥

'प्रसन्नराघव' और 'मानस' में राम की विरहावस्था के वर्णन में बहुत साम्य है—

हिमांशुश्चडांशुर्नवजलधरो दाववहनः ।[३]
सरिद्वीचीवातः कुपितफणिनिःश्वासपवनः ॥
नवामल्ली भल्ली, कुवलयवनं कुन्तगहनं,
ममत्वाद्विश्लेषात्सुमुखि ! विपरीतं जगदिपम् ॥

चन्द्र सूर्य के समान तीक्ष्ण किरण वाले नवीन मेघ, दावानल के समान, नदी तरंग की वायु कुपित सर्प के निःश्वास के समान, और कमलों का वन, कुन्त समूहों (भाला) के समान प्रतीत हो रहा है इस प्रकार हे सुमुखि ! तुम्हारे वियोग में यह संसार ही प्रतिकूल हो गया है। इसमें जयदेव ने समुचित विप्रलम्भ शृंगार का उदाहरण प्रस्तुत किया है। इसी प्रसंग में मानसकार का लाघव द्रष्टव्य है—

कहेउ राम वियोग तव सीता । मोकहु सकल भये विपरीता ॥[४]
नवतरु किसलय मनहुँ कृसानू । काल निसा सम निसि ससिभानू ॥
कुवलय विपिन कुंतवन सरिसा । बारिद तपत तेल जनु बरिसा ॥
जे हित रहे करत तेइ पीरा । उरग स्वांस सम त्रिविध समीरा ॥

आगे की उक्ति और भी साम्य रखती है—

कस्याख्याय व्यतिकरमिमं मुक्तदुःखं भवेयं ।[५]
को जानीते सभृतमुभयोरावयोः स्नेहसारम् ?
जानात्येक शशधरमुखि ! प्रेम तत्वं मनो में,-
त्वामेवैताच्चिरमनुगतं तत् प्रिये ! किं करोमि ॥

हे चन्द्रमुखि ! इस विपत्ति को बताकर कैसे आश्वस्त बनूँ ? हम दोनों के प्रच्छन्न प्रणय तत्व को कौन जानता है ? एक मेरा मन उसे जानता है। हे प्रिये उसने बहुत काल तक तुम्हारा अनुसरण किया है। अतः मैं क्या करूँ ? मानसकार की सरसता को देखिये—

कहेहूँ ते कछु दुख घटि होई । काहि कहौं यह जान न कोई ॥[६]
तत्त्व प्रेम कर मम अरु तोरा । जानत प्रिया एकु मन मोरा ॥
सो मनु सदा रहत तोहि पाहीं । जानु प्रीति रसु एतनेहि माहीं ॥

प्रसन्नराघवकार का यह कथन—

उदर्कभूतमिच्छाद्भिः सद्भिः खलु न दृश्यते ।[७]
चतुर्थी चन्द्रलेखेव परस्त्री भालपट्टिका ॥

---

[१] प्रसन्नराघव–६।३५ के बाद की पंक्ति
[२] रामचरितमानस–सुन्द० का० १२
[३] प्रसन्नराघव–६।४३
[४] रामचरितमानस–सु० का० १४।१,२,३,४
[५] प्रसन्नराघव–६।४४
[६] रामचरित मानस-सु० का० १५।५,६,७
[७] प्रसन्नराघव—७।१

इसे मानस में इस प्रकार लिया गया है—

सो पर नारि लिलार गोसाईं । तजहु चउथ चंदा की नाईं ।।[1]

कहने का तात्पर्य यह है कि 'मानस' में सुन्दरकाण्ड का प्रसंग 'प्रसन्नराघव' के इन्द्रजाल प्रसङ्ग के बहुत निकट है ।

(६) लंका प्रसंग—लंका प्रसंग में भी दोनों काव्यों में सीता विलाप, लक्ष्मण शक्ति, राम विलाप आदि का वर्णन एक दूसरे के अत्यधिक निकट प्रतीत होता है उदाहरणार्थ सुमेरुगिरि पर चन्द्रोदय का वर्णन द्रष्टव्य है—

मयूरवनखरसुटात्तिमिर कुम्भिकुम्भस्थलो-[2]
कलत्तरलतारकामपरकीर्ण मुक्तागणः ।
पुरन्दर हरिहरी कुहरगर्भ सुप्तोत्थित-
स्तुषार कर केसरीगगन काननं गाहते ।।

किरण रूप नाखूनों से छिन्न होते हुए, अन्धकार रूप हाथी के मस्तक पर से ताराओं के बहाने से मोतियों को विकीर्ण कर पूर्व दिशा रूप गुफा के समीप अभ्यन्तर भाग में सोकर उठा हुआ चन्द्र रूप सिंह आकाश रूप वन में प्रवेश कर रहा है ।

यहाँ मानसकार की अलंकार योजना स्पृहणीय है—

पूरब दिसि गिरि गुहा निवासी । परम प्रताप तेज बलरासी ।।[3]
मत्तनाग तमकुम्भ विदारी । ससि केसरी गगन वन चारी ।।
बिथुरे नभ मुकुताहल तारा । निसि सुन्दरी केर सिंगारा ।।

उपर्युक्त उद्धरणों के माध्यम से यह भली भाँति स्पस्ट हो जाता है कि गोस्वामी जी ने जिन 'नानापुराणादि' से विषयग्रहण की चर्चा का उल्लेख अपने ग्रंथारम्भ में किया है, उनमें 'प्रसन्न राघव' भी उनका अभीष्ट रहा है । उपर्युक्त साम्य विवेचन से किसी को यह भ्रम हो सकता है कि मानस में मौलिकता का अभाव है, और मानसकार की कल्पनाशक्ति निम्नकोटि की है । परन्तु मेरा यह प्रतिपाद्य विषय नहीं है अपितु केवल इतना दर्शाना ही अभीष्ट है कि मानसकार के मन मे प्रसन्नराघव का चित्र अंकित था । यही कारण है कि अनेक कथोपकथनों में, चरित्रचित्रणों में अलंकार प्रयोग में, विषय वस्तु विवेचन में प्रायः सर्वत्र समानता परिलक्षित होती है । वस्तुतः मानसकार गोस्वामी जी अपनी प्रतिभा के धनी हैं, जिसके प्रभाव से उन्होंने उन समस्त विषयों को आत्मसात् करके नव्य रूप दिया है कि वह अनुपमेय और अवर्णनीय बन गया है । यही कारण है कि मानस को छोटे से लेकर बड़े विद्वानों ने भी अपने हृदय से लगाया है । मैं भी उनकी इस अलौकिक प्रतिभा के समक्ष नतमस्तक हूँ । 'जयदेवकृत प्रसन्नराघव' भी अपनी मौलिकता एवं शास्त्रीय तत्त्वों की दृष्टि से एक उत्कृष्ट नाट्य कृति है । इस साम्य विवेचन से 'मानस' और प्रसन्नराघव दोनों का उत्कृष्ट रूप विद्वानों के समक्ष उपस्थित करना ही मेरा लक्ष्य है ।

---

1. रामचरित मानस—सु० का० ३८।६ । 2. प्रसन्नराघव—७।६१ ।
3. रामचरितमानस—लंका १२।१, २, ३ ।

देवीभागवत तथा रामचरित मानस का कलियुग वर्णन और आधुनिक परिप्रेक्ष्य

डॉ० श्यामसुन्दर शुक्ल
प्रवक्ता हिन्दी विभाग, का० हि० वि० वि०

"रामचरितमानस" और "देवी भागवत"—दोनों हिन्दू समाज में आर्षग्रन्थ के रूप में माने जाते हैं। इनके रचयिता क्रमशः गोस्वामी तुलसीदास और महर्षि कृष्णद्वैपायन व्यास भारतीय वाङ्मय के अमर और अद्वितीय कृतिकार हैं। दोनों ही भविष्यद्रष्टा, ज्ञानी और विचारक के रूप में बेजोड़ हैं। यह संयोग की ही बात है कि दोनों ने उपरोक्त विषय पर भूत और वर्तमान के अनुभवों के आधार पर देश की भावी भाग्यलिपि का आख्यान समान दृष्टिकोण अपनाकर किया है। दोनों के वक्ता-श्रोता भिन्न-भिन्न लोग हैं पर उनके वर्णन में अद्भुत साम्य है। "मानस" में कलिकाल के स्वरूप का आख्यान काकभुशुंडि ने गरुड़ से किया है और 'देवी भागवत' में महर्षि व्यास ने महाराज जनमेजय को श्रोता के स्थान पर अधिष्ठित करके किया है। रामचरितमानस में यह प्रसंग भूतकालिक क्रिया में वर्णित है, क्योंकि इससे संवद्ध कथा पूर्व कल्प के कलिकाल से जुड़ी हुई है, परन्तु देवी भागवत का यह वर्णन भविष्यवाणी के रूप में है और मूलकथा के क्रम से कुछ असंवद्ध जैसा है।

इन सामान्य अंतरों के बावजूद दोनों कृतिकारों की दृष्टि इस युग की हर समस्या पर समान रूप से पड़ी है और उनका भूत-भविष्यकालीन वर्णन पूर्णतया आज के वातावरण का वर्णन है, इसमें दो राय नहीं हो सकती। इससे एक निष्कर्ष यह भी निकाला जा सकता है कि आज हमारे समाज का जो रूप वर्तमान है, वह कम से कम १००० वर्ष पूर्व से अक्षुण्ण चला आ रहा है।

गोस्वामी जी निस्संदेह एक चञ्चरीक वृत्ति के कवि एवं विचारक थे। उन्होंने "नाना पुराण-निगम-आगम" का सार वैसे ही ग्रहण कर लिया है जैसे कोई भ्रमर अनेक प्रकार के पुष्पों से पराग का चयन कर उसे मधु के अमृतमय रूप में परिणत कर देता है। इसलिए यह कहना कि 'मानस' का अमुक अंश उन्होंने अमुक स्थान से लिया है, न्यायसंगत नहीं है। जैसे उनकी कृतियों के कुछ अंश उनसे पूर्वरचित ग्रन्थों में यत्र-तत्र भिन्न-भिन्न प्रसंगों में संयोगवशात् मिल जाते हैं, कुछ इसी प्रकार 'मानस' के 'कलि-काल वर्णन' जैसे प्रसंग का वर्णन "देवी भागवत" के वर्णन से भी मिलता है। दोनों वर्णनों में इतना साम्य है कि 'देवी भागवत' के वर्णन की छाप "मानस" के उक्त प्रसंग-वर्णन पर पूर्ण रूप से पड़ी है—इस तथ्य को निर्विवाद रूप से स्वीकार करने की वाध्यता सी प्रतीत होती है।

कलिकाल में व्याप्त पाखण्ड, जनवंचना की प्रवृत्ति, असत्यवादिता, दंभ, शूद्र-सेवा-परायणता, नाना पंथों के प्रवर्तन का मोह, क्रूरता, धर्मभ्रष्टता, वाद-विवाद में आसक्ति, पाप परायणता, कामक्रोधादि का आधिक्य, नारी समाज में व्याप्त अनैतिकता, वर्णाश्रम

धर्म की परंपराओं का विघटन, वेदनिन्दापरायणता, वर्णसंकरता की वृद्धि और धर्म के मूलोच्छेदन का सामूहिक प्रयत्न आदि ऐसे विषय हैं, जिनकी दोनों कृतियों में समान रूप से चर्चा की गई है और इनके कारण व्याप्त सामाजिक विषमताओं तथा कष्टकारक परिस्थितिओं पर चिंता व्यक्त की गई है। अन्तर केवल इतना ही है कि जहाँ 'देवी भागवत' के उक्त प्रसंग में ब्राह्मणों की स्वधर्म-विमुखता पर अधिक आक्रोश व्यक्त किया गया है, वहाँ 'मानस' में शूद्रों द्वारा ब्राह्मणों के लिए विहित कार्यों को अपनाकर उनकी संप्रभुता को चुनौती देने की स्थिति की भर्त्सना ही अधिक की गई है।

समाज में वर्ण-व्यवस्था की स्थिति :

दोनों कृतियाँ इस तथ्य का समर्थन समान रूप से करती हैं कि सत्ययुग में सभी वर्णों के लोग स्वधर्म में निरत थे तथा सत्य, दया, अद्रोह, समदृष्टि और मात्र स्वपत्नीगमन जैसे सामान्य व्यावहारिक कर्मों का पालन करते हुए मृत्यु के उपरान्त स्वर्गगामी होते थे। ज्यों-ज्यों युग बदलते गये, मानव समाज में इन गुणों की न्यूनता बढ़ने लगी। द्वापर युग में, राक्षस-वृत्ति के लोगों की संख्या पर्याप्त बढ़ गई, फिर भी उक्त गुणों से युक्त सज्जनों का अभाव न था। परन्तु कलिकाल के आरम्भ होते ही 'पाप परायन सब नरनारी' जैसी स्थिति उत्पन्न हो गई।

जैसा कि पहले ही संकेत किया जा चुका है, देवी भागवतकार ने ब्राह्मणों को ही सभी प्रकार की बुराइयों की जड़ माना है और यहाँ तक घोषित कर दिया है कि द्वापर के राक्षस ही कलियुग में ब्राह्मण के रूप में आविर्भूत होंगे।[१] वे नाम मात्र को ब्राह्मण होंगे वस्तुतः ब्राह्मणों के लिए विहित गुणों का उनमें सर्वथा अभाव होगा। ये कलियुगी ब्राह्मण पाखंडरत, जनवंचक असत्यवादी, वेदधर्मविदूषक, लोकचतुर, दंभी, वेद-विहीन, शूद्रसेवापरायण, अतिवादी, धर्मभ्रष्ट, और नाना सम्प्रदायों के प्रवर्तन में रुचि रखने वाले होंगे।[२]

जहाँ देवी भागवत में ब्राह्मणों के प्रति इतने कटु शब्दों का प्रयोग किया गया है, गोस्वामी जी ने स्वकर्मच्युत इस जाति की दुर्गति पर सहानुभूतिपरक दृष्टि ही डाली है। उनके प्रति गोस्वामी जी के मन में आक्रोश नहीं है, प्रत्युत दया का भाव है।[३] उन्हें इस

---

[१] पूर्वं ये राक्षसा राजंस्ते कलौ ब्राह्मणाः स्मृताः।

देवी भागवत, स्कंध सं० ६, अ० ११, श्लोक सं० ४२।

[२] पाखंड निरताः प्रायो भवन्ति जनवञ्चकाः।
असत्यवादिनः सर्वे वेद धर्म विवर्जिताः॥
दाम्भिका लोकचतुरा मानिनो वेदवर्जिताः।
शूद्रसेवापराः केचिन्नानाधर्म प्रवर्त्तकाः॥
वेदनिन्दाकराः क्रूरा धर्मभ्रष्टातिवादकाः॥

देवी भाग० ६।११।४६, पृ० ५०७।

[३] रा० च० मा०—उत्तरकाण्ड, ९९।८।

बात का गहरा दुःख है कि कलिकाल के प्रभाव से शूद्रों ने ब्राह्मणों का स्थान ग्रहण कर लिया है और वे उनकी महत्ता को चुनौती देने को तत्पर हैं। ब्राह्मणों की स्थिति को गोसाईं जी इस प्रकार वर्णन करते हैं—

"विप्र निरच्छर लोलुप कामी। निराचार सठ बृषली स्वामी॥"

जब विप्रों ने अपना पारम्परिक कर्तव्य छोड़ दिया तो अन्य जाति के लोगों ने अपने श्रम और महत्वाकांक्षा के बल पर उसे अपना लिया। फिर तो—

"सूद्र करहिं जप तप व्रत नाना। बैठि बरासन कहहिं पुराना॥"
जे बरनाधम तेलि कुम्हारा। स्वपच किरात कोल कलवारा॥
ते विप्रन सन आपु पुजावहिं। उभय लोक निज हाथ नसावहिं॥"[1]

इस प्रकार हम देखते हैं कि गोस्वामी जी ब्राह्मणों के स्थिति-विपर्यय से बहुत खिन्न हैं।

जहाँ तक समाज की अन्य जातियों की स्थिति का संबंध है, देवी भागवतकार ने केवल इतना ही कहकर टाल दिया है -

"तथैव क्षत्रिया वैश्याः शूद्राश्च धर्मवर्जिताः॥
असत्यवादिनः पापास्तथा वर्णेतराः कलौ॥"[2]

गोस्वामी जी ने क्षत्रियों और वैश्यों का स्पष्ट रूप से तो कोई उल्लेख नहीं किया है, फिर भी उनके इन कथनों के अन्तर्गत इन जातियों की स्थिति का आभास हो ही जाता है।

"सो कलिकाल कठिन उरगारी। पाप परायन सब नरनारी॥
सब नर काम लोभ रत क्रोधी। देव विप्र श्रुति संत विरोधी॥
सब नर कल्पित करहिं अचारा। जाइ न बरनि अनीति अपारा॥"[3]

गोस्वामी जी समाज में आश्रम और वर्णविरोधी आचरणों का बोलबाला देखकर दुखी थे। सर्वत्र अनीति का प्राधान्य तथा समाज में वर्णविरोधी वातावरण होने के कारण नैतिक आचार-विचारों में जो विसृंखलता उत्पन्न हो गई थी वह बड़ी ही निराशाजक थी। नारि-वश्यता की प्रवृत्ति इतनी बढ़ गई थी कि मनुष्य की गतिमर्कट की भाँति हो गई थी। वर्णसंकरों की उत्पत्ति बड़ी संख्या में होने लगी थीं। किसी भी धर्म की उज्ज्वल परंपरा को नष्ट-भ्रष्ट करने में वर्णसंकरों का बहुत बड़ा योगदान होता है, इसलिए दोनों कृतिकारों ने इस संबंध में अपनी चिंता व्यक्त की है।[4] गोस्वामी जी तो इसे ही सब प्रकार के दुःखों का मूल मानते है—

---

[1] रा० च० मा०–उत्तरकांड, ९९।५-८।
[2] देवी भागवत–६।११।४६-४७।
[3] रा० च० मा०–उ० ९६।८, ९८।४, ९९।११।
[4] वृत्त संकरदोषेण जायते धर्मसंकरः।
धर्मस्य संकरे जाते नूनं स्याद्वर्णसंकरः॥
एवं कलियुगे भूप! सर्वधर्मविवर्जिते।
स्ववर्णधर्मवार्तैषा न कुत्राप्युपलभ्यते॥ देवी भागवत—६।११।५१-५२।

"भए बरन संकर कलि भिन्न सेतु सब लोग।
करहिं पाप पावहिं दुख भयरुज सोक विजोग ।।"[१]

समाज में धर्म की स्थिति :

भारतीय समाज में वैदिक कर्मकांड और यज्ञमूलक धर्माचरण का विरोध गौतम बुद्ध और महावीर स्वामी के समय से ही होता आ रहा था। यद्यपि मध्यकाल में यह विरोध उतना प्रबल नहीं था, फिर भी वैदिक संस्कृति का प्रभाव समाज में निर्विवाद रूप से घटा था। वेद के अध्ययन-अध्यापन का भार जिस ब्राह्मण समाज पर था वह स्वयं उससे विरत हो गया था। 'वेदधर्मविवर्जिता:' और 'वेदवर्जिता:' कहकर देवी भागवतकार ने इस समाज की स्थिति स्पष्ट कर दी है। मध्यकाल के प्राय: सभी योग-तंत्र-प्रधान साधना-मार्ग तथा ज्ञानाश्रयी पंथ वेदों और उनसे पोषित मान्यताओं के विरोधी थे।[२] इस तथ्य पर गोस्वामी जी भी यह कहकर प्रकाश डाल रहे हैं—

"श्रुतिसम्मत हरि भक्ति पथ संजुत विरति विवेक।
तेहिं न चलहिं नर मोह बस कल्पहिं पंथ अनेक ।।"
रा० च० मा०, उ० कां०-१०० (ख)

"निराचार जो श्रुति पथ त्यागी। कलिजुग सोइ ग्यानी सो विरागी ।।"
वही, ९७।७।

जिसके मन में जो रुचिकर प्रतीत होता, वह उसी पंथ का अनुयायी वन जाता और स्वार्थ की सिद्धि न होने पर त्याग देता। पंथ-निर्माण और पंथानुयायियों का पंथ-परिवर्तन सामान्य कार्य हो गया था। "केचिन्नानाधर्मप्रवर्त्तका" कहकर व्यास जी ने भी इसे निंदनीय कार्य माना है। धर्म के नाम पर व्याप्त पाखंड, कदाचार, दंभ, परस्त्री एवं परधन के अपहरण की प्रवृत्ति आदि धर्माचार के रूप में मान्य हो रही थे, इससे वढ़कर चिंता की और क्या बात हो सकती है ? इन प्रवृत्तियों के पोषक समाज में सम्मान पाने के अधिकारी समझे जा रहे थे और स्वार्थपरक आचारों को धर्म के क्षेत्र में मान्यता प्राप्त कराने में प्रयत्नशील थे ?[३] 'जाके नख अरु जटा बिसाला, सोइ तापस प्रसिद्ध कलिकाला' आदि कहकर गोस्वामी जी ने धर्म के नाम पर समाज में व्याप्त भ्रटाचार का अनावरण किया है।

जिसकी स्त्री मर गई या जो धनहीन हो गया वह किसी न किसी पंथ का अनुयायी बनकर तथा नया वाना धारण कर समाज का धन और चरित्र लूटने चला आता। कलियुग में सन्यासी बनना और बिना कुछ पढ़े-गुने ब्रह्मचर्चा करना बड़ा आसान काम समझा जाने लगा।[४] जिस प्रकार आधुनिक युग में राजनीति की चर्चा जनसाधारण की दिनचर्या में सम्मिलित हो गई है, वैसे ही गोस्वामी जी के समय में ब्रह्मचर्चा थी।

---

[१] रा० च० मा०—उ० कां०—१००।

[२] नहिं मान पुरान न वेदहिं जो, हरि सेवक संत सही कलि सो।
रा० च० मा०, उं०—१०० छंद—८।

[३] मिथ्यारंभ दंभरत जोई। ताकहुँ संत कहइ सव कोई ।।
सोइ-सयान जो परधन हारी। जो कर दंभ सो वड़ आचारी ।। वही, ९७।५।

[४] रा० च० मा० उ० ९९—क, ख।

गृहस्थ बेचारा सपरिवार परिश्रम करके भी बड़ी कठिनाई से अपना काम चला पाता था परन्तु निखट्टू तपसी और साधु फोकट में माल बटोर कर रख लेते थे। बिना पसीना बहाये और ढोंग रचकर उपार्जित किये हुए धन से स्वभावतः सुरा और सुन्दरी की ओर आकर्षण बढ़ता था।[१] गोस्वामी जी को इस बात का बड़ा दुःख है कि—

(दोहा)

असुभ बेष भूषन धरें भच्छाभच्छ जे खाहिं।[२]
तेइ जोगी तेइ सिद्ध नर पूज्य ते कलिजुग माहिं॥

(सोरठा)

जे अपकारी चार तिन्ह कर गौरव मान्य तेइ।
मन क्रम बचन लबार तेइ बकता कलिकाल महुँ॥

इस तथ्य निरुपण के माध्यम से कवि ने अपने जीवन काल के लगभग ४०० वर्षों बाद तक की भाग्यलिपि अंकित कर दी है। इस तथ्य से आज भी कौन इनकार करेगा कि ऐसे ही लोग देश के भाग्यविधाता बने हुए हैं?

जबकि समाज में आदर्श आचार-विचार की स्थापना के अधिकारी समझे जाने वाले ब्राह्मणों, यतियों, तपस्वियों और संन्यासियों की यह गर्हित दशा है, तो अन्य लोगों का कहना ही क्या है? यहाँ तक कि जिन पर देश के शासन का भार था, वे स्वयं पापपरायण और अधर्माचरण में लिप्त थे, तो प्रजा कैसे सुधर सकती थी?[३] जिस समाज में राजा का कर्तव्य केवल कठोर दंड का विधान और कर-भार से प्रजा का उत्पीड़न ही हो; येन-केन प्रकारेण धन-संग्रह करने वाला ही कुलीन समझा जाय; केवल यज्ञोपवीत धारण कर लेने मात्र से ब्राह्मण वर्ग अपने कर्तव्य की इति-श्री मान ले; केवल वस्त्रों का त्याग करके नग्न घूमने वाला ही तपस्वी मान लिया जाय; जो वेद-पुराण का अपमान करे वही संत कहलाये, ऐसे समाज का भगवान ही मालिक है।

पारिवारिक वातावरण :

समाज के ऐसे विसृंखल रूप में पारिवारिक मर्यादाओं की रक्षा भी असम्भव है। ऐसे समाज के माता-पिता भी अपने बेटों को परिवार के भरण-पोषण का साधन ही मानते हैं। उन बालकों के भविष्य को सुधारने और उनके चरित्र-निर्माण की कोई आवश्यकता नहीं समझी जाती।[४] परिणामतः लड़कों में भी अभिभावक के प्रति कोई स्नेह नहीं रह

---

[१] बहु दाम सँवारहिं धाम जती।
विषया हरि लीन्ह न रहि बिरती।
तपसी धनवन्त दरिद्र गृही।
कलि कौतुक तात न जात कही॥ रा० च० उ०—१००-२।

[२] वही, ९८ क, ९८ ख।

[३] नृप पाप परायन धर्म नहीं। करि दंड बिडंब प्रजा नितहीं॥
रा० च० मा० उ० ९७।४।

[४] मातु पिता बालकन्हि बोलावहिं।
उदर भरइ सोइ धर्म सिखावहिं॥ —मानस० उ० ९८।८।

जाता, दोनों ही स्वार्थ प्रेरित होते हैं। लड़के की जहाँ शादी हुई, उसने पत्नी का मुख-दर्शन किया, 'श्वसुसपुर निवासं स्वर्ग तुल्यंनराणाम्' जैसे सूत्र को हृदय में धारण कर कुछ दिनों तक वह वहाँ का आनन्द प्राप्त कर आया तो उसके लिए माता-पिता निरर्थक और भाड़ में झोकने योग्य प्रतीत होने लगते हैं।[१]

यह तो हुई लड़कों और अभिभावकों की बात। अब देखें गोस्वामी जी की दृष्टि कितनी गहराई से अन्य बातों में पड़ती है। कलियुग में आहार और आचार-विचार की अशुद्धता का कुछ ऐसा प्रभाव पड़ा है कि लोग अपनी बहिनों और बेटियों पर भी कुदृष्टि डालने में नहीं चूकते।[२] इस कलिकाल में स्त्रियों को तो जैसे राज्य ही मिल गया हो। पुरुष इतने स्त्रैण और कामुक हो गये कि उनमें पौरुषजनित गुण ही नहीं रह गये। गोस्वामी जी का यह कथन इस सम्बन्ध में सार्थक ही है—

नारि विवस नर सकल गोसाईं। नाचहिं नट मर्कट की नाईं॥

इस तथ्य का समर्थन "देवी भागवत" में भी किया गया है।[३] रामचरित मानस के अनुसार कामुकता और स्वेच्छारिता से अभिभूत नर-समाज स्त्रियों के सम्बन्ध में अपना स्वाभाविक विवेक खो बैठेगा। वह अपनी कुलवन्ती स्त्रियों को घर से निकाल कर दुष्चरित्र स्त्रियों को गृहिणी के पद पर आसीन करेगा और दुःख भोगेगा।[४]

'देवी भागवत' भी इसकी पुष्टि इस प्रकार करता है—

सर्वे स्त्रीवशगाः पुंसः पुंश्चल्यश्च गृहे गृहे।[५]

गोस्वामी जी ने पुरुषों की आचार-हीनता का शिकार केवल बहनों और बेटियों को ही बताया है परन्तु "देवी भागवत" के वर्णन ने तो इस घेरे में सास, बहू, सौतेली माँ और छोटे-बड़े भाइयों की पत्नियों तक का समावेश कर लिया है। संक्षेप में, केवल माता को छोड़कर नारी सम्बन्धी जितने भी रिश्ते होंगे, सब इस अनाचार के दायरे में आ जायेंगे। वर्णन द्रष्टव्य है—

कन्यकागामिनः केचित्केचिच्च स्वश्रुगामिनः।
केचित् बधूगामिनश्च केचिद्वै सर्वगामिनः॥

---

[१] सुत मानहिं मातु पिता तब लौं। अबलानन दीख नहीं जब लौं।
ससुरारि पिआरि लगी जब तें। रिपु रूप कुटुम्ब भये तब तें॥
—वही, १००-छंद-४।

[२] कलिकाल बिहाल किये मनुजा।
नहि मानत क्वौ अनुजा तनुजा॥ —वही, १०१-छंद-५।

[३] "सर्वकर्माक्षमाः पुंसो योषितामाज्ञया विना।" —दे० भा० ९।८।२२।

[४] कुलवन्ति निकारहिं नारि सती।
गृह आनहिं चेरि निबेरि गती॥ रा० मा० ११०-छंद-३

[५] देवी भागवत—स्कंध सं० ९, अध्याय सं० ८, श्लोक १९।

भगिनीगामिनः केचित्सपत्नीमातृगामिनः ।
भ्रातृजायागामिनश्च भविष्यन्ति कलौ युगे ॥
अगम्यगमनं चैव करिष्यन्ति गृहे गृहे ।
मातृयोनिं परित्यज्य विहरिष्यन्ति सर्वतः ॥[1]

कलिकाल में यदि केवल पुरुष वर्ग ही अनियंत्रित और आचारभ्रष्ट होता तो उतनी चिन्ता की बात न होती परन्तु स्त्रियाँ भी उनसे कम नहीं हैं। इस युग में वे स्वयं अपने पति से संतुष्ट न रहकर पर पुरुष, सम्बन्ध स्थापित करने को उत्सुक दिखाई देती हैं।[2] देवी भागवत-कार ने अपनी भविष्यवाणी की शैली में यहाँ तक घोषित किया है कि कलिकाल की अधिकांश स्त्रियाँ इच्छाचारी, काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि से ग्रस्त, पापाचरण में लिप्त, मिथ्यावादी, पति वंचना-निपुण और धर्म-भाषणपंडिता होंगी।[3] वैसे तो गोस्वामी जी ने भी नारियों के आठ अवगुणों (साहस, अनृत, चपलता, माया, भय, अविवेक, असौच, अदाया) की चर्चा की है परन्तु उन्होंने उनके प्रति उतनी अनास्था व्यक्त नहीं की है, जितनी कि देवी भागवत के कवि ने की है। उसने तो यहाँ तक कह दिया है कि आलोच्य युग में वस्त्र एवं वेश-भूषा आदि में नारी-पुरुष का अन्तर ही नहीं रहेगा और स्त्रियों द्वारा पुरुषों की खूब पिटाई होगी।[4] आज के वातावरण में ये बातें कितनी खरी उतर रही हैं, इसे सब जानते हैं। हिप्पी संस्कृति ने स्त्री-पुरुष की भेष-भूषा एक कर दी है, यह भी आज स्पष्ट दिखाई दे रहा है।

पुरुषों और नारियों के गार्हस्थ्य सम्बन्ध पर भी 'देवी भागवत' ने विस्तार से प्रकाश डाला है। इसके उद्घोषानुसार कलियुग में विवाह-व्यवस्था भी अव्यवस्थित हो जायगी। कौन किसका पति है और कौन किसकी पत्नी है, अथवा कौन किसका पिता है, इसका विनिश्चय कठिन कार्य होगा।[5] गृहेश्वरी कहीं जाने वाली पत्नी का स्थान परिवारों में दासी के तुल्य होगा। इसी प्रकार पत्नियों की दृष्टि से सास और ससुर दासी एवं दास से भी गये बीते होंगे। मित्रों, और बन्धु-बान्धवों का संबंध केवल पुरुष वर्ग तक ही सीमित न रहकर एक दूसरे की पत्नी तक व्यापक होगा। समाज का खान-पान और आचार-व्यवहार इतना अधिक कामोद्दीपक होगा कि आठ वर्ष की कन्या भी रजस्वला हो जायगी और उसमें गर्भधारण की क्षमता आ जायगी। स्त्रियाँ १६ वर्ष की अवस्था तक पहुँचते-

---

[1] देवी भागवत—९।८।४३-४५।

[2] गुन मंदिर सुन्दर पति त्यागी।
भजहिं नारि पर पुरुष अभागी॥ रा० च० मा०—उ० ९८ ख-४।

[3] कामचाराः स्त्रियः काम लोभ मोह समन्विताः॥
पापमिथ्याभिवादिन्यः सदा क्लेशरता नृप।
स्वभर्तृवन्चकानित्यं धर्मभाषण पण्डिताः॥
भवन्त्येवं विधा नार्यः पापिष्ठा च कलौ युगे। देवी भागवत ६।११।४८-५०।

[4] वही—स्कंध सं० ९, अध्याय ८, श्लोक १८।

[5] पत्नीनां निर्णयो नास्ति भर्तृणांच कलौयुगे।
प्रजानां चैव ग्रामाणां वस्तूनां च विशेषतः॥ वही, श्लोक ४६।

पहुँचते शिथिल-काय हो जायेंगी और बीस वर्ष की अवस्था में वृद्धा जैसी प्रतीत होने लगेंगी। अधिकांश स्त्रियाँ ऐसी होंगी जिन्हें हर वर्ष बच्चे पैदा होंगे और कुछ कृत्रिम उपायों से बन्ध्यात्व धारण करने की ओर प्रवृत्त होंगी।

देवी भागवतकार की निम्नलिखित बातें तो आज बड़े शहरों में स्पष्ट रूप से दिखाई दे रही हैं—

कन्या विक्रयिणः सर्वे वर्णाश्चत्वार एव च।
मातृजाया बधूनां च जारोपेतान्नभक्षकाः॥
कन्यानां भगिनीनाम्वा जारोपात्तान्नजीविनः।[१]

कन्या, भगिनी, पुत्रबधू आदि को अपने अर्थोपार्जन का साधन बनाना और उन्हें अनैतिक कर्म की ओर प्रवृत करना समाज का बड़ा भारी कलंक है। हमारे समाज में ऐसी स्थिति आज भी पर्दे की आड़ में वर्तमान है, इसे नकारा नहीं जा सकता। गोस्वामी जी का यह कथन भी इस संदर्भ में मननीय है—

सौभागिनी विभूषण हीना। विधवन्ह के सिंगार नवीना॥[२]

शिक्षा संबंधी व्यवस्था :

समाज में शिक्षा-व्यवस्था का जो अधःपतन हुआ था या इस समय हो रहा है, उसकी ओर भी दोनों कृतिकारों का ध्यान गया है। आश्रम-व्यवस्था के विसृंखलित होते ही उसमें निहित शिक्षा पद्धति भी समाप्त हो गई। शिक्षा के क्षेत्र में धनलोलुपता, स्वार्थ परापणता, कर्तव्यहीनता, अध्ययन-अध्यापन के प्रति आस्था एवं निष्ठा का व्यापक अभाव, अनुशासनहीनता आदि बातें स्वतः आ गईं और आज भी बनी हुई हैं। गुरु-शिष्य-संबंध पर गोस्वामी जी का यह कथन यथार्थ है—

गुर सिख बधिर अंध का लेखा। एक न सुनइ, एक नहिं देखा॥
हरइ सिष्य धन सोक न हरई। सो गुरु घोर नरक महुँ परई॥[3]

इसी संदर्भ में गोस्वामी जी ने अपने बालकों की शिक्षा-दीक्षा के प्रति अभिभावकों की उदासीनता पर भी प्रकाश डाला है।[४] यदि माँ बाप ही अपने बच्चों की शिक्षा और तत्संबंधी प्रगति में रुचि नहीं रखेंगे तो दूसरों को क्या पड़ी है? अध्यापक अपना वेतन लेकर किनारा कसेगा, शिष्य चाहे पढ़े और उन्नति करे या भाड़ में जाय। इसी प्रकार परम्परागत विषयों का अध्ययन छोड़कर जब म्लेच्छ विद्या का पठन-पाठन ही मुख्य रूप से अपनाया जायगा तो उसी के अनुकूल समाज के आचार-विचार भी प्रभावित होंगे।[५] अपनी उत्तम व्यवस्था का

---

[१] देवी भागवत—९।८।३९-४०। [२] रा० च० मा०—उ०—९८।५।

[३] राम० च० मानस—उ०-९८ (ख)-६-७।

[४] मातु पिता बालकन्हि बोलावहिं। उदर भरइ सोइ धर्म सिखावहिं॥
वही, ९८।८।

[५] म्लेच्छाचाराः भविष्यन्ति वर्णाश्चत्वार एव च।
म्लेच्छशास्त्रं पठिष्यन्ति स्वशास्त्राणि विहाय च। —देवी भा०, ९।८।२४।

त्याग करके अन्य संस्कृति का अंधानुकरण करने का इसके अतिरिक्त अन्य प्रभाव ही क्या होगा ?

जनसमाज की सामान्य स्थिति :

वर्णाश्रम धर्म द्वारा पोषित आचार-विचारों के त्याग का सबसे बड़ा दुष्परिणाम यह हुआ कि पारिवारिक और सामाजिक मर्यादाओं की श्रृंखला बिखर गई। यज्ञ-हवन आदि का आयोजन न होने से ऋतुओं के क्रम और नियम में भी विपर्यय हो गया। परिणामतः—

कलि बारहिं बार दुकाल परै।
बिनु अन्न दुखी सब लोग मरै॥
देव न बरषहिं धरनी। बए न जामहिं धान॥
नर पीड़ित रोग न भोग कहीं। अभिमान विरोध अकारन हीं॥
लघु जीवन संवतु पंच दसा। कलपांत न नास गुमान असा॥[१]

इसी स्थिति का भविष्यवाणी की शैली में आख्यान करते हुए देवी भागवत का रचयिता कहता है कि कलिकाल में चारों वर्णों के लोग आचार-भ्रष्ट हो जायेंगे। सवर्णों द्वारा सन्ध्या और शिखा-सूत्र का परित्याग कर दिया जायगा। वे असवर्णों की भृत्यता में ही अपनी कृतार्थता समझेंगे। ब्राह्मण देवता हलवाई, धोबी और मोची आदि का काम अपना लेंगे। क्षत्रिय पत्रवितरक या सन्देशवाहक का काम करेंगे और वैश्य व्यापार छोड़कर केवल हल जोतने को ही श्रेयस्कर मानेंगे।[२]

कलिकाल का कुछ ऐसा विचित्र प्रभाव होगा कि पृथ्वी सस्यहीना हो जायगी, वृक्ष फल-विहीन होंगे, जहाँ दूध की नदियाँ बहने की बात कही जाती है, वहाँ गायें क्षीररहित हो जायगी और जो कुछ दूध होगा भी उसमें घी की मात्रा नगण्य हो जायेंगी, राजाओं में प्रताप नहीं रहेगा और प्रजा करभार से कराह उठेगी। बड़ी-बड़ी नदियाँ जलहीन हो जायेंगी और तालावों में धान की खेती होने लगेगी। कहीं-कहीं गाँव के गाँव उजड़ जायेंगे और कहीं आवादी का इतना घनत्व बढ़ जायगा कि एक-एक मकान में सैकड़ों लोग रहने लगेंगे, जैसा कि कलकत्ता, वम्बई आदि में आज भी रहते हैं।

कलिकाल में परस्पर विरोधी स्थितियाँ भी देखने को मिलेगी। लोगों के ऊपर वृक्षारोपण का इतना शौक भूत की तरह सवार होगा कि कतिपय ग्राम और नगर जंगल के समान दिखाई देंगे और जंगलों को काटने की धुन भी ऐसी लगेगी कि जंगल ही नष्ट हो जायेंगे। वन्य उत्पादों से पेट भरने वाले भी कर के बोझ से इतने पीड़ित होंगें कि उन्हें जंगल छोड़कर भाग जाना पड़ेगा। जिसके पास धन है, वह जाति और गुण से हीन होने पर भी पूज्य होगा। नास्तिक ही भक्त माना जायगा। सभी नगरवासी हिंसा में विश्वास रखने वाले तथा दिन दहाड़े नर-हत्या करने वाले होंगे। किसी का भी जीवन सुरक्षित नहीं रहेगा।

आजकल के दानियों और धर्मध्वजियों की गोसाई जी ने तो केवल प्रच्छन्न रूप से ही आलोचना की है परन्तु देवी भागवत में इस संबंध में बड़ी ही सूक्ष्म दृष्टि का परिचय दिया

---

[१] रा० च० मा०—उ० १०० छंद १०, १०१ (ख) १०१ छंद ३-४।
[२] दे० भा०—९।८।२५ तथा ९।८।४८।

गया है।[१] उसके कथनानुसार कलिकाल का दानी अपने दिये हुए दान को अपने ही स्वार्थ में उस प्रकार उपयोग करेगा जैसे आज का दानी दान द्वारा आयकर भी बचाता है, नाम भी कमाता है और प्रकारान्तर से दिये हुए दान में से कुछ बचा भी लेता है। यह रहस्य अनेक लोगों को विदित है। इसी तथ्य को लक्षित करते हुए इसमें कहा गया है—

"स्वयमुत्सृज्य दानञ्च कीर्तिवर्धन हेतवे।
ततः पश्चात् स्वदानं च स्वयमुल्लङ्घयिष्यति॥
देववृत्ति ब्रह्मवृत्ति वृत्ति गुरुकुलस्य च।
स्वदत्तां परदत्तां वा स्वयमुल्लंङ्घष्यिति[२]॥

यदि अपने द्वारा दिये गये दान की रकम का उपरोक्त प्रकार से लाभ उठाया जाय तो उतना अनुचित नहीं है जितना दूसरों द्वारा दिये गये दान अथवा देववृत्ति और गुरुकुलों की वृत्ति के साथ भी कपट का व्यवहार रखना अनुचित है। देवीभागवत के अनुसार कलिकाल का जब अंतिम चरण आरंभ होगा उस समय तो और भी भयंकर स्थिति होगी। ब्रह्मा के मुख से उत्पन्न माना जाने वाला विप्रवंश उस काल में हल जोतने लगेगा और मुर्दे जलाने का काम करेगा। सभी वर्गों के लोग अभक्ष्यभक्षी और वेश्यागामी हो जायेंगे। ब्राह्मणों के भोजनालय में व्यभिचारिणी स्त्रियों, कुट्टनियों, रजस्वला स्त्रियों आदि को भोजन पकाने के लिए नियुक्त किया जायगा। पक्वान्न सभी प्रकार के भेदभावजनित विचारों से विवर्जित और सर्वत्र भोज्य होगा। वृक्षों की बढ़ने की शक्ति इतनी कम हो जायगी कि वे हाथ-हाथ भर के रह जायेंगे। मनुष्य भी विकलांग और वामन होंगे। नदियों द्वारा ऐसा जलप्लवन होता रहेगा कि पृथ्वी 'लोकशून्या, वृक्षशून्या भविष्यति' की स्थिति में हो जायगी।

इस प्रकार कलिकाल अनेक अनर्थों का कारण है। इसमें अच्छाई केवल यही है कि मात्र निष्ठापूर्वक भगवन्नाम का जप ही अन्य युगों में जप-तप से होने वाले लाभों का प्रदाता होगा।[3] इस मान्यता की पुष्टि दोनों कृतिकारों ने समान दष्टिकोण अपनाते हुए की है। और भी अनेक बाते हैं जो आज के संदर्भ में खरी उतर रही है। यदि यही देश की नियति है तो चिंतित होने से कोई लाभ नही होगा।

---

[१] तामस धर्म करहिं नर जप तप व्रत मख दान।
रा० च० मा०, उ० १०१ (ख)।

[२] देवी भागवत—९।८।४१-४२।

[3] कलियुग केवल हरिगुन गाहा। गावत नर पावहि भव थाहा॥
कलिजुग जोग न जग्य न ग्याना। एक अधार रामगुन गाना॥
कलिजुग समजुग आन नहिं, जो नर कर विस्वास।
गाइ राम गुन गन विमल, भवतर विनहिं प्रयास॥
रा० च० मा०—उ० १०२।४-५।

कैकेयी एक पुनः परीक्षण

डॉ० कमलिनी मेहता
प्रवक्ता, हिन्दी विभाग, का० हि० वि० वि०

प्रतीक्षा की वेला समाप्त हुई। पुष्पकयान भूमि पर उतरा। प्रेममूर्ति भरत चरणों से लिपट गये हैं। राघव उठाकर हृदय से लगाना चाहते हैं। 'भरत! तुम्हारा स्थान यहाँ है, उठो वत्स।' किन्तु प्रेमी अश्रु से भिगो रहा है उनके चरणकमल, वही उसका स्थान है। अब वह उसे नहीं छोड़ सकता। उसे भय है कि कहीं ये चरण पुनः किसी दूसरी ओर न घूम पड़े।

भक्त और भगवान में होड़ लगी है। भगवान की जीत होती है, प्राणप्रिय भरत को वे कंठ से लगा लेते हैं, 'नहीं भरत अब तुम्हें छोड़कर जाने की कल्पना भी मेरे मन में न उठेगी।'—दोनों ओर से अनवरत अश्रु प्रवाह हो रहा है और उस प्रवाह मे डूब रहा है, समस्त अयोध्या का समाज, भक्त समाज और देव समाज। कैसा अद्‌भुत, अलौकिक और कमनीय मिलन है—प्रेम से भींगे नेत्र और भक्ति से गद्‌गद् प्राण।

१४ वर्ष की लंबी अवधि के अनंतर यह अपूर्व मिलन किस प्रेमी हृदय को अपने चित्तहारी रंग में नहीं रंग लेगा? किसका हृदय इस पुनीत सरिता में न बह जायगा?—भक्त और भगवान का द्वय मिट गया, दोनों श्याम घन मिलकर एक अद्‌भुत रस की वर्षा कर रहे हैं और भीग रहा है समस्त भक्त समाज। किसकी कृपा से यह अमृत बरस रहा है?—और तब आती है एक नारी मूर्ति जिसने स्वयं विषपान कर इस दिव्य दृश्य का सृजन किया है और वह मूर्ति है—माता कैकेयी।

आज हमें एक नूतन दृष्टिकोण अपनाकर यह विचार करना है कि रामायण का इतिहास जिस कैकेयी का चित्र हमारे सामने उपस्थित करता है वह एक विकृत प्रवृत्ति की, घृणित स्वार्थ में डूबी, पति घातिनी कल्प कल्पान्तर तक के लिए एक कलंकिनी नारी है, तो क्या यह सत्य है? वास्तव में वह 'नारी' नाम के लिए एक लज्जा है? पर साथ ही (राम वन-गमन से पूर्व) क्या यह सोचकर आश्चर्य नहीं होता कि जो कैकेयी एक वीर क्षत्राणी, आदर्शपत्नी, अनुकरणीय माता हो सकती है वह एकाएक निकृष्टता के ऐसे चरम पर कैसे पहुँच सकती है? उसका निर्मल मानस कैसे इतना मलिन हो सकता है? सबला, स्वस्थ प्रकृति धीरा, गंभीरा कैकेयी प्रतिक्रिया की प्रचंड आँधी का शिकार हो जाय—यह उसके पक्ष में स्वाभाविक नहीं लगता—तब? तब क्या कारण हो सकता है?

राष्ट्रीय पक्ष :

यह एक ऐतिहासिक तथ्य है कि राम के राज्याभिषेक के समय अनार्यों का इतना उत्पात बढ़ा हुआ था कि आर्य संस्कृति संकट में थी। अनार्यों के आक्रमण भीषणता का रूप धारण कर रहे थे। वाल्मीकि रामायण में इसके कुछ प्रमाण प्रकरण मिलते हैं। इसके अतिरिक्त जैमिनी भरत तथा अन्य इतिहासकारों ने भी इसका उल्लेख किया है। अतः

बहुत संभव है कि कैकेयी जैसी देशभक्त वीर क्षत्राणी ने (जब देवासुर संग्राम हुआ था तब कैकेयी पति के साथ युद्ध में गयी थी और कहा जाता है कि पहिये की धूरी की कील निकल जाने पर उसने अपनी उंगली कील के स्थान पर लगा दी थी) अनार्यों के आक्रमण को रोकने के लिए ऐसे उग्र और अपने प्रतिकूल वातावरण का निर्माण कर सदा के लिए गरल पिया हो ।

१४ वर्ष का वनवास, एक निश्चित अवधि, कैकेयी के सुस्थिर संकल्प को व्यंजित करती है। कैकेयी राम को शक्ति और पराक्रम को जानती है, अतः राज्याभिषेक का समाचार सुनकर वह अनुभव करती है कि उसके लोकनायक का स्थान सिंहासन नहीं संसार है। राम को जन सामान्य के सम्पर्क से दूर केवल राजोचित गरिमा से घिरे रहकर एकान्त जीवन बिताने वाले शासक के रूप में देखना उसे अभीष्ट नहीं है। वह उन्हें एक सच्चे जननेता के रूप में उपस्थित करना चाहती है क्योंकि उनका जन्म संसार का कष्ट मिटाने के लिए ही हुआ है। ऐसा जननायक जिसका कर्तव्यक्षेत्र (उसकी दृष्टि में) संसार होना चाहिए वह सिंहासन के बंधनों में बँधकर परवशता का मंत्र जपा करे यह उसे अनुचित और अग्राह्य लगा—

"वह राम बने अब
वंदी सिंहासन का
पर्याय न क्या यह
राजतिलक बंधन का

× × ×

है क्षेत्र राम का वहाँ
जहाँ अंबर से
अंगार बरसते
महावज्र के स्वर से

× × ×

शुभ की श्रद्धा का
श्राद्ध जहाँ होता है
शिव के शव पर
विश्वास जहाँ रोता है।"

(श्री केदारनाथ मिश्र 'प्रभात' 'कैकेयी' पंचमसर्ग)

राजतंत्र की इस परम्परा को तोड़ने के लिए क्रांति की—एक महायज्ञ की आवश्यकता थी और माता कैकेयी ने अनुकूल वातावरण उपस्थित करने के लिए अपने प्रति लोगों के हृदय में घृणा की अग्नि दहकाई तथा स्वयं को आहुति पर चढ़ा दिया। और इसमें सन्देह नहीं कि राम का जननायकत्व तब प्रकट होता है जब राजतंत्र से दूर अयोध्या के अधिकार क्षेत्र से बाहर—शृंगवेर से चित्रकूट तक निवास करने वाली भोली-भाली ग्रामीण जनता उनके वनवास पर अपना सहज विक्षोभ प्रकट करती हुई उनके साथ पूर्ण सहानुभूति दिखाती है। राम भी उनकी अकृत्रिम भावना का हार्दिक सम्मान करते हुए उनके हृदयों में

अपने शील की अमिट शाप छोड़ जाते हैं। फलतः राम का कष्ट विश्वजनीन हो जाता है। क्या यह एक असाधारण और आश्चर्यजनक बात नहीं है कि साधारण नर नारी अयोध्या के युवराज और युवराज्ञी से रंचमात्र भी भयभीत न होकर उनके साथ सहज आत्मीयता के सूत्र में बध जाते हैं? भायप भक्ति में डूबे भरत समस्त अयोध्यावासियों के साथ नंगे पाँव राम को लौटा लाने को दौड़े चले जा रहे हैं? वह भरत जिसे राजा बनाने के लिए ही उसकी माँ ने (साधारण लोगों की दृष्टि में) यह सारा नाटक किया था?

भरत राजा हों, वस्तुतः यह तो उस महानाटक की भूमिका मात्र था। महानाटक तो चित्रकूट प्रसंग के बाद ही आरंभ होता है। सीताहरण और रावणसंहार। इस प्रकार अनार्यों—आरण्यक, ऋषि, मुनि और तपस्वियों के वधिकों—का नाश करवाकर राम को अनुकरणीय, आदर्शवान और यशस्वी बनाकर माता कैकेयी अपने लक्ष्य की पूर्ति करती हैं।

"वन की ओर राम का जाना
मानवता की जय है
आर्य सभ्यता की चिर मानव,
स्वतंत्रता की जय है।" (कैकेयी—द्वादश सर्ग)

हमें मानना पड़ेगा कि (राम को वन भेजने में कैकेयी का राष्ट्रीय स्वार्थ था, एक निश्चित सशक्त योजना थी न कि वैयक्तिक हित कामना। निःसन्देह वह एक राष्ट्रीय कर्मनिष्ठ नारी है, उसकी तुलना दुर्लभ है।

मनोवैज्ञानिक पक्ष :

रामचरितमानस की महारानी कैकेयी का चरित्र उद्घाटन राम राज्याभिषेक के अवसर पर मंथरा के साथ संवाद के समय होता है। इस संवाद में कवि की सूक्ष्म मनोवैज्ञानिक दृष्टि, नारी स्वभाव तथा चरित्र-चित्रण की कुशलता का दर्शन होता है। प्रसंग का प्रारंभ होता है मंथरा के परिचय से—

नाम मंथरा मंदमति चेरी कैकेइ केरि।
अजस पेटारी ताहि करि गई गिरा मति फेरि॥

मतिभ्रष्टा मंथरा, राज्याभिषेक की तैयारी देख जलती हुई स्वामिनी के पास पहुँचती है और 'त्रियाचरित' को सार्थक करने वाले बड़े-बड़े आँसू ढुलकाते हुए वह साँसे लेती है—

हँसि कहि रानि गालु बड़ तोरे। दीन्ह लखन सिख अस मन मोरे।

किन्तु कुटिला मौन रहकर केवल ठंडी साँसे भरती है। रानी घबराकर राम महाराज तथा अन्य पुत्रों का कुशल क्षेम पूछती हैं। प्रत्युत्तर में वह कहती है—

रामहि छाड़ि कुशल केहि आजु। जेहि जनेसु देइ युवराजु॥
भयेउ कौसिलहि विधि अति दाहिन। देखत गरब रहत उर नाहिन॥

उल्लास से हृदय भर उठता है। तो आज वह मंगल दिन आ गया है, प्राण प्रिय राम राजा बनेगा। वह राम—जिसकी अपने प्रति प्रीति की वे कई प्रकार से परीक्षा ले चुकी हैं और जिसके स्वभाव पर मुग्ध होकर वे विधि से यह मानती हैं—

जौविधि जनमु देइ करि छोहू। होइ राम सिय पूत पतोहू ॥
प्रान ते अधिक राम प्रिय मोरे। तिन्हके तिलक क्षोभ कस तोरे ॥

यह एक विमाता के उद्‌गार हैं। वे मंथरा को धिक्कारती हैं—
पुनि अस कबहुँ कहसि घर फोरी। तब धरि जीभ कढावौं तोरी।

और रघुकुल की रीति का वर्णन करते हुए कहती हैं
जेठ स्वामि सेवक लघु भाई। यह दिनकर कुल रीति सुहाई ॥

आज आनंदावेग हृदय में मा नहीं रहा है
राम तिलक जो साँचेहुँ काली। देऊँ माग मन भावत आली ॥

ऐसी निस्वार्थ, निष्कपट, विवेकी, राम में उत्कृष्ट प्रेम रखने वाली माँ कैसे क्यों, अचानक कालसर्पिणी बन गई? एक गंभीर विचारणीय प्रश्न है—इस प्रश्न का उत्तर ढूँढ़ने के लिए हमें आदर्श के उच्च धरातल से उतर कर पृथ्वी के ठोस धरातल पर आना होगा क्योंकि इस प्रसंग के आगे का कैकेयी का चरित्र लौकिक चरित्र है।

राम के व्यक्तित्व और उनके प्रति कैकेयी के वात्सल्य से मंथरा पूर्णतः परिचित है अतः राम के प्रति दुर्भावना उत्पन्न करना सहज नहीं है। तब वह अनुभव करती है कि कौसल्या के प्रति सद्‌भाव एवं राम-सीता के प्रति निश्छल प्रेम रखने वाली कैकेयी के मर्म पर आघात किए बिना इष्ट सिद्धि न होगी (यहीं सरस्वती द्वारा प्रेरित बुद्धि-कौशल कार्य करता है)। यह एक मनोवैज्ञानिक सत्य है कि नारी की समस्त तामसीप्रवृत्ति सौतिया डाह में केन्द्रित रहती है, जिसके प्रभाव में वह मातृत्व के सहज वात्सल्य को कुचल कर सौतेले पुत्र पर अत्याचार करने लगती है।

मंथरा इसी शस्त्र को उठाती है। राम के प्रति कोई द्वेष न दिखाते हुए राजतिलक के अनिष्टकारी प्रभाव की आशंका उत्पन्न करते हुए कहती है—

राजहि तुम पर प्रेम बिसेखी। सवति सुभाउ सकइ नहिं देखी ॥

× × ×

रचि प्रपंच भूपहि अपनाई। रामतिलक हित लगन धराई ॥

× × ×

चतुर गंभीर राम महतारी। बीचु पाइ निज बात सँवारी ॥
पठये भरत भूप ननिऔरे। राम मातु मत जानब रौरे।

— —

इसीलिए तो—भयेउ पाखु दिन सजत समाजू। तुम्ह पाई सुधि हम सन आजू ॥

— — —

अतः—रेख खँचाइ कहौं बल भाखी। भामिनी भइउ दूध कै माँखी ॥
जो सुत सहित करहु सेवकाई। तो घर रहहु न आन उपाई ॥

अन्यथा जिस प्रकार—'कद्रू बिनतहि दीन्ह दुख, तुम्हहिं कौसिला देब'
भरत बंदीगृह, सेइहहिं, लखन राम के नेब।'

तीर निशाने पर बैठा। कैकेयी का आत्माभिमान तड़प उठा। सौतिया डाह ने स्पष्ट कर दिया कि संघर्ष राम और भरत का नहीं, वरन् उसका और कौशल्या का है। महाराज के साथ कुमंत्रणा करके उसके ही विरुद्ध नहीं, भरत जैसे निष्कलंक के साथ भी कपट किया गया। पुत्र कारागार में बंदी बनाकर रखा जायगा—कौन माँ इसे सहन कर सकती है और फिर ऐसी माँ जिसने निष्कपट भाव से सौतेले पुत्र के साथ अनन्य प्रेम किया, सौत को बड़ी बहन का आदर दिया—उसके साथ ऐसा छल? बात मन में बैठ गई, पन्द्रह दिन से राजतिलक की तैयारी हो रही है और भरत को बुलावा भी नहीं भेजा गया? महारानी कौशल्या के प्रति कभी क्षोभ न प्रकट करने वाली दासी आज जो यह साहस कर रही है वह असत्य नहीं है। सुमति कुमति में परिवर्तित हो गई। मंथरा ने और मंत्र फूँका—

पूछेऊँ गुनिन्ह रेख तिन्ह खाँचि। भरत भुआल होहिं यह साँची॥

× × ×

सुतहि राजु रामहि बनवासू। देहु लेहु सब सवति हुलासु॥

विवेकशून्य कुबुद्धि प्राप्त रानी राजा की सत्यता और मंथरा की कुचाल न पहचान पाई, उसे तो बस एक ही धुन थी—

जस कौसिला मोर भल ताका। तस फल उन्हहि देऊँ करि साका॥

वस्तुतः उसे यह कल्पना भी न थी कि महाराज सच में राम के वियोग में प्राण त्याग देंगे, उसे मनु के तप और वरदान तथा तापस के अभिशाप का पता न था (दैववश राजा भी इसे भूले रहे और अं। समय उन्हें इसका स्मरण हुआ, तब उन्होंने कौसल्या को तापस की कथा सुनाई थी। अन्यथा वह महाराज की इस विनय पर संभवतः विचार करती (भास के 'प्रतिमा' नाटक की कैकेयी इस कथा को जानती थी अतः जब भरत उसे धिक्कारते हैं तब वह कहती है कि महाराज को शा।विमुक्त करने के लिए वह १४ दिन के लिए राम को वन भेजना चाहती थी किन्तु भूल से दिन के स्थान पर वर्ष निकल गया।) किन्तु मानस की कैकेयी तो इस कथा से पूर्णतः अनभिज्ञ थी और इस समय तो ईर्ष्या और क्रोध के बवंडर ने उसकी आँखें बन्द कर दी थी। यहाँ तक कि भरत की भव्य मूर्ति भी उसकी आँखों से ओझल हो गई थी और उसे क्षण भर भी यह विचारने का अवसर नहीं मिला कि इसका प्रभाव रा। प्रेमी भरत पर क्या पड़ेगा? उसकी आँखें तो तब खुलीं जब उसके कानों ने सुना—

को तू अहसि सत्य कहु मोही।

धर्मधुरीण भरत की मर्म भेदी वाणी ने सत्य की आँख खोल दी। कैकेयी ने अपने सच्चे स्वरूप को जाना और जब अपनी भयंकर भूल का उसे ज्ञान हुआ तो हृदय की उमड़ती असीम व्यथा ने वाणी का मार्ग अवरुद्ध कर दिया, फिर उसके मुख से एक शब्द भी नहीं निकला।

चित्रकूट में—लखि सिय सहित सरल दोउ भाई।
कुटिल रानि पछितानि अघाई॥
अवनि जमहि जाचति कैकेई।
महि न बीचु बिधि मीचु न देई॥

इस भीषण ग्लानि का कारण केवल रामादि की सरलता ही नहीं है—अपितु हृदय की उन सात्विक वृत्तियों की ग्लानि है जिनको 'मंदमति चेरी की वातों में आकर रानी ने मार डाला था।

जिन राम के कष्ट का कारण वह स्वयं थी वे ही राम निष्कपट भाव से सर्वप्रथम चित्रकूट में उसी से आकर भेंट करते हैं। पश्चाताप की जिस अन्तर्व्यथा से वह जल रही थी राम के सरल व्यवहार ने उसे और द्विगुणित कर दिया अतः यह इच्छा करना कि पृथ्वी फट जाय और वह उसमें समा जाय या मृत्यु ही उसे उठा ले इससे अधिक कारुणिक और क्या हो सकता है? एकाकी, अपनी ग्लानि में गलती कैकेयी, की यह दयनीय दशा किस सहृदय को द्रवित नहीं कर देगी? परिस्थिति की शिकार बेचारी कैकेयी, क्या आप उसे अपराधिनी कहेंगे? वस्तुत उसने जो कुछ किया वह 'कर्तव' मात्र था स्वभाव नहीं। राम के प्रति भरत के हृदय में अगाध प्रेम उसके स्नेह रस द्वारा ही तो अंकुरित और पल्लवित हुआ था। स्वयं तुलसी दास ने प्रच्छन्न रूप मे संकेतों द्वारा इस तथ्य को स्वीकार किया है तथा उसकी कुटिलता को, जो स्वाभाविक न थी, 'सुरमाया वस' कहा है।

कैकेयी की निर्दोषिता को यदि और स्पष्ट प्रमाण चाहिए तो आइए वाल्मीकि रामायण देखें। तुलसी के राम आदर्श राम हैं पर वाल्मीकि के राम कई स्थलों पर दुर्बल और अपूर्ण हैं। राम, वनवास की आज्ञा सुनकर पिता के सामने तो धैर्य धारण किए रहते हैं पर माता से आकर कहते हैं तेरे लिए, वैदेही के लिए और लक्ष्मण के लिए दुखदायक समय आ गया है। सीता से कहते हैं 'भरत के सामने तुम मेरी प्रशंसा न करना क्योंकि समृद्धिवान पुरुषों को दूसरों की प्रशंसा सह्य नहीं होती। यदि तू भरत के सामने मेरी बड़ाई करेगी तो वे तेरा भरण—पोषण नहीं करेंगे। लक्ष्मण के सम्मुख पिता की स्त्रैणता पर आक्षेप करते हुए कहते हैं कि 'हे लक्ष्मण। कोई मूर्ख भी ऐसा न करेगा कि स्त्री के कहने पर मुझ जैसे आज्ञाकारी पुत्र को त्याग दे।'—ये कथन स्पष्ट करते हैं कि राम का हृदय कैकेयी की तरफ से साफ न था, वरन् उनके मन में कैकेयी के प्रति भाँति-भाँति की शंकाएँ उठा करती थी। वनवास में उन्हें चिन्ता थी कि कैकेयी उनकी माता और लक्ष्मण की माता को सताती होगी। विराध जब अपने अंक में सीता को उठा लेता है तब भी लक्ष्मण से कहते हैं—

> अत्यन्त सु संवृद्धा राजपुत्री मनस्विनाम्।
> यदभिप्रेतमस्मासु प्रियंवर वृत्तं चयत॥ (अ० द्वि० सर्ग-१८)
> कैकेयचास्तु सुसम्पन्नं क्षिप्रमधैव लक्ष्मय।
> या न तुष्यति राज्येन पुत्रार्थे दीर्घ दर्शिनी (अ० दि० सर्ग-१९)

अर्थात् कैकेयी ने इस अभिप्राय से वन भेजा कि सीता राक्षसों द्वारा हरी जायंगी और मैं उसकी रक्षा में राक्षसों द्वारा मारा जाऊँगा, तब उसका भरत निष्कलंक भाव से राज्य भोगेगा, अस्तु उन्हें भरत के सौभाग्य से ईर्ष्या है 'एक मात्र कैकेयी पुत्र भरत अपनी पत्नी सहित सुखी होंगे-क्योंकि वे अति प्रमुदित हो अयोध्या के राज्य का महाराजाओं की भाँति अकेले उपभोग करेंगे। क्या जो निस्पृह, उदार, महान और निश्छल है उसके हृदय में ऐसी कुभावनाएँ उठेगी? इसी प्रकार वाल्मीकि की कौशल्या भी 'मानस' की गरिमामयी

कौशल्या नहीं है, उनमें भी मानवीय दुर्बलताएं हैं। राम निर्वासन का समाचार सुनते ही अतीत में कैकेयी के हाथों सहे अपमान तथा भविष्य के अनिश्चय से विह्वल होकर करुण क्रंदन करने लगती हैं। और महाराज दशरथ के पक्षपात पूर्ण व्यवहार की आलोचना करते हुए राम को पिता की अन्यायपूर्ण आज्ञा न मानने का आदेश देती हैं। यही नहीं लक्ष्मण की इस मंत्रणा का समर्थन करती हैं कि यदि अयोध्या का राज्य प्राप्त करने में पिता बाधक बने तो उन्हें भी ठिकानें लगाने में हिचका न जाय और जब राम इसके लिए तैयार नहीं होते तो वन चलने का दुराग्रह करते हुए आत्महत्या की धमकी देती हैं। क्या कौसल्या-रामजननी का यह आचरण सौतिया डाह को नहीं व्यक्त करता ? अतः यदि कैकेयी ने अपने पुत्र को राजा बनाने के लिए राम को वनवास दिया तो क्या अनुचित किया ? उसने तो अपने और भरत के उस अधिकार की रक्षा की जिसे राम के प्रति अनन्य प्रेम होने के कारण उसने स्वेच्छया छोड़ दिया था। कहा जाता है कि कैकेयी को अर्पित करते हुए महाराज कैकय ने यह वचन लिया था कि कैकेयी से उत्पन्न पुत्र ही राज्य का अधिकारी होगा। किन्तु राम ज्येष्ठ पुत्र थे अतः कुल परम्परा की प्रतिष्ठा बनाए रखने और राम पर प्रेम होने के कारण कैकेयी स्वयं महाराज को राम को युवराज पद पर अभिषिक्त करने के लिए कहती है (इसी प्रसंग को लेकर 'मानस' में दशरथ कैकेयी से कहते हैं 'भामिनी भयउ तोर मन भावा, घर घर उत्सव बाज बधावा')। राम राज्याभिषेक का मांगलिक समाचार दोनों माताओं को मिल जाता है, वे प्रसन्न होकर दास दासियों को पुरस्कार दे रही हैं, सम्पूर्ण अयोध्या का शृंगार हो रहा है, किन्तु वहीं राजभवन में रहने वाली भरत की माता तक (संभवतः मंथरा के अतिरिक्त उनके पास अन्य दास दासी न थी) यह समाचार नहीं पहुँच पाता है। क्यों ? एक दीर्घ प्रश्न है। क्या सचमुच इसके पीछे कोई षडयंत्र है ? भरत को भी इस अवसर पर न बुलाना इस तर्क की पुष्टि करता है। यदि यह कहा जाय कि समय न था तो इसके प्रत्युत्तर में यह प्रश्न उठता है कि अभिषेक के लिए रात्रिभर में दूर दूर से पवित्र जल मँगवाया जा सकता था किन्तु भरत तक समाचार नहीं पहुँचवाया जा सकता था ? यही प्रश्न वाल्मीकि की कैकेयी महाराज दशरथ से करती है।

यह सत्य है कि वाल्मीकि के राम भगवान की अपेक्षा मानव अधिक है। तुलसी ने भगवत और मानवत्व में समन्वय स्थापित करने की चेष्टा की है किन्तु उनका भगवत् स्वरूप प्रधान हो गया है और मानव उसके भीतर खो गया है। हम भी मानव हैं अतः हमें मानवीय दृष्टिकोण से ही कैकेयी के आचरण को आँकना है और निर्विरोध यह स्वीकार करना है कि कैकेयी का चरित्र न केवल स्वाभाविक है अपितु लौकिक सत्य है। वह एक महान् त्यागमयी नारी थी। सौत के पुत्र राम को उसने जो प्यार दिया वह दुर्लभ है अन्यथा कौन माँ अपने पुत्र का हक छीनकर सौत के पुत्र को देगी और इसमें सन्देह नहीं कि यदि उसे यह अनुभूति न हुई होती कि उसके तथा उसके पुत्र के साथ कपट का व्यवहार किया गया है तो आज वह संसार की आँखों में एक आदर्श पूजनीया नारी होती।

आध्यात्मिक पक्ष :

भक्त हृदय की पराकाष्ठा यदि देखनी हो तो वह है भरत का चरित्र। और भरत चरित वस्तुतः है क्या ? वह है भक्ति चन्द्र की सोलहों कलाओं का विकास, इष्ट देव के

प्रति सर्वतो भावेन समर्पण की सम्पूर्ण विवृत्ति। केवल एक मात्र भरत में ही दुर्लभ सीताराम प्रेम पीयूष को सर्वजन सुलभ बनाने की क्षमता थी, अस्तु चराचर को अतुल भक्ति रसामृत सिंधु में चर को अचर और सचर को अचर बनाने के लिए आवश्यकता थी उस प्रेमामृत को व्यक्त करने की। अतः प्रभु ने माता कैकेयी को सूत्रधार बनाकर महा-नाट्य का आयोजन किया जिससे प्रेम सुधा पूर्ण रूप से प्रकट हो सके। इस आयोजन को देवताओं ने भले ही भूभार हरणार्थ माना हो पर वास्तविकता कुछ और ही थी। राम, रावण वध के लिए ही, वन जाय—यह पूर्ण सत्य नहीं है वरन् एक विलक्षण रहस्य था और वह था—

प्रेम अमिय मंदर विरहु, भरत पयोधि गंभीर।
मथि प्रगटेउ सुर साधु हित, कृपासिंधु रघुवीर॥

यह पयोधि साधारण न था, इसीलिए 'विरह मंदर' की सृष्टि की गई। निश्चित रूप से यदि वन गमन की घटना न होती, तो भरत का प्रेम संसार न जान पाता और 'रामभगत अब अमिअ अघाहु' का आमंत्रण भी न प्राप्त होता। तब एक के बाद एक दुर्घटनाओं का ताँता लग जाता है—राज्याभिषेक का, कैकेयी की कुबुद्धि और कुचाल, प्रभु का वन गमन, महाराज की मृत्यु और भरत का आगमन। माता द्वारा 'आदिहु ते सब आपन करनी, कुटिल कठोर मुदित मन बरनी'—और शोक विह्वल पुत्र को 'सहित समाज राजपुर करहू, की सम्मति देना भी आह! कैसी विडम्बना है—

'मनहु जरे पर लोन लगावति'

असह्य पीड़ा से भरत चीख पड़ते हैं—

पापिनी सबहि भांति कुलनासा
जो पै कुरुचि रहि अति तोही। जनमत काहे न मारेसि मोही।

आयोजन सफल हुआ—'विरह मंदर' से 'भरत पयोधि' का मंथन हो गया। किन्तु अमृत से पूर्व 'हलाहल' का प्रगट होना भी आवश्यक है। भले ही उस विष की ज्वाला कितनी ही भयानक क्यों न हो? समुद्र मंथन के समय भी तो अमृत से पहले विष निकला था और शंकर उसका पान कर, नीलकंठ कहलाकर अमर हो गए। इस हलाहल को पिया माता कैकेयी ने किन्तु कैसी विडम्बना है कि' प्रेमहि ते विषपान करी पूजे जात गिरीश—यानी शंकर तो' महादेव हो गए पर कैकेयी 'पापिनी' 'कलंकिनी', 'कुलनाशिनी' कहलाई और उसके महत्व को यदि जाना किसी ने तो श्री राम ने—

दोस देहि जननिहि जड़तेई। जिन्ह गुर साधु सभा नहिं सेई॥

सच तो है राम का—अपने लाल का कार्य करने के लिए उसे ही तो सूत्रधार बनाया गया था किन्तु बदले में उसे मिला क्या चिर अपयश, विधवापन और प्राणप्रिय पुत्र का तिरस्कार। क्या किसी माँ को अपने धर्म परायण पुत्र से इससे भी अधिक कठोर शब्द सुनने को मिले होंगे?

"जब ते कुमति कुमत जिय ठयऊ। खंड खंड होइ, हृदय न गयऊँ ॥"

× × ×

"वर माँगत मन भई नहिं पीरा। गरि ना जीह मुँह परेउ न कीरा ॥"

× × ×

जो हसि सो हसि मुँह मसि लाई। आँखि ओट उठि वैठहिं जाई ॥

इस प्रकार माता कैकेयी को निमित्त वनाकर नट-नागर ने ऐसी स्थिति प्रस्तुत कर दी कि भरत का हृदय व्यथा से मथ उठा—और तव एक के अनंतर एक रत्न प्रगट होने लगे भरत समुद्र से। विना मंथन के यह सव लोक दृष्टि से अछूता ही रह जाता। सभी सुर और साधु इसे पीकर धन्य हो गए—पर वे साधारण थे। महत्ता तो उसकी हैं जिसके लिए हलाहल ही अमृत वन जाय अतः ऐसे शिव की अपेक्षा थी जिनके लिए हम 'कालकूट फल दीन्ह अमी को' कह सकें।

भरत समुद्र से तिरस्कार के रूप में जो शब्द निकले वही तो हलाहल था उसे पीकर अमर होने का सौभाग्य मिला कैकेयी को। भरत द्वारा परित्यक्त एवं समाज द्वारा वहिष्कृत होकर, माँ सर्वतोभावेन केवल राम की वन गई। अतः मंथन के प्रथम स्फोट के रूप में जो प्रकट हुआ वह प्रत्यक्ष रूप से कठोर गरल होने पर भी माता कैकेयी को नीलकंठ वनाकर प्रभु से अभिन्न वना देता है। भरत की फटकार ज़िस पश्चाताप को जन्म देती है वही संसार की ओर से समग्र विरति उत्पन्न करता है।

भरत को जन्म देने वाली भरत की माता निःसंदेह स्तुत्य है। उसने भगवान् और भक्त-राम के अंतर के भगवान और भरत के हृदय के भक्त—दोनों को 'वनगमन' की कठोर आज्ञां देकर जगा दिया। राम लोकनायक वने और भरत 'धरम धूरीण् भक्त'। सच है स्व० मैथिलीशरण गुप्त जी के शब्दों में—

धन्य है वह माई, जिसनें जना भरत सा भाई।

तथा कवि 'प्रभात' के शब्दों में—

नारी का नारीत्व अनूप तेरी पवित्रता का रूप
नारी का मातृत्व महान, तेरे गौरव का उत्थान।

कैकेयी समूची रामायण का एक सुदृढ़ आधार है: निःसंदेह यदि कैकेयी ने राम को वन न भेजा होता तो न सीता हरण होता, न रावण वध होता और न राम श्रेष्ठ लोक नायक सिद्ध होते अपितु राम के राज्याभिषेक के साथ राम कथा समाप्त हो जाती और राम, राम (जो सबमें रम रहा है) न वन पाते तथा राम कथा भी दादी नानी की एक सरस कहानी वनकर ही रह जाती।

अंततोगत्वा हम यही कह सकते हैं कि कैकेयी विशाल होकर भी मौन है, सम्पूर्ण होकर भीं नीरव है, शून्य होकर जैसे व्रह्म है।

महाकवि तुलसी की मिथकीय परिकल्पना

डॉ॰ शिवकरन सिंह
प्रवक्ता, हिन्दी विभाग, का॰ हि॰ वि॰ वि॰

मिथक-निरूपक के रूप में महाकवि तुलसी का मूल्यांकन कम हुआ है। इसे नहीं के बराबर माना जाता है। कहना न होगा कि मध्यकालीन कवि और उसके काव्य को सही दायरे में समझने के लिए इस प्रश्न को समझना आवश्यक है। जब भी हम पूछते हैं कि मिथक क्या है, तो, एक छोटा सा जवाव मिलता है कि प्रतीकों के संग्रथन को मिथक कहते हैं। इससे तो वात सुलझने के वजाय ओर उलझ जाती है। हमें यह मानने में कोई शंका नहीं है कि मिथक में अनेकानेक प्रतीक सर्पशिशुवत् संग्रथित रहते हैं। पर यहीं पर दूसरा सवाल खड़ा होता है कि आखिर यह संग्रथन क्यों और कैसे होता है। इसी के जवाव में शायद हमें उस मूलभूत चेतना का साक्षात्कार हो जिसकी हमें दरकार है। सभी लोग यह मानते हैं कि मानव की सामाजिक चेतना आरंभ में धर्मप्राण चेतना की क्रोड़ में पली थी। व्यक्ति ने अपने जीवन के प्रतीकों के माध्यम से धर्म के प्रतीकों की व्याख्या की थी। ये धर्म के प्रतीक चिन्तन और मनन के प्रमुख अंग थे। पुनः क्रमशः ये संस्कारों के रूप में रूढ़ होकर जीवन की दिशा के निर्देशक तत्त्व वन गए। जीवन के विकास क्रम में ये प्रतीक चेतना की अन्तःधारा से जुड़कर मिथकीय चेतना के रूप में बदले थे। प्रतीक धर्म प्राण थे चुनांचे मिथक भी उसी चेतना से ओत-प्रोत हो उठे। मिथक सामाजिक जीवन के द्वन्द्व से पैदा हुए थे और परवर्ती द्वन्द्व को नए सन्दर्भ में विश्लेषित करने के प्रमुख साधन भी सिद्ध हुए थे। जीवन सत्य का अभिव्यंजक सूत्र प्रतिभा से परिगृहीत होने के पश्चात् नए अर्थ का वाहक वन जाता है। यह केवल विश्वास पैदा करने का साधन नहीं होता वल्कि मानव चेतना की अनन्त खोज और उसकी उपलब्धि का कीर्तिमान वन जाता है। इस गवेषणा के दौरान गवेषक दो स्थितियों से गुजरता है। पहली स्थिति तो वह है जिसमें वह मूलादर्शों अथवा आद्य विम्वों का साक्षात्कार करता है और दूसरी स्थिति वह है जिसमें वह इन्हें धारण करता है। आद्य-बिंब या मूलादर्श ही बोध के जनक होते हैं। मिथक का संवंध व्यष्टि चित्त से नहीं बल्कि समष्टि चित्त से होता है। इसी को पाश्चात्य विचारकों ने सामूहिक अवचेतन का नाम दिया है। समष्टि चित्त चिर अभीप्सित अभिलाषाओं से आन्दोलित होता है। वंश परंपरा और परिवेशजनित प्रभाव इस इच्छा के जनक होते हैं। सभी अभिलाषायें सरलता से पूरी नहीं की जा सकती हैं। उनकी पूर्ति और अपूर्ति में द्वन्द्व चलता ह। इसी द्वन्द्व के समाधान के लिए कवि मिथक का सहारा लेता है। लीजेण्ड और मिथक में भेद होता है। लीजेण्ड वर्णन प्रधान होता है, पर मिथक व्यंजना प्रधान। आस्था और विश्वास मिथक के मेरुदण्ड होते हैं। आस्था क्रियाशीलता की जनक होती है और विश्वास उसे सबल आधार प्रदान करने का साधन। आस्था पावन विचारधारा की उद्भावना करती है और विश्वास सृजक और भावक में उसके संस्कार को दृढ़ करता है। आस्था कोमल

होती है, गतिशील और प्रवहमान होती है, व्यक्ति को आन्दोलित और स्पन्दित करती है जब कि विश्वास उसे थोड़ा कठोर बनाता है। इसीलिए मिथक में आस्था के धरातल पर कोमलता और विश्वास के धरातल पर थोड़ी कठोरता पाई जाती है। मिथक के आस्था-मय स्वरूप का स्पर्श करते ही अनन्त विचारों की शृङ्खला अनायास ही कौंध उठती है, उसकी फुलझड़ी छूटने लगती है, एक दीप्ति चतुर्दिक फैलने लगती है और विश्वास उन्हें बाँधकर मूर्त रूप में हमारे सामने रख देता है। धर्म का संबंध सामाजिक अनुशासन से होता है। इसके लिए धर्म प्राण चिन्तन की अपेक्षा होती है। इस चिन्तन में लोक और लोकोत्तर, जीवन और प्रकृति दोनों एकमेक हो उठती है। इसीलिए हर मिथक के मूल में प्राकृतिक और अति प्राकृतिक तथ्यों की व्यंजना पाई जाती है। मिथक वैय-क्तिक जीवन के साथ ही सामाजिक जीवन के रहस्य का प्रमुख साधन होता है। प्रकृति के चित्रण में मिथकीय भूगोल और अति प्राकृतिक के चित्रण में मिथकीय काल से विशेष सहायता मिलती है। भूगोल को देश चित्रण की संज्ञा भी दी जा सकती है। मिथकीय देशकाल की अपनी विशेषता होती है। देश का संबंध पिण्ड और ब्रह्माण्ड के निरूपण से होता है और मिथकीय काल का संबंध ऐतिहासिक काल के अतिक्रमण से। ऐतिहासिक काल सन् संवत् का सिलसिले वार वर्णन पेश करता है। यह रेखिक होता है। मिथकीय काल किसी निश्चित व्यवस्था का अनुगमन नहीं करता। वह प्रत्यावर्तन प्रधान और चक्रिल होता है। कलाकार नियति के चित्रण के द्वारा—अर्थात् सृष्टि के उद्भव, स्थिति संहार और कर्मचक्र के चित्रण के द्वारा—इसे निश्चित रूप प्रदान करता है। देश वस्तुगत अभियान और काल आत्मगत अभियान का परिचायक होता है। मिथक को ग्रहण करने वाले कवि का अपना जीवन दर्शन होता है। इसे कवि का संस्कृति दर्शन अथवा उसकी जागरूक चेतना का ऐतिहासिक बोध कहा जा सकता है। सांस्कृतिक तत्वों के साथ ही लोक तत्वों की प्रतिष्ठा के लिए संस्कृतियों के द्वन्द्व को सामने रखा जाता है और अन्त में उनके समाधान का संकेत कर दिया जाता है।

मिथक में कथानक रूढ़ियों के चक्र को ग्रहण किया जाता है। इनमें मानव अनुभूति के कई स्तर रूपायित होते रहते हैं। इन स्तरों के सूक्ष्म विश्लेषण के द्वारा समाज का समाजशास्त्रीय अध्ययन किया जा सकता है। इससे उसके ऐतिहासिक विकास क्रम को समझने के सूत्र मिल सकते हैं। मिथक निरूपक रचनाकार की दृष्टि मानव कल्याण की वृहत्तर भूमिका से जुड़ी होती है। इसमें प्रतिभा और प्रयोग का संयोग होता है। प्रतिभा मिथक के तह तक जाकर सत्य का साक्षात्कार करती है और प्रयोग उसे अभिनव अर्थ-सन्दर्भ प्रदान करता है। इस तरह मिथक के कल्पित कलेवर में यथार्थ जीवन बोध के स्पन्दन मिलते हैं। जो लोग मिथक को कल्पित मानकर उसे समझना नहीं चाहते, वे मानव के ऐतिहासिक विकासक्रम को समझने के आवश्यक सूत्र से बंचित रह जाते हैं।

मानस-रूपक को पढ़ने के पश्चात् कुछ लोगों की आमधारण होती है कि रामचरित मानस अध्यवसित रूपक है। पर वे बहुत सही नहीं सोच पाते हैं। मानस रूपक सांग रूपक की कोटि का हैं, न कि अध्यवसित रूपक की कोटि का। हिन्दी में अध्यवसित रूपक की कुछ विशेपताएं 'कामायनी' में मिलती हैं। उसमें मनोभावों को पात्र का रूप दिया

गया हैं और मानस की सक्रियता को चित्रित करने के लिए नाटकीय पद्धति का उपयोग किया गया है। कथा का विकास लौकिक और मानसिक धरातलों पर हुआ है और उसकी बनावट बुनावट में फान्तसी का प्रचुर प्रयोग किया गया है। अध्यवसित रूपक स्वच्छन्दतावादी काव्य के अधिक निकट पड़ता है। मानस में सामाजिक आदर्श की बात है पर वह निश्चित ढर्रे का है। वह परंपरा दर्शनवाद के अधिक निकट है। कुछ लोग उसे आध्यात्मिक विकासक्रम का पर्याय मानकर मेरी मान्यता का खण्डन कर सकते हैं। पर उन्हें यह ज्ञान होना चाहिए कि आध्यात्म न तो केवल सामाजिक आदर्श है और न केवल मानसिक कार्य व्यापार। वह तो चेतना का ऐसा उन्मेष है जिसमें भौतिक और मानसिक क्षितिज सिमट कर एक वृहत्तर आत्म-बोध का मार्ग प्रशस्त करता है जो इन दोनों से परे होता है। उसका अनुशासन अलग होता है। इस पर कुछ लोग शंका करते हैं। किया करें, उससे अध्यात्म का तो कुछ बनता विगड़ता नहीं, हाँ अथाह समुद्र को अपनी लग्गी से थहाने के प्रयास में वे सत्य से अवश्य वंचित रह जाते हैं। वे वेचारे यह नहीं समझते कि जो वुद्ध्यातीत है उसे बुद्धि के जरिये कैसे समझा जा सकता है ? उसे तो समझने की केवल एक आवश्यक शर्त है, उस अनुशासन के प्रति पूर्ण आत्मसमर्पण-आत्मबलि। एक कहावत है भूत जव खून चख लेता है तो वोलता है। आध्यात्मिकता के क्षेत्र पर यह कहावत पूरी तरह लागू होती है। यहाँ तो हमें अपने को पूरी तरह समर्पित करना पड़ता है तव कहीं कुछ हाथ लगता है। पर आज के लोंगों के पास इतना धैर्य और संकल्प कहाँ। तुलसी ने तो साफ लिखा है, 'एहिसर आवत अति कठिनाई, राम कृपा विनु आइ न जाई।' भौतिकता की चकाचौंध से चमत्कृत होकर लोग कहीं अलग ही अँटक जाते हैं, कुछ अगर थोड़ी जिज्ञासा लेकर आगे भी बढ़ते हैं तो उचित आस्था और विश्वास के अभाव में मंजिल तक नहीं पहुँच पाते हैं। परिणाम यह होता हैं कि समर्पण की कौन कहे किंचित अर्पण की अवस्था भी नहीं आ पाती तुलसीदास ने ठीक ही लिखा है :

मोह निसा सव सोवन हारा,
देखहिं सपन अनेक प्रकारा।

मानस का समूचा कार्य-व्यापार निश्चित वोध की ओर ले जाता है, जिसे सांस्कृतिक प्रौढ़ता का पर्याय कहा जा सकता है। इसमें रहन-सहन मानस और भाषा तीनों की प्रौढ़ता का दर्शन होता है। कवि 'इलियट' के शब्दों में महाकवि तुलसी में भूत की विश्लेषतात्मक दृष्टि, वर्तमान के प्रति पूर्ण विश्वास और भविष्य में पूर्ण आस्था का भाव मिलता है। धर्म रथ के विवेचन में तुलसी ने स्पष्ट लिखा है :—

महा अजय संसार रिपु जीति सकै सो बीर,
जाके अस रथ होइ दृढ़, सुनहु सखा मतिधीर।

व्यक्ति का मानस भी राम-रावण का युद्ध क्षेत्र होता है। यहीं तो सीता रूपी शील की चोरी होती है। यही तो, जानते हुए, हमारी दशरथ रूपी कर्मेन्द्रियाँ और ज्ञानेन्द्रियाँ राम को जन्म देकर भी भोग के चक्कर में उन्हें मानस से निर्वासित कर देती है। यहीं तो सव कुछ होता है, फिर भी हमारी आँख क्यों नहीं खुलती है ? मानस कपोल-कल्पना में उलझ कर क्षणिक रंगीनियों की क्रोड़ में छिपने की बात नहीं करता है, वह कर्तव्य पराङमुख

बनाकर हमें दीन और दुनियाँ छोड़ने की बात नहीं बताता है। वह तो चट्टानी वास्तविकता-जीवन की उलझनों-से जूझने के लिए हमें शक्ति संयुक्त बनाता है। वह तो हमें व्यष्टि-समष्टि और उससे भी आगे बढ़कर लोकमुक्ति का मार्ग दिखाता है। हमें संबल प्रदान करता है, संकल्प युक्त बनाता है और आस्था और विश्वास के साथ बढ़ने का आह्वान करता है। संभवतः इन्हीं सूत्रों के आधार पर तुलसी को समझा जा सकता है।

तुलसी ने मिथक का प्रयोग किया है। उन्होंने राम मिथक को अपनाया है और उसे अपनी प्रतिभा से सँवार कर अपने उद्देश्य का वाहक बनाया है। उच्चकोटि का परंपरादर्शवादी कवि सुपठित और सांस्कृतिक परिवर्तनों से परिचित होता है। तुलसी में यह बात विशेष रूप से उपस्थित थी। तुलसी के पहले राम आख्यान अपने विकास की कई सरणियों को पार कर चुका था। आदि कवि की वाणी ने इस आख्यान को जो नया रूप दिया, वह प्रायः परवर्ती लोगों का प्रेरणा-स्रोत बन गया। देश में तुलसी के पूर्व अनेक रामायणों की रचना हुई। राम-कथा का विस्तार अन्य देशों में भी हुआ। इससे एक सवाल सामने आता है, आखिर वाल्मीकि के पूर्व इस आख्यान के कुछ सूत्र मिलते हैं, या वाल्मीकि को ही इसका आदि जनक माना जा सकता है। एक बात साफ है कि वाल्मीकि ने अचानक इस आख्यान को न ग्रहण किया होगा। उ.के पूर्व इसकी मौखिक परंपरा अवश्य रही होगी। इस बात को मानने के आधार भी हैं। वेदों में मानस के कुछ पात्रों का नाम मिलता है। प्रतापी राजा के रूप में दशरथ; किसी अन्य राजा के रूप में राम तपस्वी और विद्वान ब्राह्मण के रूप में जनक विदेह; प्रजापति की पुत्री, सोमर जा की परिणीता तथा कृषि की अधिष्ठात्री के रूप में सीता का नामोल्लेख हुआ है। यह कह पाना थोड़ा कठिन है कि इन पात्रों का समावेश वहाँ कैसे हुआ है। वाल्मीकि रामायण पहला ग्रंथ है जिसमें रामचरित पर गंभीरता से विचार किया गया है। कुछ लोगों का कहना है कि वाल्मीकि ने रामायण से राम वन गमन के अर्थ को द्योतित करना चाहा था। इसीलिए उसके बालकाण्ड और उत्तरकाण्ड को प्रक्षिप्त माना जाता है। महाकवि वाल्मीकि ने संभवतः राम के वन जाने, सीता के हरे जाने, सेना तैयार करके रावण पर चढ़ाई करने तथा उसको मारकर सीता के उद्धार करने की घटनाओं पर विशेष बल दिया है। महाभारत काल में श्री राम एक प्रतापी राजा के रूप में प्रतिष्ठित हैं। यहाँ के घटना क्रमों का संकेत अयोध्याकाण्ड से लंकाकाण्ड तक के कार्यों को समेटे हुए हैं। कहा जा चुका है कि वाल्मीकि रामायण के पश्चात् कई रामायणों की रचना हुई थी; इनमें अध्यात्म रामायण, आनन्द रामायण, भुशुण्डि रामायण, संवृत रामायण, लोमश रामायण, अगस्त रामायण, सुवर्चस रामायण आदि प्रमुख हैं। अध्यात्म रामायण से ही रामचरित पर नया रंग चढ़ने लगा था। फिर भी वे बाद में कुछ समय तक एक महान चरित्र के रूप में प्रतिष्ठित थे। संस्कृत की परवर्ती काव्य परंपरा में थोड़े बहुत परिवर्तन के साथ इसी आदर्श को अपनाया गया। पूरे देश में इसका प्रचार प्रसार चलता रहा। राम काव्य की लोक परंपरा का यह काल अपने में महत्त्वपूर्ण था। इसके बाद इसमें कुछ परिवर्तन शुरु हुआ। बौद्ध जातकों में राम कथा का रूप बदला। दशरथ के स्थान पर बोधिसत्व का उल्लेख हुआ, इन्द्र को बन्दर मान लिया गया, दशरथ को जम्बूद्वीप का राजा बना दिया गया, राम को

दशरथ की अवज्ञा करते हुए चित्रित किया गया। राम आख्यान में मनमानी परिवर्तन शुरू हुआ। यह स्थिति जैनों तक आते-आते और वद-से-वदतर वनी; दुराग्रह पूर्ण वनी। मानस के सभी पात्र जैन मतावलंवी वन गए। इस परिवर्तन के दो कारण थे। एक तो उन लोगों में हमारे धर्म के प्रति कोई आस्था नहीं थी। दूसरे अपने मत को दुराग्रहपूर्ण ढंग से ग्रहण करने के कारण हिन्दू धर्म को विकृत करने का प्रयास किया गया। इन धर्मों को राज्याश्रय में वढ़ने और पनपने का अवसर भी मिला। इस प्रचार-प्रसार का असर भी हुआ, वेवर, याकोवी और ह्वीलर जैसे लोग इसकी चपेट में आ गए। राम आख्यान को बौद्ध और ज़ैन धर्मों से जोड़कर देखने का प्रयत्न हुआ। यह खिलवाड़ हमारे इतिहास के साथ पहली वार नहीं हुआ, इसके पहले भी कई वार हो चुका था। इन सव में फादर कामिल वुल्के का विचार अधिक संतुलित है। उसका उल्लेख अपेक्षित है। उनका कहना है कि इक्ष्वाकु वंशीय वेदान्तर परम्परा सूत्रों के माध्यम से प्रचलित थी, वाल्मीकि ने उसे ग्रहण किया और अपने 'रामायन' की रचना की। इस रामायन में अयोध्या काण्ड तक के प्रसंग थे। यह पहला प्रयास नरकाव्य के रूप में सामने आया। इसके दूसरे स्वरूप में रामाख्यान में संशोधन और परिवर्द्धन हुए। चौथी शताब्दी के वाद परिवर्तन की यह क्रिया और तेज हुई। एक ओर तो राम को विष्णु का अवतार मान लिया गया, दूसरी ओर अन्य संप्रदायों में इसके रूप को बिगाड़ने की कोशिश भी चलती रही। यह स्थिति तेरहवीं शताब्दी तक वनी रही। तीसरे स्वरूप में अवतारवाद का संयोग भक्ति के साथ हुआ। वुल्के का यह मत प्रायः ऐतिहासिक सत्य पर आधारित है। देवोपासना का विकास वाद में हुआ। दैवोपासना के धरातल पर ही रामाख्यान राम-मिथक के रूप में वदला। पूरे विश्व में मिथकों का आविर्भाव महामानव के दैवीकरण से ही हुआ था।

अव हम महाकवि तुलसी की मिथक परिकल्पना की वात पर विचार कर सकते हैं। इस तथ्य पर विचार करने के पहले एक वात का संकेत कर देना आवश्यक है। राम को विष्णु के अवतार के रुप में ग्रहण किए जाने के वाद ही विष्णु पुराण के आदर्श पर कुछ ग्रंथों की रचना हुई थी। इनमें राम पूर्वतापनीयोपनिषद्, राम उत्तर–तापनीयोपनिषद और सीतोपनिषद प्रमुख थे। इनकी रचना तुलसी के रामचरित मानस के थोड़े पहले हुई थी। कुछ नए दार्शनिक संप्रदाय भी सामने आए थे। तुलसी के समक्ष ये सभी आदर्श थे। तुलसी के समक्ष प्रमुख समस्या थी कि देश और उसमें वसने वाले लोंगों को विवेक हीन जड़ अहंग्रस्तता से मुक्ति की ओर कैसे प्रेरित किया जाय। मुक्ति की यह समस्या सदैव दुहरे उद्देश्य की वाहक थी। व्यक्ति के धारतल पर यह व्यक्ति की मुक्ति और राष्ट्र के धरातल पर विदेशी शासन से राष्ट्र की मुक्ति की परिचायक थी। राम द्वारा रावण का पराभव जव व्यक्ति मानस में स्थान ग्रहण करता है तो उसे व्यक्ति-मुक्ति का और जव राष्ट्र मानस में स्थान ग्रहण करता हैं तो उसे राष्ट्र-मुक्ति का वाहक माना जाता है। व्यक्ति ही राष्ट्र की इकाई होता है। हर व्यक्ति का निश्चित आदर्श के अनुकूल जीवन आदर्श को ग्रहण करना राष्ट्र मुक्ति का कारण वनता है। इसी तथ्य को तुलसी ने 'भाग छोट अभिलाष बड़' के द्वारा व्यक्त किया है। तुलसी का रामाख्यान व्यष्टि और समष्टि की इसी मुक्ति का साधन है। जो लोग इससे हट कर मानस के स्रोतों की खोज

करते हैं वे असल म तुलसी को समझ नहीं सकते हैं। इसीलिए तुलसी पर आक्षेप भी किए गए हैं। इतने महत् उद्देश्य की प्राप्ति के लिए जिस भी काव्य की रचना होंगी, वह साधारण न होगा। तुलसी कवि के रूप में अपन उत्तरदायित्व से परिचित थे। इसीलिए उन्होंने मानस में जो कुछ भी लिखा उसको कार्य-कारण संबंधों से जोड़कर वैज्ञानिक स्वरुप प्रदान किया।

भारतीय साहित्य में ही नहीं, विश्वसाहित्य में एक मोटिफ विशेष रुप से क्रियाशील पाया जाता है। इसे भारतीय शब्दावली मे हम देवासुर-संग्राम कह सकते हैं। व्यष्टि में इसकी पुनरावृत्ति शुभ-अशुभ या सद्-असद् के रुप में होती है और समष्टि में राम-रावण, कृष्ण, कंस, और पाण्डव-कौरव के रुप में। रावण, कंस और कौरवों का अहं इतना बढ़ जाता हैं कि वे सम्पूर्ण आदर्शों को लात मारकर सचराचर को अपने वश में कर लेना चाहते हैं। इससे उत्पीड़न और शोषण का चक्र चलने लगता है। तुलसी ने अपने समय उभड़ती जन-द्रोही शक्तियों को खुद देखा था। राष्ट्ररुपी सीता विदेशियों के चंगुल में फस चुकी थी। व्यक्तिगत जीवन से भी शील का अपहरण हो चुका था। धर्म के नाम पर अनक जन-विरोधी संप्रदाय प्रचलित हो चुके थे। भारतीय संस्कृति पराभूत हो चुकी थी। उन्हें यह सह्य न था। उन्होंने रामचरित मानस के रुप में इससे मुक्ति का आह्वान किया यह तभी सम्भव था जब वे अपने को संस्कृति की मूल धारा से जोड़ते। सम्पूर्ण ग्रन्थ इसी मूल धारा से जुड़ने के प्रयत्न का द्योतक है। समाज में प्रायः तीन तरह के लोग पाये जाते हैं। एक तो वे हैं जो भूत को सब कुछ समझते हैं। वे अपनी अन्ध-श्रद्धा के कारण वर्तमान की कदर्थना करतें हैं। दूसरे वे लोग हैं जो वर्तमान को ही महत्व देते हैं। ये लोग भी एकांगी होते हैं। तीसरे वे हैं जो भविष्य कल्पना में जीते हैं। न केवल अतीत-धर्मी होने से काम चल सकता है न केवल वर्तमान-धर्मी और न भविष्य-धर्मी। इन तीनों में एक सातत्य की खोज करनी पड़ती है। इस खोज में तीनों बदल जाते हैं और एक नए रुप में हमारे सामने आते हैं। तुलसी ने सचेतन कलाकार के रुप में इसको हृदयंगम किया था। उनकी प्रतिभा की चलनी में वे सभी तत्व छन गय थे जो हमारे लिए उपयोगी नहीं थे। इसीलिए उनका राम मिथक उनकी विधि-निषेध की संकल्प शक्ति से मण्डित होकर हमारे सामने आया था। वह हू-बहू वैसा नहीं था जैसा लोक-परम्परा में पाया जाता था। तुलसी ने जीवन के द्वन्द्व को झेला था और उसे द्वन्द्वातीत बनाना चाहा था। तुलसी के राम केवल पुराण, निगम और आगम सम्मत नहीं थे, वे कुछ और भी थे। वे तो असल में उनकी तपःपूत-साधना के परिचायक थे। तुलसी के मानस में राम का अवतरण पहले हुआ है और उनके ग्रन्थ में बाद में। मानस लोक मंगल स्वरुप शिव की मानसी सृष्टि है जो उचित समय पर भव के बन्धन से मुक्ति दिलाने वाली भवानी की जिज्ञासा के परिणाम स्वरुप सामने आया है। तुलसी ने उसकी धार को स्वयं झेला है। उसकी तीव्रता का अनुभव किया है। इससे उनका मानस व्यापक और सक्षम बना है, उनकी अन्तर्दृष्टि पनी हुई है और उनमें सद्‌विद्या का अवतरण हुआ है। उन्होंने इसी अवतरण की भूमिका को काव्य सृजन का प्रमुख उपजीव्य कहा है। वे लिखते हैं :

कवि न होउं नहिं बचन प्रबीनू। सकल कला सब विद्या हीनू॥

आखर अरथ अलंकृत नाना, छन्द प्रबन्ध अनेक विधाना।
भावभेद रसभेद अपारा, कवित दोष गुण विविध प्रकारा।
कवित विवेक एक नहिं मोरे, सत्य कहउँ लिखि कागद कोरे॥

कितनी स्पष्ट उक्ति है। कितनी सहज स्वीकृति है। क्या यह केवल विनय है जो उन्हें ऐसा कहने को बाध्य कर रहा है? क्या उन्हें अपनी क्षमता का ज्ञान नहीं है? जो वे ऐसा कह रहे हैं? नहीं-नहीं ऐसा समझना भूल है। तुलसी रचना-प्रक्रिया के सही स्वरूप से अवगत है। रचना के क्षणों में रचनाकार वह नहीं होता जो उसके ठीक पहले वह था। वह एक माध्यम बन जाता हैं जिसके द्वारा उदात्त अनुभूतियाँ अपने को अभिव्यक्त करती है।. तुलसी रचयिता नहीं हैं। शंभु के प्रसाद से उनके हृदय में जो सुमति पैदा हुई है, वही रामचरित मानस है। तुलसी को तो कवि होने का श्रेय मिल गया है। तुलसी तो वह क्षेत्र भर है जिसके माध्यम से वह प्रेरणा व्यक्त होती है। लेकिन यह साधारण बात तो है नहीं। हम आप वह क्षेत्र क्यों नहीं बन जाते, तुलसी वह क्षेत्र क्यों बनते हैं? इसका सीधा सा उत्तर है कि हमने चेतनता का वह धरातल प्राप्त नहीं किया है। तुलसी तो स्वीकार करते हैं:

'जस कछु बुधि विवेक बल मोरे, तस कहिहउं हिय हरि के प्रेरे।'

तुलसी उस प्रेरणा को ग्रहण करते हैं। इसीलिए वे मानस की रचना भी कर सकते हैं। मानस की रचना तुलसी की नियति है। तुलसी ने मानस का सृजन नहीं किया है, मानस ने तुलसी का सृजन किया है। कुछ पंक्तियाँ द्रष्टव्य है:

'भगति हेतु बिधि भवन बिहाई, सुमिरत सारद आवत धाई।'

अथवा—

"हिय सुमिरी सारदा सुहाई, मानस ते मुख पंकज आई।"

काव्य की आदि शक्ति शारदा भी स्मरण मात्र से दौड़ती आती हैं। सब कुछ स्वयं चालित लेखन की विशेषता का संकेत करता है। मानस को हृदय की संज्ञा भी दी जाती है। इसी को समझना है। आध्यात्मिक कवि का मानस साक्षात्कार परम तत्व के साक्षात्कार का पर्याय होता है। जो वाणी इसकी अभिव्यक्ति का साधन बनती है, वह विशिष्ट कोटि की होती है। 'राम चरित सर बिनु अन्हवाये' के द्वारा वे इसी का संकेत करते हैं। इस तरह तुलसी के राम का मिथक कुछ ऐसा नहीं है जिसके निश्चित ढाँचे को गढ़े गढ़ाये रूप में उन्होंने कहीं से पा लिया है और उसमें अपने चिन्तन का रंग भर दिया है। पढ़े-लिखे तुलसी के मानस में पूर्व परम्परा विद्यमान है, लेकिन वह जब मिथक के रूप में ढलती है तो उसमें उनके आत्म-बोध और अन्तःदीप्ति द्वारा अपेक्षित परिवर्तन हो जाता है। उनका सहज ज्ञान जिसे स्वीकार सका है, प्रेरणा के आवर्त में जो कुछ बंध सका है, वह तो सामने है और सब कुछ छोड़ दिया गया है। इसे अगर दूसरे रूप में कहें तो यह भी कह सकते हैं कि रचना-प्रक्रिया के सहज उद्दीप्त स्वरूप में बँधकर जो कुछ भी सामने आया है वह मिथक है।

तुलसी ने राम-मिथक की ऐतिहासिकता का संकेत किया है—

"जाग बलिक जो कथा सुहाई, भरद्वाज मुनिबरहि सुनाई।
कहिहऊँ सोइ संवाद बखानी, सुनहु सकल सज्जन सुखमानी॥

संभु कीन्ह यह चरित सुहावा, वहुरि कृपा करि उमहिं सुनावा।
तेहि सन जागवलिक पुनिपावा, तिन्ह पुनि भरद्वाज प्रतिगावा ॥"

इसमें वे बातें तो नहीं आई है जिनका हमने पहले संकेत किया है। वंदना प्रकरण में व्यास और वाल्मीकि के महत्व को स्वीकार किया गया है। उसके साथ ही अन्य स्रोतों को संकेतित कर दिया गया है। तुलसी के गुरु इसी ऊपरी कथा को उनसे कहते हैं। पर वे समझ नहीं पाते हैं। जव प्रेरणा से समझदारी पैदा होती है तो रामचरित मानस सामने आता है। लेकिन उसे समझने की तो एक आवश्यक शर्त भी सामने रख दी गई है :—

"अस मानस मानस चष चाही, भइ कवि बुद्धि विमल अवगाही।
भयउ हृदय आनन्द उछाहूँ, उमगेउ प्रेम प्रमोद प्रवाहू ॥"

ऐसा इसीलिए तो होता है कि इसमें श्री राम का उदात्त चरित्र वर्णित है जो पुराण और श्रुति का सार है। तुलसी का यह चरित्र ब्रह्म की विराटता, सगुण निराकार की अनिर्वचनीयता और सगुण साकार की रसवत्ता से भूषित है। उनके इस विधान में हमें लोक-लोकोत्तर की झांकी मिलती है। यही तो इस मिथ की सवसे वड़ी विशेषता है। तुलसी के राम का अवतरण अनुग्रहशील अवतरण है, लोक रंजक अवतरण है। इसी से मिथक के प्रसार का संकेत मिलता है। वन्दना प्रकरण से लेकर अन्त तक तुलसी श्रद्धा और विश्वास का गुणगान करते नहीं अघाते। भवानी और शंकर को श्रद्धा और विश्वास कहा गया है और श्रद्धा संवल रहित के लिए अन्तस्थ ईश्वर का साक्षात्कार दुर्लभ बताया गया है। यहाँ मिथक की एक अन्य विशेषता का पुनः साक्षात्कार होता है। मैं कह चुका हूँ कि तुलसी पहले द्रष्टा थे और वाद में स्रष्टा। उन्होंने अपने स्वयंप्रकाश को रूप दिया था। यही रूपायन 'मानस से मुख-पंकज आई' के द्वारा द्योतित है। यह क्रिया सहज बोध को सहज अभिव्यक्ति तक पहुँचाने की क्रिया है। मानस में शंकर रूपी गुरु को नित्य बोध स्वरुप माना गया है। इसे ध्यान में रखते हुए हम कह सकते हैं कि बोध, गुरु, शंकर और विश्वास प्रायः पर्यायवाची है। इसी तरह भवानी, आद्याशक्ति, श्रद्धा, ऋतंभरा प्रज्ञा, और प्रतिभा भी प्रायः समानार्थी हैं। यह पर्यायों का समीकरण न तो करिश्मा है, और न बुद्धि-विलास। यह तो असल में मानस के मिथक को समझन का मूल आधार है। इसी को राम शब्द के व्युत्पत्ति लम्य अर्थ से भी समझा जा सकता है। 'रामपूर्व तापनीय उपनिषद्' में इसका उल्लेख मिलता है। 'रा' का अर्थ राक्षस और 'म' का अर्थ मरण है राक्षस बध के लिए ही राम निराकार से नराकार रूप ग्रहण करते हैं। राम शब्द रम-धातु से बना है जिसका अर्थ होता है रमण करना। निराकार रूप में वे विश्व के अणु-अणु में रमण करते हैं पर भक्तों की इच्छा से वे लीलावपु धारण करके उनके हृदय में रमने लगते हैं। इस तरह राम का रूप निराकार, सुराकार और नराकार रूपों में हमारे सामने आता है। रामायण की मिथक परिकल्पना के रूप में देवासुर संग्राम का 'मोटिफ' है। तुलसी के राम भी परस्पर विरोधी भूमिकाओं में उपस्थित हैं। यह विरोध तो तव खत्म होता है जब ज्ञान नेत्र से इसे देखा जाय। इसको समझने के सूत्रों का संकेत आध्यात्मिक अभियान में कर दिया गया है।

लगे हाथ कुछ अन्य तथ्यों पर विचार कर लेना आवश्यक है। राम-मिथक के केन्द्र में राम-सीता हैं पर उसकी परिधि में अनेक पात्र और अनेक घटनाएँ आई हैं। कथानक बहुत बड़ा नहीं है, पर कथावस्तु जीवन की विविधता और व्यापकता का संकेत करती है। चयन और संगठन प्रातिभ आधारों पर हुआ है। पूरा मानस अलौकिक घटनाओं से भरा है। सद्चरित्रों को देवोपम और असद्चरित्रों को असुरोपम रुप में सामने लाया गया है। ये सांस्कृतिक द्वन्द्व के परिचायक भी सिद्ध होते हैं। घटनाओं के अनुसार चरित्रों की रुपरेखा वर्णित है। इससे अविश्वसनीयता में विश्वसनीयता की स्थिति पैदा होती है। पूरा मानस मानव से महामानव वनने की क्रिया का संकेत करता है। कथाक्रम में ऐतिहासिक काल का बड़ा सफल निरुपण किया गया है। कुछ स्थल द्रष्टव्य हैं :

एहि विधि वीते बरस षट् सहस्र बारि आधार।
संवत् सप्त सहस्र पुनि रहे समीर अधार।

अथवा

मास दिवस कर दिवस भा मरम न जानै कोइ।

मिथकीय काल चक्रिल होता है। इसका ऊपर के पदों में पूरा संकेत है। मिथक में काल के साथ ही देश का चित्रण भी मिलता है। रामायण में कैलाश से लेकर लंका तक के स्थानों का संकेत है। उनमें से अधिकांश आज भी अस्तित्व में है। अवतरण की भूमिका नैसर्गिक तथ्यों के परिग्रहण करने के कारण कालातीतता की व्यंजना तो करती है, पर लीला के कारण वह देश की सीमा में बँध जाती है। तुलसी ने नियति चक्र का बड़ा मनोहर चित्रण किया है। जन्म ग्रहण करने और सद्-असद् कर्म करने में इसकी झांकी मिलती है। तुलसी ने कर्मवाद पर विशेष वल दिया है। नियति के व्यापक परिदृश्य के उदाहरण भी मानस में बहुत अधिक हैं। रघुवंशमणि के विश्वरूप की झांकी आकर्षक है। राक्षसों के चित्रण में भी मिथकीय परिकल्पना अपने पूरे औदात्य के साथ उपस्थित है।

तुलसी के पात्र और कथानक की खोज पर्याप्त हो चुकी है। मूल कथा और अवान्तर कथाओं के स्रोतों को खोज निकाला गया है। पात्रों को भी वैज्ञानिक ढंग से परखने की कोशिश की गई है। पर राम-मिथक के उपस्कारक तथ्यों पर कम से कम प्रकाश डाला गया है। मेरी धारणा है कि अगर उसको सही रूप में समझा जाय तो उससे मानस को समझने के सूत्र मिल सकते हैं। तुलसी ने आदिम मनोभाव को कथा का सूत्र बनाया है। वह देवोपासना और धर्म से जुड़ा हुआ है। ऐतिहासिक देशकालचित्रण उसमें मिलता है। देश, भूगोल के रूप में और काल अनन्त प्रवाह के चक्रिल आवर्त के रूप में चित्रित है। देवासुर संग्राम की कथानक-रुढ़ि को ग्रहण किया गया है। चित्र-फलक व्यापक है। और उसमें लोकलोकोत्तर की झांकी मिलती है। नियति-चक्र को भी ग्रहण किया गया है। यथास्थान ललित कल्पना का विलास देखने को मिल जाता है, पर सब कुछ के बावजूद वह चेतना के आध्यात्मिक अभियान का भी सूचक है। ऐतिहासिक सांस्कृतिक-द्वन्द्वों की मनोहर झांकी उनकी रचना में सर्वत्र मिलती है। इस तरह मानस में मिथक की सभी विशेषतायें उत्कृष्ट रूप में समाहित हैं। अतएव उसे इसका सर्वोत्तम उदाहरण माना जा सकता है।

'मानस' और 'अध्यात्म'

डॉ० जनार्दन स्वरूप अग्रवाल
प्रवक्ता प्राच्यविद्या एवं धर्म विज्ञान संकाय

(१)

यह एक सर्वसम्मत तथ्य है कि कोई भी श्रेष्ठ कवि या लेखक एकान्त मौलिकता का दम्भ नहीं कर सकता। प्रकट या अप्रकट किसी भी रूप में हो, उसे अपने पूर्व संचित साहित्य की ज्ञान राशि से अपना भाण्डार अवश्य भरना होता है। यदि अधिक न भी लेगा, तो भी उससे वह प्रभावित होता ही रहेगा, क्योंकि उसे प्रेरणा ही अपने पूर्ववर्ती साहित्य सम्पत्ति से मिलती है; किन्तु कवि की कला तभी प्रशंसनीय ठहरती है जब वह किसी अन्य साहित्य से अथवा अपनी ही पुरातन निधि से प्राप्त भावों एवं संकेतों में कुछ विशेषता किम्वा सौंदर्य उत्पन्न कर दे। साधारण कवि उन भावों का अविकल निर्वाह करने तक में असमर्थ रहते हैं। इसके विपरीत जो कवि उनमें जितनी श्री वृद्धि कर सकेगा अथवा जितनी उत्कृष्टता प्रदान कर सकेगा, वह उतना ही श्रेष्ठ कलाकार माना जाएगा; यही नहीं, मेरे दृष्टिकोण से वह उतना ही मौलिक कहा जाएगा।

गोस्वामी तुलसीदास के काव्य के विषय में संस्कृत पण्डितों को वहुधा यह कहते-सुनते देखा जाता है कि 'मानस में तो गोस्वामी जी ने वाल्मीकि रामायण, अध्यात्म रामायण, श्रीमद्भागवत, रघुवंश, प्रसन्नराघव, हनुमन्नाटक, आदि कई संस्कृत ग्रन्थों के प्रकरण के प्रकरण हिन्दी में अनुवादित कर के रख दिए हैं।' यही नहीं तुलसी पर आलोचनात्मक ग्रन्थ लिखने वालों ने भी ऐसे अंशों में भाव साम्य दिखलाकर कलेवर वृद्धि की है। मानस प्रेमियों में यह भ्रान्त धारणा अधिक न फैल जाए, इसीलिए प्रस्तुत प्रयास का साहस किया गया है। यहाँ वाल्मीकि रामायण, श्रीमद्भागवत आदि की चर्चा नहीं की गई है; आध्यात्म रामायण के प्रति तुलसी कितने ऋणी हैं, यही इस लेख का विषय है। विस्तृत परिचय एवं अन्तर तो रामचरितमानस और अध्यात्म रामायण के स्वतंत्र अध्ययन से ही प्रतीत होगा, क्योंकि इस छोटे से प्रबन्ध में तो प्रमुख प्रसंग ही उठाए जा सके हैं। तुलना भी केवल उन्हीं स्थलों की हो सकती है जो दोनों ग्रन्थों में हों। अध्यात्मकार ने पुष्प वाटिका एवं धनुष यज्ञ के प्रसंग छुए तक नहीं हैं, जो बालकाण्ड के उत्कृष्ट रत्न हैं, अतः प्रस्तुत परिधि के अन्तर्गत वे नहीं आते।

(२)

गोस्वामी जी एक सन्त थे, इसमें दो मत नहीं हैं। संत का लक्षण सन्त की ही भाषा में है—'संत हंस गुन गहहिं पय, परिहरि वारिविकार' अथवा 'मधुकर सरिस संत गुन ग्राही' अतः जहाँ से भी उन्हें कुछ 'रस' मिला उसे वहाँ से लाकर उन्होंने अपने 'मानस' में भर दिया। लोकहित चिन्ता की दृष्टि से यह आवश्यक भी था। यही तत्व उनकी भूमिका के 'रामायण सत कोटि अपारा' या 'नाना पुराण निगमागम सम्मतं यद्' आदि शब्दों से भी

प्रतिभासित होता है। उन्होंने 'स्वान्तः सुखाय' रामकाव्य की रचना की, यह सत्य अवश्य है, परन्तु साथ ही तत्कालीन अधिकांश जनता संस्कृत भाषा से अपरिचित होने के कारण वाल्मीकि, अध्यात्म, हनुमन्नाटक आदि का आनंद नहीं ले सकती थी अतः 'तुलसी रघुनाथ गाथा भाषानिबन्धमतिमञ्जुलमातनोति' इस बात पर भी ध्यान देना चाहिए। इसी के निमित्त वे यह भी घोषणा करते हैं कि वे 'कथाप्रवन्ध विचित्र बनाई' कहेंगे। यह 'विचित्र' ही तुलसी के कांव्य की कुञ्जी है।

अब दोनों ग्रन्थों के कुछ प्रमुख प्रसंगों की तुलना देखिए :—

वालकाण्ड में जिस समय दशरथ जी विश्वामित्र के साथ राम लक्ष्मण को भेजने के विषय में वसिष्ठ जी से परामर्श करते हैं, उस समय वे कहते हैं :—

भूमेर्भारावताराय ब्रह्मणा प्रार्थितः पुरा।
स एव जातो भवने कौसल्यायां तवानघ॥
त्वं तु प्रजापतिः पूर्वं कश्यपो ब्रह्मणः सुतः।
कौसल्या चादितिर्देवी देवमाता यशस्विनी॥
योगमायापि सीतेति जाता जनकनन्दिनी।
विश्वामित्रोऽपि रामाय तां योजयितुमागतः॥
अतः प्रेषयस्व रमानाथं राघवं सहलक्ष्मणम्।

यह वर्णन आध्यात्मिक दृष्टि से चाहे न खटकता हो, परन्तु शुद्ध साहित्यिक समीक्षा की कसौटी पर तो यह खरा नहीं उतरता, न तो पाठक की रुचि उत्पन्न होती है और न कौतूहल की रक्षा ही। इसके विपरीत मानसकार इने गिने शब्दों में 'तव वसिष्ठ बहुबिधि समुझावा' कहकर सारा प्रसंग समाप्त कर देता है। हाँ यह 'वहुविधि' शब्द अध्यात्म के वर्णन को पढ़कर ही कदाचित् तुलसी के मानस में आया होगा, परन्तु कला की रक्षा के लिए किस दूरदर्शिता से काम लिया गया कि उत्कण्ठा शिथिल नहीं हुई। ध्यान में आता है 'भाई! कुल गुरु हैं, कुछ कहा होगा, दशरथ ने मान लिया'। बस, हम आश्वस्त हो जाते हैं।

मानस के 'धनुष यज्ञ' के स्थान पर अध्यात्मकार ने एक बड़ा ही अस्वाभाविक सा चित्र खींचा है। विश्वामित्र ने जनक से कहकर धनुष दिखलवाया। जनक ने यह प्रतिज्ञा की कि यदि राम इसकी प्रत्यञ्चा चढ़ा दें तो मैं सीता का विवाह इनसे कर दूं। राम के धनुष तोड़ने पर जनक कहते हैं : "जब से नारद ने यह कहा कि तुम सीता को दशरथसुत राम को ही देना, क्योंकि यह पहले से ही राम की भार्या हैं, तब से मैं इसी चिन्ता में था और इसके लिए मैंने आपके द्वारा धनुष तुड़वाने की यह युक्ति निकाली"।

इसी प्रकार अध्यात्म रामायण में परशुराम की राम से भेंट अयोध्या लौटते समय मार्ग में होती है। तुलसीदास ने उस 'रंगभूमि' में ही यह प्रसंग रखा, जिससे वाल-चापल्य एवं हास्य रस की अनुपम सृष्टि हो सकी। अध्यात्म में राजादशरथ परशुराम को दण्डवत् प्रणाम करते हैं, उनकी ओर ध्यान भी न देते हुए परशुराम रामचन्द्र को द्वन्द्वयुद्ध के लिए ललकार बैठते हैं और कहते हैं कि यदि तू इस धनुष को चढ़ादेगा तो तेरे साथ युद्ध नहीं करूँगा।

राम के प्रत्यञ्चा चढ़ाते ही परशुराम उन्हें साक्षात् ईश्वर समझकर अपनी तपस्या आदि का वृत्तान्त सुनाने लगते हैं और एक लम्वा सा ज्ञान-भक्ति का प्रवन्ध रच जाते हैं।

इसके विपरीत गोस्वामी जी के शब्द कितनी स्वाभाविकता तथा मनोवैज्ञानिकता पर आधारित हैं। लक्ष्मण के शब्दों से एक ओर परशुराम की क्रोधाग्नि भड़कती है दूसरी ओर राम 'जलसम वचन' कहकर उसे प्रशमित भी करते जाते हैं, किन्तु जब शान्त होते दिखाई ही नहीं देते, तो गोस्वामी जी कितनी सुन्दर स्वभावोक्ति राम के मुख में रखते हैं—

राम कहा मुनि कहहु विचारी। रिस अति बड़ि लघु चूक हमारी।।
छुवतहिं टूट पिनाक पुराना। मैं केहि हेतु करौं अभिमाना।।
जो रन हमहिं पचारै कोऊ। लरहिं सुखेन काल किन होऊ।।
कहउँ सुभाउ न कुलहिं प्रसंसी। कालहु डरहिं न रन रघुवंसी।।

बस पलड़ा उलट जाता है। 'मृदु गूढ़ वचन' सुनकर परशुराम उन्हें धनुष देते हैं और ज्ञान भक्ति का लम्वा उपदेश न देकर 'छमहु छमा मन्दिर दोउ भ्राता' मात्र छोटी सी प्रशंसा कर 'तपहेतु' वन को चले जाते हैं।

(३)

अयोध्याकाण्ड में जब राम कौशल्या से विदा लेने पहुँचते हैं, तो 'तात जाऊँ बलि वेगि नहाहू। जो मन भाव मधुर कछु खाहू' अथवा 'भुंक्ष्व पुत्रेति च प्राह मिष्टमन्नं क्षुधार्दितः' तक तो बात समान है, परन्तु तदुपरान्त अध्यात्म रामायण में :—

रामः प्राह न मे मातर्भोजनावसरः कृतः।
दण्डकागमने शीघ्रं मम कालोऽद्य निश्चितः।।
कैकेय्यै वरदानेन सत्यसंधः पिता मम।
भरताय ददौ राज्यं ममाप्यरण्यमुत्तमम्।।

कितना रूखा उत्तर है। उधर गोस्वामी जी एक रूपक के द्वारा राम की मनः स्थिति का विश्लेषण करते हुए माता को आश्वासन भी दिलाते हैं:—

मातुवचन सुनि अति अनुकूला। जनुसनेह सुरतरु के फूला।।
सुख मकरंद भरे श्रीमूला। निरखि राममन भँवर न भूला।।

यथा जनि सनेहवसडरपसि भोरे। आनंद अम्ब अनुग्रह तोरे।।
वरस चारि दस विपिन बसि करि पितु वचन प्रवान।
आय पाँय पुनि देखिहौं मन जनि करसि मलान।।

इसके अनन्तर अध्यात्मकार यदि लिखता है :

"यदि राम! वनं सत्यं यासि चेन्नय मामपि"।

अथवा "पिता गुरुर्यथाराम तवाहमधिकं ततः।
पित्राज्ञप्तो वनं गन्तुं वारयेय महं सुतम्"।।

(हे राम मुझे भी वन को ले चलो……मैं तुम्हें वन जाने से रोकती हूँ)

तो लोक धर्म तथा मर्यादा की रक्षा करने वाले तुलसी दास ने कौशल्या की उस 'धरम सनेह उभय मति घेरी । भइ गति साँप छुछुंदरि केरी' की स्थिति में भी 'राम भरत दोउ सुत सम जानी' कहा :—

जौं पितु मातु कहेउ बन जाना । तौ कानन सत अवध समाना ॥

एक बार वे भी यह कह गईं थीं ।

जौं केवल पितु आयसु ताता । तौ जनि जाहु जानि बड़ि माता ॥

इसी प्रकार संग जाने की बात का भी कैसा सुन्दर एवं कला पूर्ण समाधान है : —

जौं सुत कहहुं संग मोहिं लेहू । तुम्हरे हृदय होइ सन्देहू ॥

आगे चलकर एक ओर तो लक्ष्मण के ये वाक्य हैं :—

अद्य पश्यतु मे शौर्यं लोकान्प्रदहतः पुरा ।
राम ! त्वमभिषेकाय कुरु यत्नमरिन्दम ॥
धनुष्पाणिरहं तत्र निहन्यां विघ्न कारिणः ।

और दूसरी ओर है—

मों कहँ काह कहव रघुनाथा, रखिहहिं भवन कि लैहें साथा ।

एक ओर राम लक्ष्मण से कहते हैं—'याहि मा चिरम्'—शीघ्र चलो, देर न करो । दूसरी ओर राम के वचनों में

"तात प्रेमवस जनि कदराहू, समुझि हृदय परिनाम उछाहू"

का वैयक्तिक दृष्टि कोण है और

'जासु राजप्रिय प्रजा दुखारी । सो नृप अवसि नरक अधिकारी'—

में लोक धर्म भी बताया गया है ।

अध्यात्म रामायण की सीता क्रुद्ध होकर राम से पहले ही वन जाने को तैयार हैं

"प्रत्युवाच स्फुरद् वक्त्रा किंचित् कोप समन्विता ।
अहमग्रे गमिष्यामि वनं पश्चात्त्वमेष्यसि" ॥

किन्तु मानस की सीता की मनो व्यथा का सूक्ष्म एवं मार्मिक विश्लेषण तुलसी के हाथों से ही सम्भव था ।

क्रुद्ध हो जाना, प्राण छोड़ देने को उद्यत होना 'अध्यात्म' में बड़ी साधारण सी बात है । निषाद ही कह बैठता है :—

....गमिष्यामि त्वया सह ।
अनुज्ञांदेहि राजेन्द्र ! नो चेत् प्राणांस्त्यजाम्यहम् ॥

एक प्रकार की धमकी है । आधुनिक युग का सत्याग्रह कहना भी अनुचित न होगा ।

'रामायण', में राम पहले कौशल्या से मिलते हैं, किन्तु यहाँ 'प्रथम रामभेंटी कैकेयी' लिखकर गोस्वामी जी ने जिस स्वाभाविकता, उदाराशयता, लोकहितचिन्ता तथा मनो वैज्ञानिकता का परिचय दिया, उसका निर्णय स्वयं पाठक कर सकते हैं ।

चित्रकूट की सभा मानस की एक महत्वपूर्ण योजना है । मर्यादा, प्रेम, संकोच,

सामाजिक नियमादि तो मानों मूर्तिमान होकर बैठे हैं। भरत के हृदय की उथलपुथल एवं मस्तिष्क का चढ़ाव-उतार—

अवसि फिरिहिं गुरु आयसु मानी। मुनि पुनि कहवं राम रुख जानी।
मातु कहे बहुरहिं रघुराऊ। राम जननि हठ करवि कि काऊ॥
मोहिं अनुचर कर केतिक बाता। तेहि महँ कुसमउ बामबिधाता॥

तो पूरे प्रसंग का प्राण है। राम कहते हैं 'भरत कहहिं सोइ किए भलाई' किन्तु भरत जी राम के स्वभाव से परिचित होने के कारण (हारेहु खेल जितावहिं मोहीं)

"गुरु गोसाइँ साहिब सियरामू। लागत मोहि नीक परिनामू"—

जैसा विश्वास प्रकट करते हैं; किन्तु 'अध्यात्म' में भरत जी का कथन कि तुम अभिषेक करा लो—"राम राम महाभाग स्वात्मानमभिषेचय" अथवा शुष्क राजनीति का उपदेश काव्य सौंदर्य से रहित हैं:—

क्षत्रियाणामयं धर्मो यत्प्रजापरिपालनम्।
इष्ट्वा यज्ञैर्बहुविधैः पुत्रानुत्पाद्य तन्तवे
राज्ये पुत्रं समारोप्य गमिष्यसि तपोवनम्॥

छोट भाई के मुख मे बड़े भाई के लिए उक्त शब्द उपयुक्त नहीं लगते। यही नहीं, उन्होंने अपने पिता को मर्ख, कामुक, पागल, आदि कह डाला—

भरतस्त्वब्रवीद् रामं कामुको मूढधीः पिता।
स्त्रीजितो भ्रान्तहृदय उन्मत्तो यदि वक्ष्यति
तत्सत्यमिति न ग्राह्यं भ्रान्त वाक्यं यथा सुधीः॥

अब अध्यात्म रामायण से मानसकार ने क्या लिया, यह स्पष्ट है।

भरत जी ने भी साथ में न ले चलने पर निपाद के समान प्राण त्याग की धमकी दी है:

अहमप्यागमिष्यामि सेवे त्वां लक्ष्मणो यथा।
नोचेत् प्रायोपवेशेन त्यजाम्येतत्कलेवरम्॥

कहा ही नहीं, सत्याग्रह ठान भी दिया 'प्राङ्मुखोपविवेश सः'।

राम यह देखकर वसिष्ठ को संकेत करते हैं। वसिष्ठ भरत से राम का रावण वध के लिए अवतरित होना बताते हैं। भरत तुरन्त राम से पादुका माँगते हैं। ऐसे वर्णन भक्तों के कण्ठ हार बन सकते हैं, किन्तु उनमें कला का नितान्त अभाव है। जनक समाज के आगमन से मानस की चित्रकूट सभा में जो मणिकाञ्चन संयोग हो गया, अध्यात्मरामायण उससे भी वंचित रही।

(४)

अरण्यकाण्ड में गृध्रराज से भेंट दोनों कराते हैं, परन्तु रामायण में —

जटायुर्नाम भद्रं ते गृध्रोऽहं प्रियकृत्तव।
पंचवट्यामहं वत्स्ये तवैव प्रियकाम्यया।
मृगयायां कदाचित्तु प्रयाते लक्ष्मणेऽपि च।
सीता जनक कन्या मे रक्षितव्या प्रयत्नतः॥

जब तुम और लक्ष्मण शिकार में चले जाओगे, तो मैं सीता की रक्षा करूँगा, अतः मुझे न मारो (क्योंकि राम उसे राक्षस समझ कर मारने लगे थे)

किन्तु गोस्वामी जी केवल 'गीधराज सों भेंट भइ बहुविधि प्रीति दृढ़ाइ' द्वारा पंचवटी में उसका संकेत भर कर के रावण से जटायु का युद्ध दिखाते हैं, जिससे काव्योचित उत्कण्ठा और कुतूहल की रक्षा होती रहती है। 'चोंचन्ह मारि विदारेसि देही, से यह सोचने का अवसर मिलता है कि यदि जटायु जीत गया, तो क्या होगा।

दूसरा प्रसंग है सीता के अग्नि प्रवेश का। 'अध्यात्म' में मृग जब राम के सम्मुख आ जाता है, तब राम सीता को अग्नि में रखते हैं—

रावणो भिक्षुरूपेण आगमिष्यति तेऽन्तिकम्।
त्वं तु छायां त्वदाकारां स्थापयित्वोटजे विश॥
अग्नावदृश्य रूपेण वर्षंतिष्ठ ममाज्ञया।

रामायण का 'भावापहरण' कर के तुलसीदास जी खरदूषण वध के उपरान्त इस प्रसंग को रखते हैं, जिससे इस अस्वाभाविकता का ही बचाव नहीं होता कि जब विपत्ति सर पर आ गई, तब राम ने सीता को सुरक्षित किया, वरन् पाठक की कौतूहल वृत्ति भी अक्षुण्ण रहती है क्योंकि राम यह स्पष्ट न कह कर कि रावण भिखारी बन कर तुम्हारे पास आएगा, केवल यह संकेत करते हैं—

सुनहु प्रिया व्रत रुचिर सुसीला। मैं कछु करबि ललित नर लीला।
तुम्ह पावक महँ करहु निवासा। जब लगि करौं निसाचर नासा॥

मानस और अध्यात्म दोनों के कथानक में सीता लक्ष्मण संवाद से अधिक अन्तर अन्यत्र कहीं नहीं है। 'रामायण' की सीता को देवर से बड़ी आशङ्का है कि वे भरत के द्वारा भेजे गए हैं, राम की मृत्यु हो जाने पर मुझे ले जाएँगे। अतः वे प्राण त्यागने को तैयार हो जाती हैं :—

प्रेषितो भरतेनैव रामनाशाभि कांक्षिणा।
मां नेतुमागतोऽसित्वं रामनाश उपस्थिते॥
न प्राप्स्यसे त्वमामद्य पश्य प्राणांस्त्यजाम्यहम्।

इसपर लक्ष्मण उत्तर देते हैं कि हे चण्डी, ऐसा कहने से तेरा नाश हो जाएगा :—

"मामेवं भाषसे चण्डि ! त्वं वै नाश मुपेष्यसि"

इसके नितान्त विपरीत लोक धर्म रक्षक उस सन्त ने सीता और लक्ष्मण में आद्योपान्त माता और पुत्र का पवित्र सम्बन्ध दिखलाया है। वे ऐसी अमर्यादित शब्दावली न सीता के ही मुख में रख सकते थे, न लक्ष्मण के ही। सीता के 'मरम वचन' सुनकर लक्ष्मण भाई की सहायता के लिए जाने को तैयार हो गए। संक्षिप्त दो शब्दों में ही सारा मर्म एवं रहस्य भर दिया गया—वे 'मरम वचन' क्या थे, हो सकता है 'रामायण' में आए हुए भाव ही तुलसी के मन में उद्वेलन कर रहे हों, किन्तु उन्हें ध्वनित भर कर दिया, स्पष्ट कुछ नहीं कहा।

(५)

अशोक वाटिका में रावण के आने का प्रसंग वहाँ इस प्रकार है :—

रावणो राघवेणाशु मरणं मे कथं भवेत्।
सीतार्थमपि नायाति रामः किं कारणं भवेत्।

× × ×

स्वप्ने रामेण संदिष्टः कश्चिदागत्य वानरः
कामरूपधरः सूक्ष्मो वृक्षाग्रस्थोऽनुपश्यति ॥ अतः
जानकीं वाक्शरैर्विद्ध्वा दुःखितां नितरामहम्
करोमि, दृष्ट्वा रामाय निवेदयतु वानरः ॥

रावण जी मोक्ष की आशा में मरने को उद्यत से बैठे हैं। सीता के कष्टों को जब वानर राम से कहेगा तो वे आकर मुझे मोक्ष दे देंगे, इस विचार से सीता को कष्ट देने का बहाना सा कर रहा है। रावण नीचे सीता को बैठे धमका रहा है और यह भी जानता है कि ऊपर पेड़ पर शत्रुदूत भी बैठा है। ऐसा कोरा वर्णन कवि के किस काम का।

'रामायण' में वृक्ष पर स्थित हनूमान राम के जन्म से उस समय तक की कथा सुनाते हैं, किन्तु 'मानस' में सीता के वृक्ष से अग्नि माँगने पर हनूमान का मुद्रिका डालना जिस नाटकीय प्रभाव की सृष्टि करता है, वह विलक्षण ही है और प्रबन्ध लेखन पटु महाकवि की प्रतिभा का ज्वलन्त प्रमाण है। किन्तु उधर हनूमान जी सारी राम कथा बाँचते जा रहे हैं सीता जी यह भी नहीं पूछती कि तुम कौन हो, कहाँ से आए हो, आदि। यह सब अस्वाभाविक ही लगता है।

(६)

लंकाकाण्ड में युद्ध चर्चा ही है, अतः वहाँ साम्योपयोगी अंश नही मिलते हैं। अन्त में अग्नि परीक्षा के समय अग्निदेव कहते हैं :

हे रघुनाथ ! आप ने पहले वन में जो सीता मुझे सौंपी थी, उसे लीजिए वह प्रतिबिंब रूप सीता जिस कार्य के लिए रची गई थी, उसे पूरा कर के अब अदृश्य हो गई।" लक्ष्मण तक को जो बात नहीं विदित थी, उसका समस्त वानर समाज के सामने इस प्रकार भंडाफोड़ करना, चाहे भक्तों को गद्‌गद् कर दे, किन्तु साहित्यिक कला की दृष्टि से अनैसर्गिक है।

वानर भालुओं को 'मनिगन बसन' दोनों कवि दिलवाते हैं, किन्तु 'अध्यात्म' में राम का चित्र कुछ स्वार्थपरायण सा लगता है, जब विमान पर बैठ कर सबसे कहते हैं कि तुम लोगों ने खूब मदद की, अब घर जाओ :

मित्रकार्यं कृतं सर्वं भवद्भिः सह वानरैः।
सुग्रीव ! प्रतियाह्याशु किष्किधांसर्वसैनिकैः।
स्वराज्ये वस लङ्कायां मम भक्त विभीषण।

अरे, बिचारे सुग्रीव को विमान पर थोड़ी सैर ही कर लेने देते, नकि शीघ्र (आशु) किष्किधा जाने की आज्ञा दे दी।

मानस में पहले तो विभीषण ने विमान पर चढ़कर 'मनि अम्बर' वरसा दिए, जिसमें वानर प्रकृति का बड़ा रोचक चित्रण मिलता है :

"जोइ जोइ मन भावइ सोइ लेहीं।
मनि मुख मेलि डारि कपि देहीं।"

रामजी यहाँ भी वानरों से घर जाने को कहते हैं :—

"निज निज गृह अब तुम्ह सब जाहू", किन्तु किसी विशेष व्यक्ति का नाम नहीं लिया। साधारण सेना जब चली गई और विशिष्ट व्यक्ति ही रह गये जो—

"कहि न सकहिं कछु प्रेमवस भरि भरि लोचन वारि।
सनमुख चितवहिं रामतन नयन निमेख निवारि॥"

तो राम ने भी उनकी 'अतिसय प्रीति' देखकर "लीन्हे सकल विमान चढ़ाई।"

(७)

अयोध्या पहुँच कर वानरों और निषादराज की विदाई का अवसर आता है। 'रामायण' में गुह तथा हनुमान की साधारण विदाई चित्रित है, किन्तु मानस में अंगद की विदा का वर्णन पढ़ते सुनते किस सहृदय की आँखें डबडबाती नहीं हैं :

मरती बेंर नाथ मोहिं बाली। गयउ तुम्हारे कोंछे घाली॥

× × × ×

नीच टहल गृह कै सबकरिहौं। पद पंकज विलोकि भवतरिहौं॥
असकहि चरनपरेउ प्रभुपाही। अब जनि नाथ कहहु गृह जाही॥

कितना करुण तथा वेदना पूर्ण चित्र है। अंगद 'रामरुख' देखकर चल तो दिए ही किन्तु "बार बार कर दण्ड प्रनामा। मन अस रहन कहहिं मोहि रामा"— कितना मर्मस्पर्शी और स्वाभाविक है। गुह की विदा के समय के शब्दों में बड़ी आत्मीयता भरी है :—

तुम मम सखा भरत सम भ्राता।
सदा रहेहु पुर आवत जाता॥

इसके आगे दोनों ग्रन्थों में कोई तुलना स्थल नहीं हैं। वास्तविकता से परिचय कराने के लिए ऊपर के कतिपय अंश ही पर्याप्त हैं।

अध्यात्मरामायण एक इतिवृत्तात्मक ग्रन्थ है जहाँ कथा की ही प्रधानता है। उसमें रसपरिपाक, कला या साहित्यिकता का कोई आग्रह नहीं है। गोस्वामी जी ने 'मानस' की रचना उस कथा सूत्र को लेकर अवश्य की, परन्तु उसकी अमनोवैज्ञानिकता, अस्वाभाविकता आदि को हटाते हुए उसमें रस का संचार किया। उसी में उनकी प्रबन्धपटुता तथा 'विचित्रता' है, यही उनकी प्रतिभा और तज्जन्य मौलिकता है, इसीलिए वे विश्वकवियों की श्रेणी में हैं और 'मानस' उनकी एक अमर कृति है, जिसके विषय में मुक्तकण्ठ से कहा जा सकता है : —

"ज्यों ज्यों निहारिए नेरे ह्वै नैननि, त्यों त्यों खरी निखरै सी निकाई"

———

तुलसी का समाज-दर्शन

डा० महेन्द्रनाथ राय
प्रवक्ता, हिंदी विभाग
[का० हि० वि० वि०]

भक्तिकालीन कवियों में तुलसी युग-चेतना के प्रति सर्वाधिक सचेत रहे हैं। इसीलिए उन्हें लोकनायक की संज्ञा मिली है। लोक मंगल की चेतना ही उन्हें समन्वयवादी जीवन-दर्शन की प्रतिष्ठा के लिए प्रेरित करती है। तुलसी मूलतः भक्त हैं। लेकिन उनका भक्ति-दर्शन पूर्ववर्ती एवं समकालीन भक्तों, संतों तथा साधुओं से भिन्न है। वह उन्हें वैयक्तिक मोक्ष मार्ग की ओर ही उन्मुख नहीं करता बल्कि युग-जीवन के हर्ष-विषाद, विषमता-विद्रूपता, अन्याय अत्याचार से जुड़ने का सामर्थ्य भी प्रदान करता है। यही तुलसी की सबसे बड़ी उपलब्धि है। तुलसी की भक्ति भावना का महत्त्व जन-सामान्य की समस्याओं से सम्बद्ध होने में है। वे यदि केवल परंपरित भक्त होते तो कोई बात न बनती। लेकिन तुलसी केवल भक्त न थे। घर-द्वार, पत्नी-परिवार सब छोड़कर भी वे मानवता के संकट से आँखे न फेर सके। भक्ति ने हृदय को करुण और संवेदनशील बना दिया था। जीवन के दुख और दर्द ने पीड़ा के मर्म से परिचित करा दिया था।

तुलसी का जीवन-बोध व्यापक था। जीवन में बहुत से कष्ट मिले थे, बहुत से दुर्दिन देखे थे। इन्हीं कष्टों एवं कटु तिक्त अनुभूतियों ने उन्हें जन-मानस की व्यथा के प्रति संवेदनशील बना दिया था। उन्हें काव्य-परंपरा की विधिवत् दीक्षा मिली थी। लोक एवं शास्त्र का उन्हें व्यापक ज्ञान था। वे बहुत बड़े पंडित थे। वेद-पुराण सबका अध्ययन किया था। वे उस युग में पैदा हुए थे जब देश में आदर्शविहीनता थी। जनता अशिक्षित दरिद्र और रोगग्रस्त थी। जीवन के प्रति कोई आकर्षण न रह गया था। सन्यासी होना गर्व की बात थी। धर्म और दर्शन पर बिना शिर पैर के लोग भाषण करते थे। धर्म आचार का नहीं प्रदर्शन का विषय बन गया था। उसका मानवीय रूप पाखण्ड और प्रदर्शन से आच्छादित हो गया था। धार्मिक वाद-विवादों में सभी हिस्सा ले रहे थे। समाज के स्वस्थ एवं संतुलित संघटन में साधु-संत एवं समाज-सुधारक रुचि न लेते थे। धार्मिक विद्वेष बढ़ रहे थे। शैव-वैष्णव, सगुण-निर्गुण, ऊँच-नीच आदि का संघर्ष चल रहा था। सर्वत्र अव्यवस्था थी। शूद्र एवं नारी के संकट बढ़ रहे थे। अन्याय, अत्याचार, शोषण, उत्पीड़न, दंभ, अनैतिकता आदि से समाज अव्यवस्थित बना हुआ था। सदाचार, लोकादर्श, लोकमंगल आदि की दृष्टि न थी।

तुलसी ने देश की सामाजिक, सांस्कृतिक, राजनीतिक एवं धार्मिक अधोगति को खूब गहराई से देखा और उनका संवेदनशील हृदय इससे अत्यन्त क्षुब्ध हुआ। वे जानते थे कि निवृत्तिपरक ज्ञान एवं उपदेश के माध्यम से जन-जीवन में व्यवस्था, संतुलन एवं आकर्षण नहीं लाया जा सकता। जीवन में, समाज में एवं स्वयं मनुष्य-मात्र में आत्म-विश्वास और

आत्मबल पैदा करने के लिए भक्ति, ज्ञान और कर्म से समन्वित जीवन दर्शन की प्रतिष्ठा में ही जनहित संभव है। फलस्वरूप उन्होंने रामकथा का आश्रय लेते हुए ऐसे मानवीय मूल्यों की प्रतिष्ठा की जो किसी भी युग के लिए ग्राह्य हो सकते हैं। उनकी रामकथा बाल्मीकि एवं कालिदास की रामकथा से भिन्न है। युगीन संदर्भों से वह सम्बद्ध है। रामराज्य की कल्पना तुलसी तत्कालीन राज्य-व्यवस्था के प्रतिपक्ष में करते हैं। मध्यकालीन जीवन मूल्यों से वे अछूते नहीं रह सकते थे। फिर भी उनमें उन्होंने पर्याप्त परिष्कार किया है। तुलसी का रामराज्य आदर्श सामंतवादी व्यवस्था का प्रतिमान तो है ही साथ ही साथ उसमें पारिवारिक भावना का जो आदर्श है, लोक-वेद की मान्यताओं तथा जन सम्मत विचारों का जो प्रसार एवं समर्थन है, वह तुलसी की स्वस्थ समाज कल्पना का परिचायक है। जीवन प्रवाह में स्वीकृत मान्यताओं एवं सांस्कृतिक जीवन-यापन की परंपराओं दोनों के प्रति तुलसी में अगाध श्रद्धा है। स्वस्थ समाज के लिए लोक एवं वेद के सहअस्तित्व को स्वीकार करने के साथ ही परंपरा एवं प्रवाह में, संस्कृति एवं सभ्यता में तुलसी अपनी आस्था व्यक्त कर अपने व्यापक जीवन दर्शन का परिचय देते हैं। तुलसी ने अपने युग के बाहरी और भीतरी दोनों ही संघर्षों के कारणों को अन्वेषित किया। उस युग में सभी आस्थाएँ, सारे मूल्य लड़खड़ा रहे थे। संकट को कैसे झेला जाए तथा मिटते अस्तित्व की कैसे रक्षा की जाए—यह तुलसी के युग की बुनियादी समस्या थी। तुलसी की रचनाओं में युग-बोध के विभिन्न पहलू भाषा पा सके हैं। 'मानस' के सम्यक् अध्ययन से इस बात का ज्ञान हो जाता है कि अपने युग का अत्यन्त प्रत्यक्ष एवं प्रखर बोध तुलसी को था। अपने रामचरित मानस के माध्यम से तुलसी ने विघटन एवं बिखराव से असंतुलित एवं अव्यवस्थित भारतीय संस्कृति को एक सार्थक धरातल प्रदान किया।

तुलसी के राम आत्मप्रतिष्ठा के लिये युद्ध मोल लेने वाले बाल्मीकि के राम नहीं है और न तो यश के लिए विजय-दुंदुभी बजाने वाले कालिदास के राम ही हैं। वे तो एक ऐसी जाति का प्रतिनिधित्व करते हैं जिसमें वैभव, यश, साधन सम्पन्नता का अभाव है। जो विघटन की स्थिति में है। फिर भी जिसे अपने सत्याचरण, सत्य निष्ठा, शील, उदारता, करुणा आदि का भरोसा है। इस भरोसे पर ही वह कठिन से कठिन परिस्थितियों में अपने कर्तव्य पालन से च्युत नहीं होती, विकट से विकट संघर्षों को मोल लेती है। तुलसी के राम का युद्ध अन्याय के प्रतिरोधार्थ है। वह वैयक्तिक योग्यता एवं शक्ति सम्पन्नता की सार्थकता की सिद्धि का युद्ध न होकर मानवीय मूल्यों-नैतिकता, मर्यादा, लोकमंगल, कर्तव्य-निष्ठा आदि की प्रतिष्ठा का युद्ध है। राम वह सब भोगते हैं जो एक पराजित जाति को भोगना पड़ता है। पर वे टूटते नहीं क्योंकि उन्हें अपने संस्कारों, अपनी नियति और अपने उदात्त जीवन-दर्शन का बल है। निर्वासन, एकाकीपन पत्नी के अपहरण, अनिश्चित भविष्य की चिंता आदि आत्म संघर्षों से गुजरते हुए अपने सम्पूर्ण जीवन को कर्तव्य के प्रति समर्पित कर देते हैं। राम, भरत, सीता आदि लोक साधना की प्रतिमूर्ति हैं। नियति के प्रत्येक विधान को अपने विवेक के सहारे कर्तव्यपालन का अंग बना लेना राम का रामत्व है। राम के चरित्र में आद्यन्त व्यक्तित्व की एकाग्रता, अखंडता, शील और करुणा की दिव्यता वर्तमान है।

समन्वय तुलसी की लोक साधना की आधारभूमि है। यह तुलसी के जीवन दर्शन का मेरुदण्ड है। उनके युग बोध और आत्मान्वेषण का परिणाम है। तुलसी के पात्र या तो संतत्व की भूमिका का निर्वाह करते हैं या असंतत्व की भूमिका का। समन्वय के माध्यम से तुलसी अपने युग के विविध प्रकार के अंतर्विरोधों एवं असंगतियों का उन्मूलन कर समरसता लाने का प्रयत्न करते हैं। सांस्कृतिक, धार्मिक, सामाजिक, राजनीतिक सभी स्तरों पर उनकी समन्वय चेतना मूर्तिमान हुई है। लोक एवं वेद, प्रवृत्ति एवं निवृत्ति, राजा एवं प्रजा, व्यक्ति-इच्छा एवं सामाजिक दायित्व में समन्वय की प्रतिष्ठा के साथ ही विभिन्न धार्मिक तथा दार्शनिक चिंतन-धाराओं तथा विभिन्न देवी-देवताओं की उपासना में भी वे समन्वय लाने का प्रयत्न करते हैं।

रामचरित मानस में वर्णाश्रम धर्म व्यवस्था, वर्ण व्यवस्था, लोकादर्श आदि के प्रति गहरी श्रद्धा व्यक्त हुई है। तुलसी में परंपरा के प्रति गहरी आस्था रही है। कर्तव्याकर्तव्य, विधि-निषेध, करणीय तथा अकरणीय के संदर्भ में वे लोक तथा वेद की मान्यताओं को उद्धृत करते हैं। यही कारण है कि ब्राह्मण, शूद्र और नारी के स्वरुप एवं कर्तव्य के निर्धारण में वे अपने मध्यकालीन संस्कारों से मुक्त नहीं हो पाते। वे ब्राह्मण को 'भूसुर' 'भूदेव' महीसुर आदि संज्ञाओं से विभूषित करते हैं। उनके राम 'ब्रह्मकुलद्रोही' को फुटी आँखों से भी नहीं देखते। शूद्र को वेद पढ़ने का अधिकार नहीं देते तथा उसके जीवन की सार्थकता अभिजात वर्ग की सेवा में मानते हैं। उनके यहाँ नारी की स्थिति भी अत्यन्त दयनीय है। मध्य-कालीन सामंती व्यवस्था में उसे न तो वैचारिक स्वाधीनता ही प्राप्त है और न आर्थिक स्वतंत्रता ही। पति के संबंध से ही उसकी प्रतिष्ठा का निर्धारण होता है। वह सर्वत्र पराधीन है और इसकी इस पराधीनता का क्षोभ तुलसी को भी है। पर वे कर ही क्या सकते थे। अतः उन्होंने परंपरानुगमन करते हुए बताया कि कन्या रूप में पिता के शासन में, विवाहोपरान्त पति की देखरेख में और विधवा होने पर पुत्र के संरक्षण में रहना ही नारी का परमादर्श है। पति भले ही कितना ही विकृत क्यों न हो, पत्नी की मर्यादा उसे देवता रुप में पूजने में ही है। भक्ति की उच्च भूमि पर मनुष्य-मनुष्य में एकत्व एवं समानता की भावना भले ही स्थापित हो जाए, व्यावहारिक स्तर पर वर्ण-व्यवस्था एवं आश्रम व्यवस्था को ही तुलसी नें समाज संगठन की दृष्टि से उपयोगी समझा। ये उनकी सीमाएँ हैं जिन पर मध्यकालीन संस्कारों की छाप है।

रामराज्य तुलसी का राज्यादर्श है—लोकवादी चेतना का मूर्तिमान स्वरुप है। यह उनकी समाज संगठन संबंधी परिकल्पना का साकार रूप है। इसके आदर्श किसी भी राज्य व्यवस्था के लिए वरेण्य हैं। तुलसी का राज्यादर्श स्वार्थ-त्याग एवं परमार्थ भावना की सीख देने वाला है। राजा और प्रजा के बीज पारस्परिक सद्भाव को वे आवश्यक समझते हैं। प्रजा सम्मत राज्य का तुलसी समर्थन करते हैं। उनके राम प्रजा की आलोचना का सम्मान करने वाले हैं। तुलसी नृपनय के साथ साधुमत एवं लोकमत का समन्वय अपेक्षित समझते हैं। उन्होंने मानस में राजा-प्रजा एवं अन्यान्य राज्यव्यवस्था से संबंधित अधिकारियों के कर्तव्यों की चर्चा की है। उत्तरकांड में रामराज्य का वर्णन ग्यारह दोहों में हुआ है। रामराज्य की स्थापना की कुछ शर्तें उन्होंने रखीं हैं। अत्युच्च व्यक्ति साधना, कर्तव्यनिष्ठा

एवं अविकल दायित्व-निर्वाह की प्रवृत्तियों से युक्त नागरिक, विषमता, अशिक्षा, धर्मान्धता, विद्वेष, क्रूरता आदि से मुक्त समाज, सद्भावना मर्यादा, शालीनता, पारस्परिक ऐक्य, कर्तव्य भावना, परमार्थ भावना आदि से ओत प्रोत परिवार, एक दूसरे के प्रति यथोचित व्यवहार करने वाले राजा और प्रजा, गृहस्थ और संत रामराज्य की स्थापना के लिए आवश्यक हैं। व्यक्ति एवं समाज का उन्मेष किसी भी स्वस्थ समाज के लिये आवश्यक हैं। वैर एवं विषमतामुक्त रामराज्य संतत्व सम्पन्न व्यक्तित्व पर ही आवृत है। रामराज्य के नागरिकों में सभी उदात्त मानवीय मूल्यों का समावेश है। पशु-पक्षियों में भी वैर-भाव नहीं है। नागरिकों की मनःस्थिति के अनुकूल ही वाह्य प्रकृति भी आचरण करती है। सम्पूर्ण समाज एक पारिवारिक इकाई के रूप में कार्यरत है। इस प्रकार रामराज्य में जनता का मानस-परिष्कार हो गया है। वर्ण-व्यवस्था, कुलाचार, लोकाचार, आश्रमधर्म, वेद विहित कर्म, शास्त्र प्रतिपादित मान्यताओं आदि के साथ भक्ति का सामंजस्य करते हुए रामकथा का आश्रय लेकर अपने आदर्श चरित्रों की विशेषताओं लोक साधना, दया, नम्रता, शालीनता, सत्यनिष्ठा, कर्तव्यनिष्ठा आदि गुणों की प्रतिष्ठा तुलसी जन-हित को ध्यान में रखकर करते हैं। वे राम के पारिवारिक संबंधों की आत्मीयता एवं सद्भावना को बड़े ही सजीव ढंग से चित्रित करते हैं। राम, भरत, लक्ष्मण, कौशल्या, दशरथ, सीता आदि ऐसे चरित्र हैं जो किसी भी समाज की स्वस्थ संरचना के लिए अनुकरणीय हैं। इस प्रकार वर्णव्यवस्था, आश्रम व्यवस्था से समर्थित तथा लोक एवं शास्त्र से अनुमोदित समाज की वे परिकल्पना करते हैं। रामराज्य को वे राज्यादर्श मानते हैं।

तुलसी मनुष्यमात्र की हित-कामना से ओतप्रोत थे। परहित उनके जीवन का साध्य था। पर पीड़न उनके अनुसार सबसे बड़ा अधम था। मनुष्यमात्र के कल्याणार्थ वे राम के समक्ष विनत थे। उन्होंने भक्ति पथ को आकस्मिक रूप में नहीं वल्कि वहुत ही सुचिंतित ढंग से लोक साधना के लिए चुना था। दरवारी कवियों की भांति आश्रयदाताओं की प्रशस्ति उनमें काम्य न थी। अपनी भक्ति समन्वित साहित्य साधना से मानवता को वे एक ऐसा जीवन-दर्शन प्रदान करना चाहते थे जिसके निर्देशन में वह अपना सर्वतो-मुखी विकास कर सके। उनकी स्वान्त-सुखाय साहित्य साधना यदि एक ओर वैचारिक स्वतंत्रता की सूचक है तो दूसरी ओर वह इतनी व्यापकता भी लिए हुए हैं कि अशेष मानवता के हर्ष विषाद उसमें समाहित हो सकें। तुलसी के भक्त ने लेखकीय दायित्व को स्वीकार कर अपनी सामाजिक उपयोगिता सिद्ध की। उनकी साहित्य-साधना जन-जीवन के लिए ही, जन-जीवन में शामिल होकर सम्पन्न हुई थी। तुलसी ने अपनी रचना-प्रक्रिया को एक व्यापक उद्देश्य से सम्वन्द्ध माना है। 'सवकहँ हित' और 'वुधजन द्वारा सम्मानित' "सोइ आदरहिं सुजान" उनके साहित्य का लक्ष्य है। उनके रामचरित मानस का महत्व जनता में जीवन के प्रति आकर्षण की वृद्धि करने में तथा उदात्त मानवीय मूल्यों से निर्देशित होने में है। वे जीवना-दर्शों को उपदेशात्मक ढंग से वर्णित ही नहीं करते वल्कि रामकथा के चरित्रों द्वारा जैव-धरातल पर उसकी व्यावहारिकता भी सिद्ध करते हैं। अशेष मानवता के हर्ष-विषाद के प्रति तुलसी में अगाध करुणा रही है। भक्ति की उच्च भूमि पर संसार को माया मिथ्या तथा पारिवारिक संबंधों की रागात्मकता को व्यर्थ भले ही मान लिया जाय, लेकिन जैव

धरातल से इनकी महत्ता को अस्वीकार नहीं किया जा सकता। राम तुलसी के लिए प्रभु या परात्पर हो सकते हैं लेकिन सामान्य जनता के लिये वे एक आदर्श राजा, पुत्र, पति और शिष्य के रूप में अनुकरणीय हैं। राम और उनसे सम्बद्ध मानस के चरित्र जहाँ तक अत्युच्च व्यक्ति साधना और समाज साधना से संयुक्त हैं, अपने कर्तव्य द्वारा मानवीय आदर्शों की प्रतिष्ठा करते हैं, वहीं तक उनकी सामाजिक उपयोगिता है। तुलसी उदात्त मानवीय आदर्शों को रामकथा से सम्बद्ध चरित्रों द्वारा व्यावहारिक धरातल प्रदान करते हैं। उन्होंने जीवन में जिन कष्टों को झेला है, जिस विषमता की अनुभूति की है, वह केवल उनकी ही नहीं सामान्य जनता की भी है। सामाजिक और धार्मिक विसंगतियों के गुंजल्क में जकड़ी समूची मानवता की मुक्ति का उन्होंने समाधान ढूढ़ा है। जीवनानुभूतियों के प्रामाणिक एवं विश्वसनीय चित्रण में तुलसी को पूरी सफलता मिली है। तुलसी साधारण मनुष्य की तरह जीवन के विविध कष्टों को झेलते हैं और अपनी मनोवृत्तियों का भक्ति-चेतना से परिष्कार करते हैं। भक्त से पहले तुलसी मनुष्य हैं—जीवन के संघर्षों को झेलते हुए मानवीय दरिद्रता तथा अपमान की ज्वाला में जलते हुए मनुष्य। यह दूसरी बात है कि भक्ति ने उनकी मनोवृत्तियों का परिष्कार कर उन्हें असामान्य व्यक्तित्व प्रदान कर दिया है। फिर भी वे समाज से कटते नहीं, अपनी रचना प्रक्रिया में युगबोध से गहरे ढंग से जुड़ जाते हैं। एक भक्त अपने युग जीवन की समस्याओं से कितना प्रतिबद्ध हो सकता है, समाज-संरचना के कितने मधुरतम स्वप्न देख सकता है और इन स्वप्नों को आकार देने के लिए किसी परम्परित कथा को कैसे युगीन संदर्भ दे सकता है, इसके प्रमाण तुलसी हैं।

प्राचीन नीति कथन और तुलसी

डा० वैजनाथ मिश्र
(प्राचीन छात्र)

कवियों को किसी न किसी रूप में अपने पूर्ववर्ती कवियों का आभार स्वीकार करना पड़ता है, क्योंकि वे उन्हीं के द्वारा निर्मित मार्ग का अनुगमन करते हैं। कालिदास ने कहा है—

'अथवा कृत वाग् द्वारे बंशेऽस्मिन् पूर्व सूरिभिः।
मणौ वज्र समुत्कीर्णे सूत्रस्येवास्ति मे गतिः'॥
(रघुवंश १।३)

गोस्वामीजी की मान्यता भी इससे भिन्न नहीं है—

'मुनिन्ह प्रथम हरि कीरति गाई। तेहि मग चलत सुगम मोंहि भाई॥
अति अपार जे सरित बर ज्यो नृप सेतु करांहि।
चढ़ि पिपिलिकउ परम लघु बिनु स्रम पारहिं जाहिं'॥
(राम चरित मा० १।१२।१०—दो०—१३)

इस प्रकार इन्होंने नाना पुराण निगम, आगम, रामायण तथा अन्यत्र (काव्य एवं नीति शास्त्र आदि में) कथित उक्तियों का आश्रय लेते हुए अपने मानस का निर्माण किया है, जिसमें ऋषियों महर्षियों आचार्यो एवं महाकवियों द्वारा वर्णित राम-कथा का भाव तो ग्रहण किया ही है, नीति कथनों के भावों की भी कमीं नहीं है। इन्होंने अपने ढंग से कहीं उनका भावानुवाद, कहीं छायानुवाद तथा कहीं उनका परिष्कृत रूप देते हुए काव्य में चार चाँद लगा दिया है, जिससे इनकी कीर्ति-कौमुदी विकसित होकर अपने सद्‌गन्ध से आज भी सुहृद् जनों को आह्लादित कर रही है। इसमें इनकी सर्वतोमुखी प्रतिभा का ज्ञान तो होता ही है, संस्कृत भाषा के ज्ञान का भी पता चलता है। मानस के प्रत्येक काण्ड के आरम्भ में मंगलाचरण के रूप में वर्णित संस्कृत पदों से भी इनका पूर्ण पाण्डित्य तथा वैदुष्य झलकता है। नीति कथनों के लिए इन्होंने विशेषतः भागवत, शिवपुराण, गीता, वाल्मीकीय रामायण, अध्यात्म रामायण, शुकनीति, चाणक्य नीति, विदुरनीति, नीतिशतक, पञ्चतन्त्र तथा हितोपदेश आदि ग्रन्थों का विशेष आश्रय ग्रहण किया है। यहाँ इनके साम्य तथा परिष्कृत रूप पर प्रकाश डाला जा रहा है।

काम क्रोधादि विकारों का परित्याग—

'त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशमात्मनः।
कामः क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत् त्रयं त्यजेत्'॥
(गीता १६।२१)

'काम क्रोध मद लोभ सब नाथ नरक के पंथ।
सब परिहरि रघुवीरहिं भजहु भर्जाहं जेहि संत'॥ रा० मा० ५।३८

श्लोक में मनुष्य के नाशात्मक नरक के तीन द्वारों काम, क्रोध तथा लोभ का वर्णन किया गया है, पर चौपाई में उन्हें नरक-पथ कहकर उनके साथ चतुर्थ पथ मद का भी विवेचन है, जो इन तीनों के समान ही प्रबल हैं। अतः श्लोक की अपेक्षा चौपाई में उत्कर्ष है। मनुष्य को सदैव इन विकारों का परित्याग करना चाहिए।

नीति शतक का श्लोक है—

'कान्ताकटाक्ष विशिखा न लुनन्ति यस्य
चित्तं न निर्दहति कोप कृशानु तापः।
कर्षन्ति भूरि विषयाश्च न लोभपाशैः
लोक त्रयं जयति कृत्स्नमिदं स धीरः'॥

(नीति शतक १०७)

इस संदर्भ में तुलसीदास की उक्ति दर्शनीय हैं—

नारि नयन सर जाहि न लागा। घोर क्रोध निसि तम सो जागा॥
लोभ पास जेहि गर न बँधाया। सो नर तुम समान रघुराया॥

(राम चरित मा० ४।२०।४-५)

उक्त चौपाई में श्लोक का भाव अवश्य है, पर गोस्वामी जी ने अपनी कला के द्वारा उसे विशेष उत्कृष्ट बना दिया है। श्लोककार ने जहाँ 'लोकत्रयं जयति कृत्स्नमिदं स धीरः कहकर धीर के जिन गुणों की ओर संकेत किया है, वहां गोस्वामी जी ने 'सो नर तुम्ह समान रघुराया' कहकर धीर, वीर आदि अनेक गुणों की व्यञ्जना की है। इसी प्रकार श्लोक मे वर्णित 'चित्तं न निर्दहति कोप कृशानु तापः' की अपेक्षा चौपाई में कथित 'घोर क्रोध निसि तम सो जागा' की अभिव्यक्ति व्यापक और मार्मिक है। अतः काम, क्रोध तथा लोभ को जीतने वाला मनुष्य प्रशंसनीय है।

मातृ-पितृ-गुरु-भक्ति

'प्रातरुत्थाय सुस्नातः पितरावभिवाद्य च।
पौर कार्याणि सर्वाणि करोति विनयान्वितः॥'

(आध्यात्म रामायण १।३।६)

'प्रात काल उठि कै रघुनाथा। मातु पिता गुरु नावहिं माथा॥
आयसु माँगि करहिं पुरकाजा। देखि चरित हरषइ मन राजा॥'

(राम चरित मा० १।२०४।७)

श्लोक से चौपई में अधिक उत्कर्ष है, क्योंकि श्लोक में 'पितरौ' के द्वारा माता-पिता के ही अभिवादन की ओर संकेत है, पर चौपाई में इनके साथ गुरु के भी अभिवादन पर बल देकर इसे अत्यन्त व्यापक बना दिया गया है।

पातिव्रत धर्म—

'क्लीबं च दुखस्थं वा व्याधितं वृद्धमेव च।
सुखितं दुःखितं वापि पतिमेकं न लंघयेत्॥'

(शिव पुराण पार्वती खण्ड ३।३१)

'वृद्ध रोग बस जड़ धन हीना। अंध बधिर क्रोधी अति दीना।
ऐसेहु पति कर किए अपमाना। नारि पाव जमपुर दुख नाना।।'
(रामचरित ३।४।८-९)

श्लोक की अपेक्षा चौपाई में उत्कर्ष है। नारी को यमपुर का भय दिखलाकर पातिव्रत धर्म में प्रवृत्त कराया गया है, जो श्लोक के सामान्य कथन से किसी भी प्रकार सम्भव नहीं है।

मित्र-धर्म—

'मित्रस्य दुःखेन जनाः दुःखिता नो भवन्ति ये।
तेषां दर्शन मात्रेण पातकं बहुलं भवेत्।।' (गालव संहिता)

× × ×

'जे न मित्र दुख होंहि दुखारी।
तिन्हहिं विलोकत पातक भारी।।'

श्लोक की अपेक्षा चौपाई में उत्कर्ष है। श्लोक में 'बहुलम्' में अनेक प्रकार के पाप आते हैं जिनका माप छटाँक के बराबर है, पर चौपाई के 'भारी पातक' में विशेष गुरुत्व है, जिसका माप मन के बराबर है।

'पापान्निवारयति योजयते हिताय
गुह्यं च गूहति गुणान् प्रकटी करोति।
आपद्गतं च न जहाति ददाति काले
सन्मित्र लक्षणमिदं प्रवदन्ति सन्तः।।'
(नीति शतक ७३)

'कुपथ निवारि सुपंथ चलावा। गुन प्रगटे अवगुनन्हि दुरावा।।
देत लेन मन संक न धरई। बल अनुमान सदा हित करई।।
बिपति काल कर सत गुन नेहा। श्रुति कह संत मित्र गुन एहा।।'
(राम चरित ४।६।४-६)

गोस्वामी जी ने चौपाई में उक्त श्लोक का पूर्ण भाव ग्रहण किया है, पर श्लोक की अपेक्षा उसे विशेष रमणीय बना दिया है। श्लोक में सन्तों के अनुसार मित्र धर्म का विवेचन किया गया है, पर चौपाई में श्रुति के अनुसार उसका कथन करके उसकी प्रामाणिकता पर बल दिया गया है। इसके अतिरिक्त वर्णन की शैली में भी अपेक्षा कृत मार्मिक अभिव्यक्ति है, क्योंकि श्लोक में 'आपद्गतं च न जहाति' तथा 'ददाति काले' में जिस बात की व्यञ्जना की गई है, उसे चौपाई में 'विपति कालकर सत गुन नेहा' तथा 'देत लेत मन संक न धरई। बल अनुमान सदा हित करई।' कह कर उसकी बहुत ही गंभरि तथा व्यापक अभिव्यञ्जना की गई है। इसमें मित्र धर्म का बहुत ही सुन्दर निरूपण किया गया है।

शस्त्री आदि से विरोध करने में कल्याण की हानि—

'शस्त्री प्रभेदी नृपति : शठो वैद्यो धनिः कविः।
बंदी गुणीति विख्याते : नवभिः न विरुद्धयताम्।।'
(चाणक्य नीति)

'नवहिं विरोधे नहिं कल्याना।
सस्त्री मर्मी प्रभु सठ धनी।
बैद बंदि कवि मानस गुनी॥'

(राम चरित ३।२५।३-४)

चौपाई में श्लोक का अनुवाद है, पर श्लोककार के गुणों की अपेक्षा गोस्वामी जी ने 'मानस गुनी (महानस् गुनी-पाक शास्त्र-निपुण) का प्रयोग करके उसे विशेष अभिव्यञ्जक बना दिया है। अतः अपना कल्याण चाहने वाले मनुष्य को शस्त्रधारी मर्म को जानने वाले, स्वामी, दुष्ट, धनी, वैद्य, भाट, कवि तथा पाक-निर्माता से विरोध नहीं करना चाहिए।

ढोल गँवार, सूद्र, पशु तथा नारी ताड़न योग्य—

'दुर्जनः शिल्पिनो दासाः दुष्टाश्च पटहाः स्त्रियः।
ताड़िता मार्दवं यान्ति न ते सत्कारः भाजिनः॥'

(गर्ग संहिता)

'ढोल गँवार सूद्र पसु नारी। सकल ताड़ना के अधिकारी॥'

(राम चरित ५।५८।६)

श्लोक में व्यापकता है, चौपाई में संकीर्णता, पर भाव में कोई अन्तर नहीं है। दोनों में 'ताड़न' शव्द समान रूप से व्यवहृत हुआ है, पर उसका उद्देश्य अहित करना नहीं, प्रत्युत सुधार करना है।

दूत की अवध्यता—

'दूतो न वध्य इति शास्त्र गिरा रुरोध।'

(चम्पू रामायण ५।५३)

'नीति बिरोध न मारिअ दूता।'

(राम चरित ५।२३।७)

श्लोक की पंक्ति में शास्त्र तथा चौपाई की पंक्ति में नीति के अनुसार—दूत-वध का निषेध किया गया है। श्लोक का शास्त्र बहुत ही व्यापक है, जिसे चौपाई में नीति शब्द के द्वारा अभिव्यक्त कर महत्वपूर्ण बनाया गया है।

सचिव, वैद्य तथा गुरु की ठकुर सुहाती से राज्य, तन तथा धर्म का नाश—

'वैद्यः; गुरुश्च मंत्री च यस्य राज्ञः प्रियं वदः।
शरीर धर्म कोषेभ्यः स क्षिप्रं परिहीयते॥'

(हितों पदेश विग्रह १०८)

'सचिव बैद गुरु तीनि जो प्रिय बोलहिं भय आप।
राज धर्म तन तीनि कर होइ बेगिहीं नास॥'

(राम चरित ५।३७)

श्लोक में क्रम का निर्वाह है, पर दोहे में अक्रम है, जो शास्त्रीय दृष्टि से दोष माना गया है, फिर भी श्लोक के 'प्रियं वदः' की अपेक्षा 'प्रिय वोलहि भय आस' विशेष मार्मिक एवं रमणीय है। इससे अर्थ में तीव्रता आती है, जो श्लोक के सामान्य कथन से सम्भव नहीं है।

उपर्युक्त उदाहरणों के आधार-पर देखा जा सकता है कि तुलसीदास जी ने मधुकर वृत्ति के द्वारा नाना पुराणादि रूप पुष्पवाटिका के रंग-विरंगे पुष्पों से रस ग्रहण कर राम चरित मानस रूपी मधुकोश प्रस्तुत किया है, जिसमें भक्ति के साथ-साथ नीति भी संपृक्त है, जिसे पूर्ण रूप से कोई विवेकी ही ग्रहण कर सकता है। छाया तो सभी कवि ग्रहण करते हैं, पर उसे परिष्कृत और मर्यादित वनाकर उपस्थित करना अलौकिक प्रतिभासम्पन्न सुकवि का ही काम है, जिसे गोस्वामी जी में देखकर आश्चर्यान्वित होना पड़ता है। भले ही इनके भाव ग्रहण करने में दो-एक स्थानों पर अपकर्ष या दोष दृष्टि पथ में आते हैं, पर इतने विशाल ग्रन्थ के गुणसमूह के भीतर वे उसी प्रकार विलीन हो जाते हैं, जिस प्रकार अमित गुणों से समन्वित चन्द्र किरणों के बीच में चन्द्र कलंक।

अतः 'डंके की चोट' यह कहा जा सकता है कि गोस्वामी तुलसी दास जी ने प्राचीन नीति कथनों से जिस शव्द या भाव को ग्रहण किया है, उसे विरूप नहीं किया हैं, प्रत्युत उसे सुरूप देकर ही उपस्थित किया है। अतः निष्कर्ष रूप में गोस्वामी जी के सम्वन्ध में मेरा यही निर्णय है कि वे वहुज्ञ थे, वहुश्रुत थे और वे ऐसे संत थे, जिनके ऊपर निश्चित रूप से 'मधुकर सरिस संत गुन ग्राही' की उक्ति चरितार्थ होती है।

———

रामचरितमानस एवं आयुर्वेद

पं० लक्ष्मीधर द्विवेदी एवं डॉ० लक्ष्मीशंकर विश्वनाथ गुरु
चिकित्सा विज्ञान संस्थान, का० हि० वि० वि०

महाकवि संत तुलसीदास की सर्वतोमुखी प्रतिभा को भारतवर्ष में आसेतु हिमांचल कौन नहीं स्वीकार करता। उस महाकवि की लेखनी ने भारतीय जन-जीवन के सार्वजनीन पक्ष का जिस कुशलता से मर्मस्पर्शी शब्दो में अंकन किया है वह भारतीय संस्कृति के अन्त:पटल पर 'यावच्चद्रं दिवा करौ' अमिट रहेगा। उनकी अमर लेखनी ने भारतीय जन जीवन के सभी पहलुओं का जैसा यथार्थ, सामयिक, तर्कसंगत एवं व्यावहारिक पक्ष प्रस्तुत किया है वह विश्व में अतुलनीय है। क्या गार्हस्थ जीवन की मार्मिक अनुभूतियाँ, क्या सामाजिक विषमताएं एवं मान्यताएं, क्या नीतिशास्त्र की व्यावहारिक उपादेयता, क्या भक्ति सुधारस से आप्लावित अभिव्यंजनाएं, क्या आध्यात्मिक परिचर्चायें आदि कोई भी पहलू उस महाकवि ने अछूता नहीं छोड़ा है। साहित्य शास्त्र के सभी रसों का जो मनोरम सामंजस्य महाकवि की रचनाओं में प्रतिध्वनित होता है वैसा रसास्वादन अन्यत्र कथमपि प्राप्त नहीं हो सकता। महाकवि ने समाज के सर्वाङ्गीण पक्ष को प्रस्तुत करते हुए आयुर्वेद जैसे नीरस साहित्य विषय का भी उपस्थापन जिस अनोखे ढंग से किया है वह विश्व के साहित्य में वेजोड़ है। हम इस लेख में महाकवि द्वारा रामचरितमानस में उद्धृत आयुर्वेद के कतिपय अवतरणों का उल्लेख करेंगे जहाँ कवि ने सुघड़ता से आयुर्वेद के दुरुह सिद्धान्तों को आकर्षक एवं बोधगम्य भाषा में वर्णित किया है। आयुर्वेद के विषयों का ऐसा सुसंगत वर्णन मिलने से प्रतीत होता है कि महाकवि का आयुर्वेद साहित्य से भी घनिष्ट सम्बन्ध अवश्य ही रहा होगा, अन्यथा आयुर्वेद विषयक सामग्रियों का सुरुचिपूर्ण एवं समीचीन उपस्थापन क़दापि संभव नहीं होता। प्रस्तुत सन्दर्भ में आयुर्वेद विषयक कतिपय सामग्रियों का उदाहरण देना अत्यन्त आवश्यक है जिसके द्वारा महाकवि के आयुर्वेदीय ज्ञान की झलक प्रतिभासित होती है। कुछ मास पूर्व आचार्य प्रियव्रत शर्मा अध्यक्ष, द्रव्यगुण विभाग, चिकित्सा विज्ञान संस्थान का वड़ा सुन्दर लेख "रामचरित मानस में वनस्पतियाँ" पढ़ने का अवसर प्राप्त हुआ। उसमें शर्माजी ने ठीक ही कहा है कि रामचरित मानस में इस प्रकार के विषयों का उल्लेख तो घलुए के समान है जो कि मुख्य वस्तु भक्ति रसामृत का पान कराती हुई इस प्रकार के विषयों का भी दिग्दर्शन कराती है। हमने प्रस्तुत लेख में वानस्पतिक औषधियों का उल्लेख नहीं किया है; क्यों कि इस विषय पर आचार्य शर्मांजी के लेख के पश्चात् कुछ भी कहने को शेष नहीं रहता। हमने प्रस्तुत लेख में वानस्पतिक औषधियों के अतिरिक्त रोग विषयक आयुर्वेदीय सामग्रियों को ही मुख्य रूप से वर्णित करने का प्रयास किया है। संत तुलसी ने रामचरित मानस में शताधिक स्थलों पर आयुर्वेद के ऐसे गम्भीर विषयों का सूत्र रूप में उल्लेख किया है जिन पर हठात् ही दृष्टि अटक जाती है तथा अनुभव होता है कि महाकवि संत तुलसी संत

शिरोमणि तथा कविमूर्द्धन्य ही नहीं, वरन् एक प्रौढ़ आयुर्वेदविद् भी थे। कुछेक उद्धरण द्रष्टव्य हैं। यथा:—

ग्रह ग्रहीत पुनि वातवस पुनि तेहि बीछी मार।
तेहि पिआइअ वारुनी कहहु काह उपचार॥

भगवान राम के वन जाने पर भरतजी को जब राजतिलक के लिए गुरु वशिष्ठ, मंत्रियों तथा माताओं से प्रेरित किया जा रहा था उस प्रसंग में भरतजी ने बड़ी ही मार्मिक उक्ति से सभी लोगों को उत्तर दिया था। संत तुलसी ने भरत जी के शोकोद्‌गार को आयुर्वेद की आलंकारिक भाषा से सज्जित कर कितनी सुन्दरता से वर्णित किया है वह बेमिसाल है, जिसका अनुभव उपर्युक्त दोहे से प्राप्त किया जा सकता है। उपर्युक्त दोहे का आयुर्वेद की दृष्टि से कितना महत्व है इसका किंचित् आंकलन अपेक्षित है। आयुर्वेद के अनुसार जब कोई व्यक्ति ग्रह बाधा से पीड़ित होता है तो उसमें मुख्यतया वातदोष का ही प्रकोप होता है और वही ग्रह से पीड़ित मनुष्य जिसमें वात प्रधान लक्षण पूर्व से ही हों उसे ही जब कोई वात रोग हो जाय तथा उसी व्यक्ति को विच्छू काट ले जो कि और भी वात दोष के वृद्धि का कारण होता है और ऐसे व्यक्ति की पीड़ा को शमन करने के लिए यदि सुरा पिलाई जाय जो कि और भी वात वृद्धि का हेतु है तो क्या यह कोई उपचार है ?

अर्थात्, भरत जी की इस शोकाकुल वाणी का अभिप्राय यह था कि भरत जी तो राम बन गमन से ही बड़े दुखी थे उसमें पिता का मरण और भी दुख का कारण हुआ इससे भी बढ़कर मर्मान्तिक कष्ट उनके लिए यह राज पद माँगना हुआ। इस प्रकार की दुःख शृंखलाओं से पीड़ित भरत जी को क्या राजतिलक सुखी कर सकता था ? कदापि नहीं। जिस प्रकार उपर्युक्त वर्णित रोगी के लिए सुरापान कदापि उपचार नहीं हो सकता। इन तथ्यों पर दृष्टिपात करने से ज्ञात होता है कि महाकवि तुलसी को आयुर्वेद का कितना विशद ज्ञान था जिसको उन्होंने अपने विद्वत्तापूर्ण मर्मस्पर्शी भाषा में व्यक्त किया है। इसी प्रकार एक और भी उदाहरण देना अप्रासंगिक नहीं होगा। मानसिक रोगों का उल्लेख करते हुए संत तुलसी ने मानसिक विकारों का साम्य जिन व्याधियों से रूपक के रूप में किया है उसका वर्णन अतुलनीय है। कुछेक उद्धरण प्रस्तुत किये जाते हैं। "काम वात कफ लोभ अपारा। क्रोध पित्त नित छाती जारा॥ प्रीति करहिं जो तीनहु-भाई,। उपजई सन्यपात दुखदाई॥"

यदि प्रस्तुत चौपाई पर विचार किया जाय तो ज्ञात होता है कि महाकवि ने कामादिक मानसिक विकारों का कैसा सुन्दर रूपक प्रस्तुत किया है जो कि रूपक होते हुए भी बिल्कुल यथार्थ-सा लगता है।

महर्षि चरक ने प्रतिपादित किया है कि मानसिक विकारों द्वारा भी दोषों का प्रकोप होता है और ठीक इसीप्रकार का वर्णन महर्षि चरक के चरकसंहिता चिकित्सा स्थान के तीसरे अध्याय में प्राप्त होता है।

कामशोक भयाद् वायुः क्रोधात् पित्तं त्रयो मलाः।
भूताभिषंगात्कुप्यन्ति भूत सामान्य लक्षणः॥ च० चि० ३।११५

प्रस्तुत उद्धरण में काम से वायु दोष तथा क्रोध से पित्त प्रकोप बताया गया है जो कि संत तुलसी के वर्णन से बिल्कुल समान है। इसी प्रकार कवि ने जो लोभ की उपमा कफ से वर्णित किया वह भी सर्वथा समीचीन है जैसा कि निम्न उद्धरण से ज्ञात होता है। अविकृत कफ का एकलक्षण अलोभ भी होता है, लेकिन जब कफ विकृत होता है तो लोभ नामक मानसिक विकार उत्पन्न होता है।

क्षमाधृतिरलोभश्च कफ कर्माविकारजम् ॥ च० सू० १९।५१

और यदि काम क्रोध और लोभ तीनों ही वृद्धि को प्राप्त होते हैं तो इन तीनों से वातपित्त कफ दोषत्रय प्रकुपित होकर सन्निपातज रोग उत्पन्न होता है।

इस प्रकार रामचरित मानस में अनेकानेक स्थल प्राप्त होते हैं जहां कि आयुर्वेद की सामग्रियां मिलती हैं। अब 'मानस' से आयुर्वेद विषयक वर्णनों का उद्धरण प्रस्तुत किया जाता है तथा यथास्थल कहीं-कहीं उन उद्धरणों पर उचित विचार भी उपस्थित किया जायेगा।

गुरुपद रज मृदु मंजुल अंजन। नयन अमिय दृग दोष विभंजन॥
ग्रह भेषज जल पवन पट पाइ कुजोग सुजोग।
होहिं कुवस्तु सुवस्तु जग लखहिं सुलच्छन लोग॥

प्रस्तुत उद्धरण में भेषज औषधियों के अहित और हित संयोग से उसका प्रभाव भी अहित तथा हित हो सकता है। इसे बड़ी सुन्दरता से अन्य वस्तुओं के सादृश्य द्वारा प्रतिपादित किया गया है।

राम कथा कलि कामद गाई। सुजन सजीवनि मूरि सुहाई॥
सद गुरु ग्यान विराग जोग के। विबुध बैद भव भीम रोग के॥
त्रिविध दोष दुख दारिद दावन। कलि कुचालि कुलि कलुष नसावन॥
× × × ×
हृदय कम्प तन सुधि कछु नाहीं। नयन मूँदि बैठी मग माही॥

प्रस्तुत उद्धरण, सतीजी ने जब सीता का रूप लेकर भगवान रामचन्द्र के प्रभाव को जानना चाहा था उस समय का है। भगवान राम ने भी अपनी माया का स्वरूप उन्हें दिखाया तो वे आश्चर्य मिश्रित भय से त्रस्त हो गयीं उसीका सुन्दर वर्णन कवि ने मर्मस्पर्शी वाणीं में किया है। अत्यन्त आश्चर्य तथा भय से युक्त व्यक्ति की ठीक ऐसी ही दशा होती है जैसी कि वर्णित है। अतः यह लक्षण आयुर्वेदानुसार भी अत्यन्त समीचीन है।

वातुल भूत विवस मतवारे। ते नहीं बोलहि बचन संभारे॥

प्रस्तुत चौपाई में वातुल, भूतग्रस्त तथा मदपान किए हुए व्यक्ति के वचन असंगत तथा व्यर्थ होते हैं, क्योंकि इन व्यक्तियों में विचारशीलता का अभाव होता है। आयुर्वेद मनीषियों ने भी वातुल व्यक्ति को नित्य ही रोग ग्रस्त बतलाया है, जैसा कि महर्षि चरक के वर्णन से ज्ञात होता है। यथा :—

तेषामनातुरा पूर्वे वातिलाद्याः सदा तुराः। च० सू० ७

वातुल व्यक्ति सदा ही रोग ग्रस्त रहते हैं और जो रोग ग्रस्त होगें वे कहां तक विचारशील हो सकते हैं? उसी प्रकार मदपान किए हुए व्यक्ति की भी विचार शक्ति नष्ट होती है जैसा कि माधवनिदान में वर्णित है :—

अव्यक्त बुद्धि स्मृति वाग्विचेष्टाः सोन्मत्त लीलाकृतिरप्रशान्तः ।
आलस्य निद्राभिहतो मुहुश्च मध्येन मत्तः पुरुषोमदेन ॥

मद्य के मद से युक्त मनुष्य अव्यक्त बुद्धि, अव्यक्त स्मृति, अव्यक्त वाणी तथा अव्यक्त चेष्टाओं वाला हो जाता है । उसकी लीला तथा आकृति उन्मत्तों जैसी हो जाती है और वह बार-बार आलस्य और निद्रा से पीड़ित होता है । जो व्यक्ति मद्यपान के प्रभाव में उपर्युक्त प्रकार के लक्षणों वाला हो जाता है उस व्यक्ति का विचार कहां तक उचित तथा हितकर हो सकता है ? उसी प्रकार भूतग्रस्त व्यक्ति भी असंगत एवं प्रलाप पूर्ण बचन बोलते हैं जैसा कि भूतोत्थ उन्माद के वर्णन में महर्षि चरक ने वर्णित किया है :—

अमर्त्यवाग् विक्रम वीर्य चेष्टो, ज्ञानादि विज्ञान बलादिभिर्यः ।
उन्माद कालो दुनियतश्चयस्य भूतोत्थमुन्माद मुदाहरेत्तम् ॥ च० चि० ९

इस प्रकार हम देखते हैं कि महाकवि तुलसी का उपर्युक्त वर्णन यथार्थ आयुर्वेद सम्मत है ।

ससिकर सम सुनि गिरा तुम्हारी । मिटा मोह सरदातप भारी ॥

प्रस्तुत चौपाई में पार्वतीजी के मोह का निवारण भगवान शंकर जी की वाणी से उसी प्रकार हो गया जिस प्रकार शरद ऋतु के आतपजन्य कष्ट का चन्द्रमा की शीतल किरणों से निवारण होता है । इसमें यह विचारणीय है कि आयुर्वेद के मतानुसार शरद ऋतु में पित्त का प्रकोप होता है जिसके कारण पित्तप्रधान शारीरिक संताप उत्पन्न होता है । यदि इसमें हेतु विपरीत विहार का सेवन अर्थात् चन्द्रमा की शीतल किरणों का सेवन किया जाय तो अवश्य ही लाभ होता है ।

इस प्रकार संत तुलसीदास ने साहित्यिक उपमाओं के व्याज से ही न जाने कितने ही अत्यन्त उपादेय आयुर्वेदीय चिकित्सा सिद्धान्तों का उल्लेख कर दिया है ।

कुपथ माग रुज व्याकुल रोगी । वैद न देई सुनहु मुनि योगी ।

× × × ×

खेद खिन्न क्षुधित तृषित राजा बाजि समेत ।
खोजत व्याकुल सरित सर जल बिनु भयउ अचेत ॥

प्रस्तुत दोहे में गोस्वामीजी ने बुभुक्षित, तृषित एवं क्लान्त व्यक्ति की स्थिति का कितना यथार्थ वर्णन किया है और आगे के प्रसंग में यह दिखलाया है कि इस प्रकार के व्यक्ति वास्तव में कर्त्तव्य को भूल कर धोखे में अपना विनाश करा लेते हैं जैसा कि राजा प्रताप भानु का हुआ ।

तन पसेउ कदली जिमि कांपी । कुबरी दसन जीभ तब चांपी ॥
दलकि उठेउ सुनि हृदय कठोरु । जनु छुई गयउ पाक बरतोरू ॥
विवरन भयऊ निपट नरपालू । दामिन हनेउ मनहु तरु तालू ॥
अति कटु बचन कहति कैकेयी । मानहु लोन जरे पर देई ॥
देखी व्याधि असाध नृप परेऊ धरनि धुनि माथ ।
कहत परम आरत बचन राम राम रघुनाथ ॥
व्याकुल राउ सिथिल सब गाता । करिनि कलपतरु मनहु निपाता ॥
नगर व्यापि गइ बात सुतीछो । छुअत चढ़ीं जनु सब तन बीछी ॥

उपर्युक्त चौपाई में गोस्वामीजी ने बड़ी कुशलता से अनुभूतिजन्य तथ्य को प्रस्तुत किया है। यद्यपि सभी प्रकार के जंगम विषों का विशेष प्रभाव तीक्ष्ण तथा आशुक्रियाकारी होता है पर उसमें भी विच्छू का विष तो और भी आशुक्रियाकारी एवं व्यवायी होता है जिस कारण शीघ्र ही सम्पूर्ण शरीर में फैलकर वेदना कारक होता है जैसा कि महर्षि चरक ने विषचिकित्सा प्रकरण में उल्लेख किया है :

दहत्यग्निरिवादौ तु भिनत्तीवोर्ध्वमाशु च।
वृश्चिकस्य बिषं याति दंशे पश्चात् तिष्ठति ॥ च० चि० २३

वृश्चिक दंश विष का प्रभाव शरीर के सम्पूर्ण अंगों में इतना शीघ्र होता है कि पहले वृश्चिक दंश विष सम्पूर्ण शरीर में दाह तथा पीड़ा उत्पन्न करता है और दंश स्थल पर वाद में। अर्थात्, दंशकाल के कुछ समय वाद दंशस्थल में दाह तथा वेदना होती है। इसी प्रकार हम देखते हैं कि राम वनगमन का समाचार नगर में इतनी शीघ्रता से फैला जैसा वृश्चिक दंश विष। महाकवि की यह उपमा कितनी यथार्थ तथा सुन्दर है। ठीक उसी प्रकार राम वनवास के समाचार से पहले सारे नगर वासी दुःख से व्याकुल हो गए और वाद में महाराज दशरथ का राजभवन जो कि दुःख का प्रधान स्थल था। वहाँ वह मर्मान्तिक कष्ट तो राम वनवास की पूरी अवधि तक बना रहा। इस प्रकार इतना सटीक उपमा से महाकवि के आयुर्वेदीय ज्ञान की स्पष्ट झलक मिलती है।

समाचार जब लछिमन पाए। ब्याकुल बिलख बदन उठि धाए ॥
कंप पुलक तन नयन सनीरा। गहे चरन अति प्रेम अधीरा ॥
सिअरें बचन सूखि गए कैसें। परसत तुहिन तामरस जैसें ॥

× × × ×

तन कृस मन दुख बदन मलीने। बिकल मनहुं माखी मधु छीने ॥

× × × ×

सकइ न बोलि बिकल नरनाहूं। सोक जनित उर दारून दाहू ॥

× × × ×

राम बियोग बिकल सब ठाढ़े। जहं तहं मनहु चित्र लिखि काढ़े ॥

× × × ×

हृदय दाहु अति बदन मलीना। कहकरजोरि बचन अति दीना ॥
नयन सूझ नहि सुनइ न काना। कहि न सकइ कछु अति अकुलाना ॥

× × × ×

नहि तृन चरहिं न पिअहिं पय मोचहिं लोचन बारि।
ब्याकुल भए निषाद सब रघुबर बाजि निहारि ॥

× × × ×

लोचन सजल डीठि भई थोरी। सुनइ न श्रवन बिकल मति भोरी ॥
सूखहिं अधर लागि मुंह लाटी। जिउ न जाइ उर अवधिकपाटी ॥

× × × ×

सूत बचन सुनतहिं नरनाहू। परेउ धरनि उर दारुन दाहू ॥
तलफत बिषम मोह मन मापा। माजा मनहुं मीन कहुं ब्यापा ॥

सुमन्त द्वारा राम वन-गमन समाचार सुनकर राजा दशरथ हृद्गत व्यथा के कारण पृथ्वी पर गिर गए तथा जिस प्रकार मछली माजा विप के प्रभाव से तड़पती हुई मूर्च्छित हो जाती है उसी प्रकार तड़पते हुए राजा भी मूर्च्छित हो गए। उपर्युक्त चौपाइयों में चिकित्सा शास्त्र के अनुसार जव मनुष्य कोई अप्रत्याशित प्रतिकूल वात सुनता है तो उसे हृदयगत विकार का दौरा हो जाता है और हृदयगत व्यथा अधिक होने पर मनुष्य बेचैनी से तड़पते हुए मूर्च्छित भी हो जाता है। गोस्वामी जी ने अत्यधिक मार्मिकता एवं सजीवता से इस विषय का प्रतिपादन किया है। यहां उनकी उपमा भी कितनी यथार्थ है जो चिकित्सा शास्त्र के अनुसार ही वड़ी ही युक्ति संगत है।

झलका झलकत पायन्ह कैसे। पंकज कोस ओस कन जैसे।

प्रस्तुत चौपाई में भरत जी के कोमल चरणों में पैदल चलने के कारण फफोले पड़ गए हैं और वे फफोले ऐसे लगते हैं मानो कमल के कोश पर ओस का कण पड़ा हो। कितना यथार्थ वर्णन है :—

नहि प्रसन्न मुख मानस खेदा। सखि संदेह होइ एहि भेदा।

प्रस्तुत चौपाई में आन्तरिक व्यथा का वाह्य शरीर पर क्या प्रभाव पड़ता है इसका बड़ा सुन्दर वर्णन किया गया है। भरत और शत्रुघ्न राम-लक्ष्मण के सदृश श्याम-गौर वर्ण आकृति वाले थे इस कारण ग्राम वासियां को भ्रान्त होना स्वाभाविक ही था। उनको भ्रान्ति का निवारण महाकवि ने कितनी सुन्दर युक्ति से किया है ! भरत, शत्रुघ्न आन्तरिक व्यथा से पीड़ित हैं जिसके कारण इनका मुख प्रफुल्लित नहीं है तथा मन खिन्न है। इसके विपरीत रामचन्द्रजी का मुख प्रसन्न एवं मन सव प्रकार के रागद्वेष से रहित है। महाकवि ने कहा है :—

मुख प्रसन्न मन राग न रोषू। सवकर सब विधि करि परितोषू ।।

× × × ×

जिन्हिं निरखि मग सांपिन बीछी। तजहिं बिषम विष तामस तीछी ।।

प्रस्तुत उद्धरण में गोस्वामी जी ने रामचन्द्रजी के दर्शन का महत्व वतलाते हुए कहा है कि श्रीरामचन्द्रजी के दर्शन से सर्पिणी तथा विच्छू जो कि विषम तामस तथा तीक्ष्ण विष वाले हैं वे भी अपने विष के प्रभाव को छोड़ देते हैं। यहाँ पर जिस विप को तामस (तमोगुण वर्धक) विषम प्रभाव वाला तथा तीक्ष्ण गुण वाला वतलाया गया है वह पूर्णतः आयुर्वेद सम्मत है।

कहऊं बचन सब स्वारथ हेतू। रहत न आरत के चित चेतू ।।

प्रस्तुत प्रसंग में भी मानसिक विकार (स्वार्थ परायणता) का वड़ा सुन्दर वर्णन प्राप्त होता है। जिस प्रकार आर्त व्यक्ति के चित्तबोध का लोप हो जाता है उसी प्रकार स्वार्थ परायण लोग की सभी कर्त्तव्याकर्त्तव्य भूलकर अपनी स्वार्थपूर्ति में ही तल्लीन रहते हैं इस प्रकार का सुन्दर तथा युक्ति संगत दृष्टान्त यहां प्राप्त होता है।

मानसिक दुःख भी जो कि अपने इष्ट के वियोग से उत्पन्न हुआ वह भी मरण का कारण हो सकता है यहाँ उसका चित्रण द्रष्टव्य है।

नतरु लखन सिय राम वियोगा। हहरि मरत सबलोग कुरोगा ॥

पुराकाल में भी वैद्य की समाज में बड़ी प्रतिष्ठा थी और वैद्य से विरोध किसी भी तरह वांछनीय नहीं था। समाज के और लोग भी जिनसे विरोध किसी प्रकार भी उचित नहीं है उसका संकेत महाकवि ने किया है :—

नवहिं विरोधे नहि कल्याना।
सस्त्री मर्मी प्रभुसठ धनी। वैद वंदि कविमानस गुनी ॥

× × × ×

संसारामय भेषजं सुखकरं श्रीजानकी जीवनम्।
धन्यास्ते कृतिनः पिबन्ति सततं श्रीरामनामामृतम् ॥

उपर्युक्त श्लोक में आमय तथा भेषज शब्द का प्रयोग हुआ है जो कि आयुर्वेद म मुख्य अभिवेय तथा प्रयोजन रूप में वर्णित हैं।

सरदातप निसि ससि अपहरई।

उपर्युक्त प्रसंग में भी गोस्वामीजी ने सरदातप से उत्पन्न पैत्तिक विकार में हेतु विपरीत चिकित्सा का वर्णन साहित्यिक वर्णन द्वारा उपस्थित किया है। दिन में शरद् ऋतु के आतप द्वारा जो विकार होता है उसका रात्रि में चन्द्रमा की शीतल किरणों द्वारा प्रशमन हो जाता है। मानसिक विकारों का उल्लेख करते हुए संत तुलसी ने मोह को सभी मानसिक व्याधियों का मूल कहा है तथा उसी मोह से नाना प्रकार की मानसिक तथा शारीरिक शूल देने वाली व्याधियाँ उत्पन्न होती हैं। इसीलिए महर्षि चरक ने लोभ मोहादिक के वेगों को धारण करने के लिए अर्थात् रोकने के लिए निर्देशित किया है जैसा कि निम्न उद्धरण में द्रष्टव्य है :—

इमांस्तु धारयेद्वेगान हितार्थी प्रेत्य चेह च।
साहसानाशस्तानां मनो वाक्काय कर्मणाम् ॥
लोभ शोक भयक्रोध मानवेगान् विधारयेत्।
नैर्लज्ज्यर्ष्याति रागाणामभिध्यायाश्च बुद्धिमान् ॥

—च० सू० ७।२६–२७

उत्तरकाण्ड में तो गोस्वामीजी ने सभी मानसिक व्याधियों या विकारों का शारीरिक रोगों से बड़ा ही सुन्दर सामंजस्य स्थापित किया है जो बड़ा ही सुन्दर एवं युक्तिसंगत मालूम होता है। सभी मानसिक व्याधियों का शारीरिक व्याधियों से तुलनात्मक वर्णन देखने से तो प्रतीत होता है कि महाकवि का एतत् विषयक कितना सूक्ष्म अनुभव एवं ज्ञान था कि प्रायः कोई भी प्रमुख मानसिक व्याधि का उल्लेख नहीं छूटा है तथा उसका शारीरिक व्याधियों से सामंजस्य भी कितनी मर्मज्ञता को सूचित करता है इसे स्वयं ही विज्ञ पाठक प्रस्तुत उद्धरणों को देखकर समझ सकेंगे।

काम वात कफ लोभ अपारा। क्रोध पित्त नित छाती जारा ॥
प्रीति करई जो तीनिउ भाई। उपजइ सन्यपात दुःखदाई ॥

प्रस्तुत उद्धरण का उल्लेख एवं इसकी आयुर्वेदीय पृष्ठभूमि की व्याख्या लेख के प्रारम्भ में की जा चुकी है अतः इसके विषय में पुनः कहना असंगत होगा। यहाँ कुछ उद्धरणों के सम्बन्ध में विचार प्रासंगिक होगा। उदाहरणार्थ :—

विषय मनोरथ दुर्गम नाना। ते सब सूल नाम को जाना॥

प्रस्तुत चौपाई में विविध विषयेन्द्रियों से मन के संयोग से मनुष्य को जो नाना प्रकार की सुखानुभुति होती है उन सभी अनेकानेक विषयों को गोस्वामी जी ने बड़ा ही दुर्गम और कठिनता से वश में आने वाला बताया है और उसकी तुलना भी अनेकानेक शूल रोगों से किया है। आयुर्वेद के आर्ष आचार्यों ने भी असात्म्येन्द्रियार्थ संयोग को व्याधि का कारण माना है जैसा कि महर्षि चरक के निम्न उद्धरण से संपुष्ट होता है।

धी धृति स्मृति विभ्रंशः संप्राप्ति काल कर्मणाम्।
असात्म्यार्थागमश्चेति ज्ञातव्या दुःखहेतवः॥ च० शा० १।९८

इसी प्रकार : —

पर सुख देखि जरनि सोई छई। कुष्ट दुष्टता मन कुटिलई॥

दूसरे के सुख को देखकर ईर्ष्या करना ही क्षय के समान है। इस उपर्युक्त उद्धरण की पुष्टि महर्षि चरक के वाक्यों से होती है क्योंकि परम आप्त महर्षि चरक ने भी ईर्ष्या को क्षय के विविध कारणों में से एक प्रमुख कारण माना है जैसा कि निम्न उद्धरण से परिलक्षित होता है :—

ईर्ष्योत्कण्ठाभयत्रासक्रोधशोकाति कर्शनात्।
अतिव्यवायानशनाच्छुक्रमोगश्च हीयते॥
ततः स्नेह क्षयाद्वायुर्वृद्धौ दोषा वुदीरयन्।
प्रतिश्यायं ज्वरं कासमंगमर्दं शिरोरुजम्॥
संप्राप्तं राजयक्ष्माणं क्षयात् प्राणक्षयप्रदम्॥

उक्त उद्धरण में सबसे पहले ईर्ष्या की ही राजयक्ष्मा की संप्राप्ति में परिगणना हुई है। अतः रामचरितमानस का पूर्वोक्त ईर्ष्या का (मानसिक व्याधि) क्षय व्याधि से सामंजस्य बहुत ही युक्तिसंगत मालूम पड़ता है जो कि कवि के आयुर्वेद-ज्ञान की मर्मज्ञता का द्योतक है।

इसी प्रकार और भी अनेक रोगों का विवरण साहित्यिक परिवेश में संकेतात्मक तौर पर प्राप्त होता है। यथा :—

अहंकार अतिदुःखद डमरुआ। दंभकपट मद मान नेहरुआ॥

अहंकार डमरुआ शब्द से आयुर्वेद में किसी रोग का अभिधान नहीं मिलता तथापि डमरुवत् शरीर की आकृति हो जाना अर्थात् दोनों सिरों पर या ऊर्ध्व तथा अधोशाखाओं में शोथ हो जाना और मध्यकाय का क्षीण हो जाना ऐसा अभिप्राय मालूम पड़ता है। इस प्रकार की स्थिति का उल्लेख आचार्य सुश्रुत ने पाण्डुरोग प्रकरण में किया है और ऐसी स्थिति को असाध्य माना है जैसा कि निम्न उद्धरण से ज्ञात होता है :—

अन्तेषु शूनं परिहीण मध्यं म्लानं तथान्तेषु च मध्यशूनम्।
विवर्जयेत्पाण्डुछिनं—इत्यादि।

इस प्रकार की स्थिति में आचार्य सुश्रुत ने रोग को असाध्य तथा अचिकित्स्य माना है। अहंकार ऐसे विनाशकारी विकार की तुलना डमरुआ रोग से करना सचमुच ही बड़ा युक्तिसंगत है। उसी प्रकार नेहरुआ रोग का भी उल्लेख नहीं मिलता लेकिन राजस्थान में एक विशेष प्रकार का कृमिज रोग पाया जाता है जिसमें कि चर्मरोग के विशेष लक्षण मिलते हैं उसे वहां की स्थानीय भाषा में नहरुआ रोग कहा जाता है। इसी प्रकार आगे उदर रोग का भी उल्लेख मिलता है यथा :—तृष्णा उदरवृद्धि अति भारी। त्रिविध ईषना तरुन तिजारी॥ उपर्युक्त प्रसंग में तीन प्रकार की कामनाओं का वर्णन है जो कि महर्षि चरक के त्रिसैषणाओं से साम्य रखता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि महाकवि तुलसी के रामचरितमानस में आयुर्वेद की बहुत सी सामग्री इतस्ततः विखरी पड़ी है और यदि उन सभी सामग्रियों को एकत्रित करके उसकी व्याख्या की जाय तो एक बहुत वड़ा स्वतन्त्र ग्रन्थ ही तैयार हो सकता है। हमने तो इस लेख में कुछ ही मुख्य उद्धरणों को प्रस्तुत करके उसे आयुर्वेद के परिप्रेक्ष्य में समझाने का प्रयास किया है जिसे रामचरितमानस रूपी गंगा में एक डुबकी मात्र ही कहा जा सकता है। यह अल्प प्रयास तो ठीक उसी प्रकार है जैसे कि कोई गंगा के ही जल से गंगा में दो अंजलि जल गंगा को समर्पित करे। उसी प्रकार रामचरित मानस रूपी महान् रत्नाकर के वारे में हम जैसे अल्पमति क्या कह सकते हैं सिवा इसके कि उसः के सुधासम किंचित भावों को उसी में विखेर दें जैसा कि महाकवि के ही शव्दों में कहा जा सकता है कि :—

सुर सिंधु चाहत भाव तोष कि सिंधु जल अंजलि दियो।

इसी प्रकार हमने भी अपना यह भाव श्रद्धालु पाठकों के समक्ष रखने का प्रयास किया है।

अद्वैतवाद और तुलसीदास

शशिप्रभा देवी
शोध छात्रा, दर्शन विभाग

तुलसी के ग्रन्थों का अनुशीलन करके विद्वत्-जनों ने अनेक वादों की अवतारणा की है। कुछ लोग उनकी रचनाओं में उपनिषद् दर्शन निहित पाते हैं तो कुछ अद्वैत तथा अन्य विशिष्टाद्वैत। इसके अतिरिक्त विद्वानों ने कहीं शुद्धाद्वैत तो कहीं सांख्य-योग दर्शन को तुलसी दर्शन में अन्तर्निहित पाया है। इस लेख में संक्षेप में हम यह प्रस्तुत करने का प्रयास करेंगे कि तुलसी दर्शन कहाँ तक शाङ्कर दर्शन के अनुकूल है ?

शाङ्कर दर्शन में तीन प्रकार से पदार्थों का विवेचन किया गया है—ब्रह्म, जीव तथा जगत्। वस्तुतः ब्रह्म ही परमार्थ तत्त्व है, उसके अतिरिक्त सम्पूर्ण पदार्थ मिथ्या अथवा अध्यास हैं। ब्रह्म का दो प्रकार से लक्षण किया गया है—स्वरूप लक्षण तथा तटस्थ लक्षण। ब्रह्म का सत्-सत्-आनन्द रूप स्वरूप लक्षण है। ब्रह्म का सृजक, पालक तथा संहारक रूप से वर्णन तटस्थ लक्षण है। यह ब्रह्म सजातीय, विजातीय तथा स्वगत भेद से रहित है। उसकी सत्ता किसी प्रमाण से स्थापित नहीं की जा सकती, इसलिए वह मानातीत, अप्रमेय है। उसका इदंरूपेण वर्णन करने में श्रुति भी समर्थ नही है। श्रुति उसका निर्वचन 'नेति नेति' के द्वारा करती है। ब्रह्म के लिए अनुपम, अभेद, अद्वितीय, केवल, शुद्ध, एकरस, निरवयव, निर्विकार, स्वयंज्योति आदि शब्दों का प्रयोग किया गया है।

ब्रह्म के उपर्युक्त स्वरूप का दर्शन तुलसी के राम में दिखायी पड़ता है। जिस प्रकार ब्रह्म सूत्रों का प्रतिपाद्य विषय ब्रह्म है उसी प्रकार तुलसी ने भी अपनी रचना का प्रतिपाद्य विषय राम को बनाया तथा राम के प्रभुत्व का प्रतिपादन इनके ग्रन्थ का मूल लक्ष्य है।

जेहि महँ आदि मध्य अवसाना। प्रभु प्रतिपाद्य राम भगवाना।

जिस प्रकार श्रुतियाँ ब्रह्म के स्वरूप का निरूपण करने में असमर्थ हैं उसी प्रकार राम के स्वरूप का भी निरूपण नहीं किया जा सकता। राम अगोचर, बुद्धि से परे हैं, वाणी उनका निरूपण करने में असमर्थ है और श्रुति 'नेति नेति' के द्वारा उनका वर्णन करती है। तुलसी के शब्दों में—

राम सरूप तुम्हार, वचन अगोचर बुद्धि पर।
अविगत अकथ अपार, नेति नेति नित निगम कह।

तुलसी कहते हैं कि राम के स्वरूप का आदि अन्त कोई जान नहीं सकता। जो कुछ भी वर्णन किया गया है वह श्रुति के आधार पर किया गया अनुमान है। ज्ञानी जब अपनी अपनी बुद्धि के अनुसार उनका वर्णन करते हैं—

आदि अंत कोउ जासु न पावा। मति अनुमानि निगम अस गावा।

राम का स्वरूप लक्षण : सन्तों ने अपनी वुद्धि के अनुरूप राम के जिस स्वरूप की अवतारणा की है, वह वास्तव में सच्चिदानन्द विग्रह रूप है। वह व्यापक है, एक है तथा अविनाशी है—

व्यापकु एकु ब्रह्म अविनासी ! सत चेतन घन आनद रासी।

यही राम का स्वरूप लक्षण है। राम नित्य, शाश्वत हैं और वास्तव में उनका कोई रूप नहीं है, वह निर्गुण हैं। इसे कई स्थलों में देखा जा सकता है—

एक अनीह अरूप अनामा। अज सच्चिदानन्द परधामा।
× × ×
अगुन अखंड अनंत अनादी। जेहि चिन्तहिं परमारथवादी।
× × ×
नेति नेति जेहि बेद निरूपा। चिदानन्द निरुपाधि अनूपा।

किन्तु यही निर्गुण राम भक्त के प्रेम के वशीभूत हो सगुण रूप धारण करते हैं। वास्तव में तुलसी के सगुण तथा निर्गुण में कोई भेद नहीं है।

सगुनहिं अगुनहिं नहि कछु भेदा। गावहिं मुनि पुरान बुध बेदा।
अगुन अरूप अलख अज जोई। भगत प्रेम बस सगुन सो होई।

तटस्थ लक्षण—सृष्टि की उत्पत्ति, स्थिति तथा प्रलय के कारण राम हैं यही तटस्थ लक्षण है। राम का यह स्वरूप द्रष्टव्य है—

तासु भजन कीजिअ तहँ भरता। जो करता पालक संहरता।

"उसी का भजन कीजिए जो इस विश्व का कर्त्ता, पालक तथा संहारक है।" राम के इसी रूप में ब्रह्मा, विष्णु, महेश तीनों का दर्शन होता है। राम जीव तथा जगत् के प्रकाशक हैं, मायाधीश हैं, सम्पूर्ण गुणों के कोष हैं। उन्हीं की माया से जीव जगत् के भ्रमजाल में विचरण करता है। उन्हीं की सत्यता से जड़ माया सत्य के समान भासित होती है—

जासु सत्यता तें जड़ माया। भास सत्य इव मोह सहाया।

इस प्रकार तुलसी ने राम को निर्गुण एवं दशरथ सुत सगुण के रूप में वर्णित किया है। किन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि तुलसी ने अद्वैतियों के समान केवल निर्गुण रूप को ही पारमार्थिक रूप से नहीं स्वीकार किया वरन् निर्गुण और सगुण दोनों ही रूपों को परमार्थ रूप से सत्य माना। इनका निराकार ब्रह्म भी करुणा तथा भक्तवत्सलता से ओत प्रोत है। राम के निराकार एवं सगुण रूप का प्रतिपादन तुलसी की लेखनी से हुआ है। वास्तव में इनके निराकार तथा साकार में कोई तात्त्विक भेद नहीं है। इनके राम अंक के समान निर्गुण तथा अक्षर के समान सगुण आकृति वाले हैं।

"अंक अगुन आखर सगुन समुझिअ उभय प्रकार।"

अतः यह स्पष्ट है कि तुलसी ने शंकर के समान राम के दो रूपों की अवतारणा अवश्य की, किन्तु उनके समान एक को ही सत्य रूप से स्वीकार नहीं किया। इनके राम का दोनों ही रूप समान रूप से पारमार्थिक है।

जीव : सम्भवतः जीव अद्वैत के समान माया के वश में होने के कारण व्यक्तित्व (अहं) का अभिमानी है, परतन्त्र तथा अनेक है। किन्तु ईश्वर के अंश रूप में वह अविनाशी, चेतन तथा सम्पूर्ण मलों सें रहित है। साथ ही स्वाभाविक रूप से अनन्त सुख की राशि है।

किन्तु माया के वश में होने पर वह सुख दुःख की अनुभूति करता है। जड़ और चेतन के बीच की जो ग्रन्थि है वह यद्यपि मिथ्या है तथापि बड़ी कठिनता से उससे मुक्ति मिलती है। वासना से मलिन होने पर जीव प्रापञ्चिक दुःख का अनुभव करता है और उसी में लीन रहता है। किन्तु जीव को जब ब्रह्म के रूप का ज्ञान हो जाता है तब वह ब्रह्म हो जाता है। जीव सम्बन्धी मानस की कुछ पङ्क्तियाँ द्रष्टव्य हैं—

मायावस्य जीव अभिमानी। ईसवस्व माया गुनखानी॥
ईस्वर अंस जीव अविनासी। चेतन अमल सहज सुखरासी॥
जड़ चेतनहिं ग्रन्थि परि गई। जदपि मृषा छूटति कठिनई॥
परबस जीव स्ववस भगवंता। जीव अनेक एक श्रीकंता॥
सोइ जानइ जेहि देहु जनाई। जानत तुम्हइ तुम्हहि होइ जाई॥

अन्तिम पंक्ति शंकर के "ब्रह्मभूयाय कल्पते" "ब्रह्म भावश्च मोक्षः" के अत्यन्त सन्निकट है। जीव के स्वरूप को लेकर शंकर दर्शन और तुलसी दर्शन में कोई भी भेद द्रष्टव्य नहीं है।

जगत्—जगत् असत्य है अथवा जगत् राम का रूप होने के कारण सत्य है। जगत् को सत्य, मिथ्या अथवा उभयरूप मानना भ्रम है। जो दृश्य है, जहाँ तक मन की गति है, वह समस्त प्रपञ्च माया है। इससे स्पष्ट है कि सम्पूर्ण दृश्य पदार्थ माया हैं। तुलसी के शब्दों में देखिए—

"गो गोचर जँह लगि मन जाई। सो सब माया जानेहु भाई॥"

अन्य स्थलों में तुलसी ने और भी स्पष्ट कर दिया है गगन, समीर, अग्नि, जल, पृथिवी सभी ईश्वर की सहज कृति हैं और उसकी माया से उत्पन्न है। परन्तु जीव माया रूपी महानिद्रा से भ्रमित होने के कारण जगत् को सत्य समझता है। वास्तव में जगत् स्वप्न की भांति मिथ्या है। जिस प्रकार जागने पर स्वप्न के मिथ्यात्व का बोध होता है उसी प्रकार जीव को स्वरूप का परिज्ञान होने पर जगत् की असत्यता का बोध होता है।

तुलसी के शब्दों में—

"उमा कहउँ मैं अनुभव अपना। सत हरिभजनु जगत सब सपना॥"

जगत् की परिवर्तनशीलता तथा नश्वरता का ज्ञान होने पर उसमें आसक्ति नहीं रह जाती। जीव उससे मुक्ति का मार्ग ढूँढ़ता है और तुलसी ने वह मार्ग दिखाया है 'भक्ति का मार्ग'।

इस प्रकार तुलसी ब्रह्म, जीव तथा जगत् सम्बन्धी दर्शन में शंकर के अनुरूप होते हुए भी मुक्ति के उपाय में शंकर से नितान्त भिन्न हैं। जहां शंकर 'ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः' (ज्ञान के बिना मुक्ति सम्भव नहीं) कहते हैं वहाँ तुलसी भक्ति को प्रधान मानते हैं। उनके

राम चाहे निर्गुण हों या सगुण, अद्वैत हों या विशिष्टाद्वैत उन्हें केवल भक्ति से प्राप्त किया जा सकता है। अनेक मुक्ति के साधनों के होते हुए भी राम नाम के जप की महिमा श्रेष्ठ तथा सुलभ है। ईश्वर की कृपा से जगत् भ्रम दूर हो जाता है और ज्ञान सरिता प्रवाहित होने लगती है। तुलसी ने और भी स्पष्ट शब्दों में स्वीकार किया है कि कलियुग में कर्म, भक्ति, विवेक से श्रेष्ठ राम नाम का ही अवलम्ब है। जिससे समस्त दुःखों से छुटकारा मिल सकता है।

"नहीं कलि करम न भगति बिबेकू। रामनाम अवलंबन एकू।"

बिना हरिभक्ति के सुख की कल्पना ही नहीं की जा सकती। तुलसी भक्ति से इतने प्रभावित हैं कि उन्होंने ज्ञान तथा भक्ति में कोई भेद ही नहीं माना।

"भगतिहि ज्ञानहि नहि कछु भेदा। उभय हरहिं भव संभव खेदा॥"

राम की भक्ति अनुपम तथा निरुपाधि है। इस भक्ति के प्रवल प्रताप को देखकर माया भी संकुचित होने लगती है और अपना प्रभुत्व स्थापित नहीं कर पाती। ज्ञानी मुनि गण इस तथ्य से भलीभांति परिचित हैं इसीलिए वह भक्ति को सम्पूर्ण सुखों का समूह कहते हैं।

"राम भगति निरुपम निरुपाधी। बसई जासु उर सदा अबाधी॥
तेहि बिलोकि माया सकुचाई। करि न सकइ कछु निज प्रभुताई॥
अस बिचारि जे मुनि बिज्ञानी। जाचहिं भगति सकल सुख खानी॥"

यहाँ पर रामचरित मानस के आधार पर तुलसी-दर्शन में अद्वैत दर्शन की एक झलक संक्षेप में प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है।

———

रामचरित मानस का जीवन-दर्शन

रामजी पाण्डेय
पुराण विभाग, का० हि० वि० वि०

वैसे तो श्री रामचरित-मानस आज के भारतीय समाज में, विशेषकर हिन्दू समाज में एक धर्म-ग्रन्थ के रूप में अधिक प्रतिष्ठित होता जा रहा है और ऐसा होना उसके महत्त्वपूर्ण समाजिक प्रतिष्ठा का परिचायक ही है किन्तु समाज का मानस के प्रति यह एकाङ्गी दृष्टि कोण कभी भविष्य में रूढ़ होकर उसकी समग्रता के लिए बाधक सिद्ध होगा ऐसा अनुमान लगाना अप्रत्याशित नहीं है। साधु-सन्तों द्वारा आध्यात्मिक वा उपासना पद्धति के किसी एक उद्देश्य की फल प्राप्ति के लिए वा सामान्य जनता द्वारा किसी विशिष्ट सिद्धि के लिए चल रहे रामचरित मानस के सामाजिक विनियोग आगामी कुछ ही दशकों में उसे एक धार्मिक ग्रन्थ के रूप में प्रतिष्ठित कर पूजा पद्धति का एक ग्रन्थमात्र बना कर छोड़ेंगे ऐसा स्पष्ट रूप से दीखने लगा है। वस्तुतः ऐसी सामाजिक आस्था मानस के प्रति समादर भावना का द्योतक तो है पर उसकी व्यापकता के बोध के लिए घातक है। मानस भारतीय समाज, धर्म और दर्शन का वह समन्वयात्मक परिपूर्ण ग्रन्थ है जिसकी समग्रता का अनुभव व्यक्ति को समाज में एक महामानव, धार्मिक एवं अध्यात्मिक क्षेत्र में मानव से देव यहाँ तक कि परब्रह्मभाव में प्रतिष्ठित करने में समर्थ है। भारतीय-दर्शन में मानव जीवन को एक विशिष्ट दृष्टि से देखा गया है जिसका स्वरूप केवल भौतिक ही नहीं अपितु अध्यात्म की सुदृढ़ नींव पर प्रतिष्ठित है। जीवन के प्रति एक विशिष्ट आस्था प्रकट की गई है जहाँ इसे हाड़-मांस का एक संघात न मानकर भगवान् के निवास का एक सुन्दर प्रतिष्ठान माना गया है जिसकी उपलब्धि मानव जीवन की सबसे बड़ी सिद्धि मानी गई है ऐसे विशिष्ट मानव जीवन को प्राप्त कर हम अपने इस बहुमूल्य रत्न का उपयोग उचित दिशा में नहीं कर पाते तो वह हमारे लिए अत्यन्त शोचनीय है। भागवतकार लिखते हैं कि सुदुर्लभ मनुष्य शरीर को पाकर ईश्वर कृपा से विभूषित यह मानव यदि इस संसार सागर से पार नहीं उतर जाता तो वह 'आत्महा' है। गोस्वामी जी ने भी इसे अविकल रूप में अनूदित कर हमारे संमुख रखा है।

नृदेहमाद्यं सुलभं सुदुर्लभं प्लवं सुकल्पं गुरुकर्णधारम्।
मयानुकूलेन नभस्वतेरितं पुमान् भवाब्धिं न तरेत् स आत्महा ॥

भा०, ११।२०।१७

बड़े भाग मानुष तनु पावा। सुर दुर्लभ सब ग्रंथन्हि गावा ॥
साधन धाम मोच्छ कर द्वारा। पाइ न जेहिं परलोक सँवारा ॥
सो परत्र दुःख पावइ सिर धुनि धुनि पछिताइ।
कालहि कर्महि ईस्वरहि मिथ्या दोस लगाइ ॥
एहि तन कर फल विषय न भाई। स्वर्गउ स्वल्प अन्त दुखदाई ॥
नर तनु पाइ विषयँ मन देहीं। पलटि सुधा ते सठ विष लेहीं ॥

ताहि कबहुँ भल कहइ न कोई। गुंजा ग्रहइ परस मनि खोई॥
आकर चारि लच्छ चौरासी। जोनि भ्रमत यह जीव अविनासी॥
फिरत सदा मायाकर प्रेरा। काल कर्म सुभाव गुन घेरा॥
कबहुँक करि करुना नर देही। देत ईस बिनु हेतु सनेही॥
नर तनु भव वारिधि कहुँ बेरो। सन्मुख मरुत अनुग्रह मेरो॥
करनधार सद्‌गुरु दृढ़ नावा। दुर्लभ साज सुलभ करि पावा॥
जो न तरै भवसागर नर समाज अस पाइ।
सो कृतनिन्दक मन्दमति आत्माहन गति जाइ॥
उत्तर। ४३-४४

वस्तुतः मानवजीवन प्राप्त कर इससे क्या प्राप्त करना है ? यह समस्या वैदिककाल से लेकर आज तक हर दर्शन और धार्मिक ग्रन्थों के परिपेक्ष्य में उठायी गयी है। उपनिषद् में यह बात कही गई है कि यदि इस मानव जीवन को प्राप्त कर हमने उस परमात्म वस्तु को प्राप्त कर लिया तो इससे बढ़कर कल्याण की और कोई बात हो नहीं सकती और यदि उसे नहीं जान पाए तो इससे बढ़कर हमारा विनाश भी और कुछ दूसरा नहीं। मनुष्य के लिए कल्याण का मार्ग यही है कि उस अविनाशी तत्व को जानकर अमृतत्व की प्राप्ति करे —

इह चेदवेदीदथ सत्यमस्ति न चेदिहावेदीन् महती विनष्टिः।
भूतेषु भूतेषु विचित्य धीराः प्रेत्यास्माल्लोकादमृता भवन्ति॥

वस्तुतः उस परमतत्त्व की प्राप्ति या उसका जीवन के अनुभव में आ जाना ही इस जीवन की परम सफलता है। मानस की अन्तिम मूल बातों में यही संकेत किया गया है—

सबकर मत खगनायक एहा। करिय राम पदपंकज नेहा॥
साधक सिद्ध विमुक्त उदासी। कवि कोविद कृतज्ञ संन्यासी॥
जोगी सूर सुतापस ग्यानी। धर्म निरत पण्डित विज्ञानी॥
तरहिं न बिनु सेएँ मम स्वामी। राम नमामि नमामि नमामी॥ उ० १२४

यदि जीवन प्राप्ति का लक्ष्य भगवत्प्राप्ति है तो फिर व्यक्ति व्यामोह मे इतस्ततः भटकता क्यों है ? इसका स्पष्ट कारण यह है कि आज के व्यक्ति का, या जिसको भी अतीत में भ्रम वा मोह हुआ है उसका लक्ष्य उसको स्फुट नहीं था क्योंकि व्यक्ति का संपूर्ण प्रयत्न अपने उद्देश्य की सिद्धि के लिए होता है 'प्रयोजनमनुद्दिश्य मन्दोऽपि न प्रवर्तते' मन्द भी प्रयोजन के बिना किसी कर्म में प्रवृत्त नहीं होता। इससे ज्ञात होता है कि व्यक्ति की प्रत्येक क्रिया के पीछे छिपा हुआ उसका उद्देश्य होता है। संसार में क्रिया व्यापार तो होता है पर किस उद्देश्य से होता है यह बताना कठिन है क्योंकि उसके मनोरथों का अन्त नहीं। एवं व्यक्ति को आज ईश्वर की प्राप्ति की उतनी ऊची अभिलाषा नहीं रह गई है जितना उसको अर्थ की अतृप्ति है। अर्थ सांसारिक विषयों को मनुष्य के भोग के लिए प्रस्तुत करता है अतः अर्हणीय है। सामान्य व्यक्ति विषयों के मिठास में इस प्रकार भूला हुआ है कि उनके कडुआपन का उसे जीवन के अन्त तक बोध नहीं हो पाता। गोस्वामी जी से भी लोगों ने पूछा—महाराज ! विषय तो हम लोगों को अति मीठे

लगते हैं गोस्वामी जी ने कहा वैसे विषय तो स्वभाव से दुःखदायी एवं कड़ुए होते हैं यदि तीती चीज मीठी लगती है तो उसे क्या कहा जाय। सोचो, नीम की पत्ती स्वभावतः तिक्त गुणवाली होती है पर यदि सर्प ने काट लिया है तो वह मीठी लगने लगती है। इसी प्रकार यदि विषय मीठे एवं रुचिकर लगते हैं तो इसका अर्थ है कि काम रूपी भुजङ्ग ने आप लोगों को डँस लिया है।

विष निम्ब कटु मीठे लागतकाम भुजङ्ग डँसे।

वस्तुतः प्रेम तो राम से होना चाहिए किन्तु हम लोगों का प्रेम काम से हो गया है। अर्थ उसका सहायक है अतः वह भी प्रिय है। जीवन में किसकी प्रतिष्ठा हो इसका निर्णय हम नहीं कर पाते। हम अपने हृदय में राम को बैठावें या काम को एक समस्या है। इसका निर्णय बड़े-बड़े ज्ञानियों को भी करना कठिन हो जाता है। नारद-मोह के वर्णन प्रसङ्ग में गोस्वामी जी ने इसका समुचित समाधान कर दिया है। काम अपनी सुन्दरता के बल पर समष्टि के अहंकार देवाधिदेव महादेव की समाधि भङ्ग करने की चेष्टा करता है। योगीराज से काम की चेष्टाओं का क्या प्रयोजन? एवं यदि प्रयोजन भी रहता तो सीधी प्रार्थना पर स्वीकार्य भी होता किन्तु कुचेष्टा और बलात् क्षोभ के परिणाम स्वरूप काम-दहन हुआ और पार्वती ऐसी रूपवती को भी रूप के माध्यम से शिव को अपने वश में करने के बजाय तपस्या से वशीभूत करना पड़ा। काम अनङ्गबना किन्तु उसकी परिव्याप्ति संपूर्ण विश्व में रही। क्रोधावेश में किसी वस्तु के प्रतिकार से उस पर अधिकार या उसकी सत्ता का लोप नहीं किया जा सकता। इसीलिए शिव द्वारा जलाए जाने पर भी उसकी सत्ता सृष्टि में बनी रही। नारद की तपस्या से इन्द्र के मन में भय उत्पन्न होने पर काम ने अपने आपको दूसरे के परोपकार में एक बार फिर समर्पित कर दिया। नारद ने सोचा काम को जलाकर नहीं अपितु उसे संरक्षण प्रदान कर प्रेम से वश में किया जा सकता है और साथ ही काम और क्रोध दोनों पर विजय प्राप्त हो जायगी। हुआ भी ऐसा ही। नारद विजयी हुए—

कामकला कछु मुनिहि न ब्यापी।
निज भय डरेउ मनोभव पापी॥
सुनि सबके मन अचरज आवा।
मुनिहि प्रसंसि हरिहि सिरुनावा॥

नारद द्वारा काम की विजय अवश्य ही महत्वशालिनी थी किन्तु मानवमन ऐसा सुकोमल है कि विकृतियाँ उसे कहीं न कहीं से अवश्य पकड़ लेती हैं। काम और क्रोध के विजेता को अहंकार ने पकड़ लिया और इस अहंकार की ही सफाई में नारद को घोर कष्ट उठाना पड़ा। इस प्रसङ्ग में हम नारद के विनाश तक की स्थिति को देखते हैं किन्तु भगवान् की कृपा से वे बँच पाते हैं क्योंकि उन्होंने अपना संरक्षक भगवान् को चुना था।

**मोरे हित हरि सम न हि कोऊ।
एहि अवसर सहाय सोइ होऊ॥**

भगवान् की संरक्षता में कोई भय नहीं क्योंकि उनके सहायक होने पर कौन वालबाँका कर सकता है—

सीम कि चाप सकइ कोइ तासू।
वड़ रखवार रमापति जासू॥

आशय यह है कि जीवन में भगवान् की प्रतिष्ठा ही गोस्वामी जी का भी मुख्य प्रयोजन दीखता है। भगवान् यदि साथ है तो व्यक्ति का सवविध कुशल है किन्तु जीवन के मूल में वह सत्ता प्रतिष्ठित नहीं है तो यह छोटी सी नौका भयानक संसार समुद्र में कितनी देर तक चलेगी कहा नहीं जा सकता। भक्त के जीवन का सवसे वड़ा संवल यही होता है कि विपत्तियों में उसके लिए एक सुदृढ़ संवल भगवान् का रहता है इसलिए वह सवका परित्याग कर भी एक भगवान् के सहारे अपना जीवन निर्वाह करता है।

श्रुति परम्परा में यह वात स्पष्ट कही गई है कि यदि मृत्यु से पार जाना है तो उस परमात्मा को जाने विना और कोई दूसरा रास्ता मुक्ति का नहीं—

तमेव विदित्वाति मृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय।

यहाँ जीवन संवन्धी दो वातें मुख्य रूप से प्रतिष्ठित हैं एक तो परमात्म प्राप्ति और दूसरा मृत्यु का अतिक्रमण। परिस्थिति यह है कि आज के इस भौतिकयुग में हम भगवान् की सत्ता पर भले ही विश्वास न करें किन्तु मृत्यु की सत्ता को चुनौती देने का साहस हम में से किसी को नहीं। संसार के वड़े से वड़े व्यक्ति के मन में भी मृत्यु जनित उत्पीडन का भय वना है और वह इससे संत्रस्त है। इस मृत्यु के ऊपर विजय कैसे हो यह अध्यात्म जगत् के लिए तो सदा चुनौती रही है आज के विज्ञान के लिए भी एक महान् चुनौती है जिसका समाधान उसके पास अवतक नहीं है। मरणवर्मा को मृत्युंजय वनाने की मन्त्र-शक्ति केवल आर्य संस्कृति में ही रही है और वह आज भी अक्षुण्ण रूप से विराजती है जिसकी मानव द्वारा साधना अपेक्षित है। ऐसे परमात्म तत्त्व का बोध किए विना संसार का संपूर्ण ज्ञान-विज्ञान व्यर्थ है। मनुष्य को कोई भी वस्तु मृत्यु की विभीषिका से बँचा नहीं सकती। किन्तु प्रश्न है कि इस महान् साधना का साधक कौन महापुरुष वनना चाहता है। काल की सत्ता को चुनौती देने वाले सहसवाहु, रावण आदि राजे कव के इसके कराल मुख में चले गए हैं यह कौन जानता है—

सहसवाहु दससीस आदि नृप वचे न काल बली ते।

यदि ऐसी क्षणभङ्गुरता और परवशता मानव जीवन की है तो इससे किस उद्देश्य की सिद्धि व्यक्ति प्राप्त करे इसका निर्णय करना सामान्य व्यक्ति के लिए तो दुःसाध्य है ही वड़े-वड़े विचारकों के लिए भी चिन्तनीय है। इसीलिए भारतीय जीवन दर्शन में संसार को असार मानते हुए भी उसकी सत्ता का कभी अपलाप नहीं किया गया और भावना के ऊँचे धरातल पर तो इसे ईश्वर का स्वरूप ही माना गया। मानव में व्यष्टि-भाव को विश्व रूप में प्रतिष्ठित कर उसे विश्वरूप वना देना भारतीय दर्शन की महत्वपूर्ण उपलब्धि रही है। विष्णु के रूप में सकल प्रपञ्च को देखने वाला स्वयं भगवत्स्वरूप ही होता है—

सकलमिदमहं च वासुदेवः
परमपुमान् परमेश्वरस्स एकः ।
विष्णु, ३।७।३२

गोस्वामी जी ने भी इस सत्य का दर्शन किया था जो उनकी निम्न अर्धालियों में दृष्टगत होता है—

सीय राम मय सब जग जानी । करौं प्रणाम जोरि जुग पानी ।।

सबको भगवत्स्वरूप में देखना, प्राणिमात्र उस परमात्मा से ओत-प्रोत है इस प्रकार की भावना ही विश्व को मंगलमय बना सकती है अन्यथा इसके उत्पीड़न को दूर करने का कोई दूसरा रास्ता नहीं। विरोध का शमन बिना इस भावना के संभव नहीं क्योंकि अपने इष्ट से किसी व्यक्ति का विरोध कैसा ?

उमा जे राम चरनरत बिगत काम मद क्रोध ।
निज प्रभुमय देखहि जगत केहि सन करहि बिरोध ।।
उ०।११२

विरोध की भावना मुख्यतः मनुष्य के रागात्मक संबन्धों से उसमें विघ्न पड़ने पर आती है। आपत्तियों के मूलकारण काम क्रोधादि षड्विकार हैं। बिना इन विकारों को छोड़े ईश्वरतत्व की जीवन में प्रतिष्ठा नहीं हो सकती। अहंता और ममता दोनों का त्याग देवत्व की भूमिका के लिए आवश्यक है और इसी का छोड़ना व्यक्ति के लिए दुर्लभ है। जीवन को सुखी एवं समृद्ध बनाने के लिए उसमें ईश्वरत्व की प्रतिष्ठा आवश्यक है। राम और रावण का संघर्ष केवल दो इकाईयों का सत्ता के लिए जय-पराजय मात्र का इतिहास नहीं। संघर्ष मुख्यतया राम रावण का नहीं रामत्व और रावणत्व का है। प्रश्न है कि जीवन में किसकी प्रतिष्ठा हो रामत्व की या रावणत्व की। रावण की जीवन सरणी से ही मुख्यतया स्वामीं जी का विरोध है—एवं वह इसलिए गर्हित है कि उससे किसी वर्ग विशेष की भले ही आंशिक तृप्ति दिखाई पड़े किन्तु संपूर्ण विश्व यदि उससे संत्रस्त है तो अच्छी से अच्छी वस्तु भी वाञ्छनीय नहीं है और वह पद्धति गर्ह्य है। यही विरोध का मुख्य कारण रहा। रामराज्य की कल्पना इतनी ऊँची थी जिसकी पूर्ति आजतक एक स्वप्न ही बनी हुई है। भगवान् राम का यह व्यवहार ही था कि उनके राज्य पर बैठते ही दुःख नाम की चीज ही संसार से उठ गई—

रामराज बैठे त्रैलोका । हर्षित भए गए सब सोका ।।
बैर न कर काहू सनकोई । राम प्रताप बिसमता खोई ।।

+ + +

दैहिक दैविक भौतिक तापा । रामराज काहू नहिं व्यापा ।।

इस राज्य की प्रतिष्ठा में महान् त्याग था। भगवान् राम स्वयं त्याग की मूर्ति थे एवं उनसे भी महान् त्याग था श्रीभरत का जिन्होंने इस राज्य की आधार शिला रखी। इस प्रकार आपने त्यागमय जीवन से दूसरे का हृदय जीतकर इसकी स्थापना हुई थी। रामराज्य में व्यक्ति के शरीर पर नहीं अपितु उसके हृद पर शासन था फिर परिशुद्ध हृदय में किसी

धर्मशास्त्र की आवश्यकता ही नहीं थी। सब लोग स्वयं अपनी शीलता से नियंत्रित थे। किन्तु शास्त्र, परम्परा एवं सामाजिक अनुशासन की मान्यता सबके लिए शिरोधार्य थी। सिद्धकोटि की स्थिति में पहुंचा हुआ व्यक्ति भी अपनी साधना से विरत नहीं था यद्यपि उसे इन औपचारिकताओं की कोई आवश्यकता नहीं थी किन्तु फिर भी वह गुरु की अनुज्ञा पूर्वक ही कार्य करता था—

आयसु होइ त रहौं सनेमा। बोले मुनि तन पुलकि सपेमा॥
समुझब कहब तात तुम्ह जोई। धरम सार जग होइहि सोई॥

अयो०, २२३।

व्यक्ति उस समय इतना महान् था कि जो कुछ करता था वह स्वयं धर्मशास्त्र बन जाता था। इस प्रकार जीवन केन्द्र में व्यक्ति और समष्टि का वह संतुलित और समन्वित रूप उस समय प्रस्तुत था जिसके परिपेक्ष्य में मानवता का पूर्ण विकास एवं व्यष्टि सत्ता पूर्णतः ईश्वर के प्रति समर्पित थी। पूर्ण समर्पण में जो सुख और आनन्द है वह अन्यत्र नहीं। मानस के प्रत्येक पात्र में अपने आराध्य देव के प्रति समर्पण की भावना उसकी निजी सम्पत्ति है जिसे वह सजोकर रखता है। अङ्गद, विभीषण, सुग्रीव आदि की शरणागति के पीछे यही भावना छिपी है। यह ध्रुव सत्य है कि जिस दिन व्यक्ति का उस महान् सत्ता से तार कट जाता है उसी दिन वह विनष्ट हो जाता है। गोस्वामी जी का मीराजी को लिखा गया प्रसिद्ध पद ध्यान देने योग्य है।

जाके प्रिय न राम बैदेही।
तजिये ताहि कोटि वैरी सम यद्यपि परम सनेही॥

व्यक्ति के सम्पूर्ण सम्बन्धों का मूल केन्द्र भगवान् राम हैं। उनके नाते से उसका सब कुछ है। भक्त को सब कुछ प्रिय भगवान के नाते हैं। वह भगवदीच्छा से स्वर्ग नरक कहीं भी निवास करने के लिए तत्पर रहता है—

जेहि जोनि जन्मौ करम बस तँह रामपद अनुरागऊँ। कि० १०।
राउरि बदि भल भव दुख दाहू। प्रभु बिनु बादि परम पद लाहू॥

प्रभु की कृपा को छोड़कर उसे कुछ भी नहीं चाहिए। गोस्वामी जी ने स्वयं यह अभिलाषा निम्न पद्यों में व्यक्त किया है—

कामु से रूप प्रताप दिनेसु से, सोम से सील, गनेसु से मानें।
हरिचंदु से साँचे बड़े विधि से, मघवा से महीप, विषै सुख-साने
सुकसे मुनि सारद से बकता, चिरजीवन लोमस से अधिकाने।
ऐसे भए तौ कहा तुलसी, जो पै राजिव लोचन रामु न जानें॥

\+ \+ \+

सिय राम-सरूप अगाध अनूप, बिलोचन मीनन को जलु है।
श्रुति रामकथा, मुख रामको नामु, हिए पुनि रामहि को थलु है॥
मति रामहि सों, गति रामहि सों, रति रामसों रामहि को बलु है।
सबकी न कहै, तुलसी के मतें इतनो जगजीवन को फलु है॥ कवितावली

गोस्वामी जी का मानव समाज को यह अमर संदेश युग-युग तक मानवता को प्रेरित करता रहेगा इसमें संदेह नहीं। आवश्यकता इस बात की है इस सनातन परम्परा की मणि का उपयोग हम कैसे करते हैं। जीवन का संतुलन तब तक ठीक नहीं हो सकता जब तक भौतिकता और अध्यात्म, व्यक्ति और समाज, भोग और विराग त्याग और संचय का परस्पर मेल न हो। किसी एक छोर की अतिशयता व्यक्ति की उन्नति में बाधक है इसीलिए सबके समन्वय से प्राचीन और नवीन को साथ लेते हुए जीवन में ईश्वरत्व की प्रतिष्ठा और उसकी प्राप्ति ही मुख्य लक्ष्य है इसकी प्राप्ति चाहे जिस विधि से हो वह सराहनीय है। शास्त्रों में प्रतिपादित विधि से सरल एवं सुगम कोई विधि हों तो वह सदा ग्रहणीय है उसका स्वागत है। भागवत्कार ने लिखा है—

तस्मात् केनोपायेन हृदिस्थं कुरु केशवम् ।

व्यक्ति जिस प्रकार से अपने आप को भगव.न् का बना सके वही मार्ग उसके लिए श्रेयस्कर है। आशा है हम इस सरणी पर चलकर अपना कुछ कल्याण कर सकें यही भगवान् से प्रार्थना है।

———

'मानस में भक्ति'

विद्या गुप्ता
रीडर, हिन्दी विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय

"नाना पुराणनिगमागमसम्मतं" राम कथा जिसका श्रवण-मनन-चिन्तन एवं कीर्तन मानव कल्याण का सुघृढ़ सोपान है, तुलसी का काम्य है, लक्ष्य है और है इसी राम-कथा के गुण-गान में तुलसी की मनस्तुष्टि। यह आत्म सुख संकीर्णता का नहीं व्यापक लोक-कल्याण की भावानुभूति का अक्षय स्रोत है। इसीलिए तो राम-कथा को लोक-हृदय तक पहुंचाने के लिए, जन जन का मानसहार बनाने के निमित्त तुलसी ने लोक-भाषा का ही अवलम्ब लिया है। अगाध पांडित्य होने पर भी दर्शन की सूक्ष्म विवेचन बुद्धि से परिपुष्ट भक्त प्रवर मतमतान्तरों की कुहेलिका के मायाजाल में अपने पाठकों को दिग्भ्रान्त न कर अत्यन्त सहज भाव से—"सगुनहिं अगुनहिं नहिं कछु भेदा"[1] अथवा "नाम रूप दुइ ईस उपाधी"[2] कह कर अपने मत को स्पष्ट करते हैं।

सम्पूर्ण मानस में विभिन्न वर्ग के ज्ञानी-अज्ञानी इसी प्रश्न को सुलझाने में लगे हैं। मुनिगण जो राम को अकुल, अनीह, ब्रह्म आदि कहते हैं, वे भी रामगुणगान में लीन हैं। पार्वती का प्रश्न है—

'जौ नृप तनय त ब्रह्म किमि नारि विरह मति भोरि॥'[3] और यही प्रश्न था जो सती के चित को विक्षुब्ध कर गया। इसी व्यामोह के कारण उन्हें शरीर त्यागना पड़ा।

"अगुन अरूप अलख अज जोई। भगत प्रेम बस सगुन सो होई।"[4]

यह है उस रामावतार की कथा जो तुलसी की मानस-कल्लोलिनी है। इस सतत पीयूष-वर्षिणी मानस स्रोतस्विनी के तट पर पहुंचने एवं अवगाहन सुख की प्राप्ति करने में विमल हृदय लोग ही समर्थ हैं। तुलसी ने अपने मत की

"अति खल जे विषयी बग कागा। एहि सर निकट न जाहिं अभागा।[5]

कह कर एक विस्तृत रूपक द्वारा पुष्टि की है। उनका यह मत विमल-बुद्धि का सुफल है।

इस परम हितकारिणी कथा के मानस के चार घाटों के सदृश ही चार वक्ता हैं। भक्त-शिरोमणि शिव पार्वती को यह कथा सुनाते हैं, याज्ञवल्क्य भरद्वाज मुनी को, काग भुशंडि गरुड़ को एवं भक्त प्रवर तुलसीदास जन-समुदाय को।

"हरि अनंत हरि कथा अनंता।"[6]

के अनुसार विविध कारणों से होने वाले रामावतारों के प्रसंग में अनेक आनुषंगिक कथाएँ

---

[1] राम चरित मानस (गीता प्रेस, गोरखपुर) दोहा ११५-१।
[2] वही, बाल० २०-२। [3] वही, दोहा १०८। [4] वही, बाल० ११५-२।
[5] राम० बाल० ३७-३। [6] वही, दोहा १३९-५।

आयी हैं। अहल्या, शबरी, जटायु एवं अनेक असुर व आसुरी राम की अगाध शक्ति के परिचायक हैं और 'राम-चरण-रति' के साथ राम भक्ति को सुदृढ़ करने के साधन हैं।

"निगमनेति सिव अन्त न पावा।"[1]

ऐसे अकल, अनीह, ब्रह्म के स्वरूप को वैदिक ऋषियों ने वर्णनातीत समझ कर ही "नेति नेति' कह कर मौन धारण कर लिया। किन्तु वही अगम्य सत्ता—

"प्रेम भगति बस कौसल्या के गोद"[2]

में शिशु क्रीड़ा करती हुई दृष्टिगोचर होती है। यह शिशु-लीला भक्ति मन्दाकिनी में पुष्पित वह स्वर्ण कमल है, देवोद्यान का कल्पतरू है एवं वह आनन्द-उदधि है जिसकी भावोर्मियों से भक्त-हृदय आन्दोलित रहता है।

इष्ट के प्रति उपासक का पूर्ण समर्पण भाव ही उसके नयनों से मोहान्धकार को हटा कर दिव्य सत्ता का आलोक प्रदान करता है। जब तक भौतिक सुखों में आसक्ति बनी रहती है तब तक बड़े से बड़े ज्ञानी को भी भ्रम संभव है। मानसकार अनेक रूपकों के सहारे अनेक कथाओं के द्वारा बार-बार इस सत्य को दोहराता है। रामावतार दुष्ट-दनुज-दलन के लिए है। वही अनाम, निरंजन अनेक नामों से अनेक रूपों में भक्तिवश लोक-कल्याण के लिए विचरण करता है। स्वर्णलूता के सदृश माया के विस्तार द्वारा सृष्टि का विस्तार एवं संहार उसकी इच्छा के प्रतिफल हैं। जीव अज्ञानवश भ्रमित है। कवि ने इस सांख्य दर्शन को राम-कथा के माध्यम से अत्यन्त सुगमता-पूर्वक पाठकों को हृदयंगम कराने की चेष्टा की है।

"उभय बीच श्री सोहति कैसे। ब्रह्म जीव बिच माया जैसे॥"[3]

कह कर बतलाया है कि राम ब्रह्म हैं, सीता माया हैं जिनके कारण लक्ष्मण रूपी जीव अपने चिन्मय रूप को विस्मृत कर भौतिक लीला में आलिप्त है। इसी अज्ञान से द्वैत बुद्धि उत्पन्न होती है और इसी के कारण साधारण मोहग्रस्त जीव की कौन कहे बड़े बड़े भक्त-साधक भी सन्देह-ग्रस्त हो उठते हैं। तपस्या-रत मनु-सतरूपा ने भगवान से वर मांगा था कि राम उन्हें पुत्र रूप में प्राप्त हों। दशरथ और कौशल्या के रूप में जब वही कामना फली-भूत हुई तो कौशल्या उस चतुर्भुज रूप को देख सन्देह-ग्रस्त हो उठती हैं—

"मम उर सो वासी यह उपहासी सुनत धीर मति थिर न रहे।"[4]

और "कीजै सिसु लीला" का आग्रह विगत मोह होने पर करती हैं।

जीव की द्वैत बुद्धि के कारण यह मोहाच्छन्न स्थिति ऐसी ही है जैसे—

"पुरइन सघन ओट जल बेगिन पाइय मर्म।
मायाच्छन्न न देखिए जैसे निर्गुण ब्रह्म।"[5]

---

[1] वही, बाल० २०२-८।
[2] वही, बाल० दोहा १९८।
[3] राम० अरण्यकाण्ड दोहा ६—३
[4] वही, बालकाण्ड दोहा १९१-छंद-२-२
[5] राम० अरण्यकाण्ड, दोहा ३९ क

मानस के पात्र बहुधा ही संशय-ग्रस्त हो उठते हैं। जगदम्बा जानकी जो ब्रह्म की शक्ति हैं जिनकी सहायता से व्यापक, विश्वरूप भगवान सृष्टि का विकास कर लीला करते हैं, माया-मृग प्रसंग में मोह-ग्रस्त हो लक्ष्मण से अग्रज की सहायता के लिए शीघ्र गमन करने का अनुरोध करती हैं। लक्ष्मण सीताजी को कातरता पर मुस्कुराते हैं—

"भृकुटि विलास सृष्टि लय होई। सपनेहुँ संकट परै कि सोई।।"[१]

सती, कौशल्या, परशुराम, भरद्वाज, कागभुशुण्डि आदि सभी विशिष्ट पात्रों की यह मोहाच्छन्न स्थिति एकाधिक बार मानस के कथा प्रवाह में परिलक्षित है। निर्भ्रान्त साधकों में शिव, भरत और लक्ष्मण हैं। रावण की तामसिक दृष्टि में राम और सीता के प्रति संदेह बना हुआ है। वह उनके ब्रह्मत्त्व की परीक्षा है एवं शूर्पणखा के अपमान का बदला लेने के[२] लिए सीता का हरण करता है और विभीषण, मन्दोदरी, वृद्ध मन्त्री माल्यवंत आदि सभी के सत्परामर्श को अवज्ञा भाव से ठुकरा देता है। उसके मत में नर-वानरों की सामूहिक शक्ति तृणवत् है। वह उपहासपूर्वक कहता है—

"गृह बैठे अहार विधि दीन्हा।"[३]

मानसकार ने निर्गुण सगुण का विवेचन करते हुए भक्ति मार्ग को सर्वजनीन हित का साधन बतलाया है। भक्ति-मार्ग वह राजमार्ग है जिस पर सभी निर्भ्रान्त मन से अग्रसर हो सकते हैं। किन्तु "ज्ञान-पंथ कृपान कै धारा"[४] के समान दुर्गम है। प्रत्येक साधक इस पर चल सके, यह असंभव है। मानस में वर्णित सभी पात्र सगुण ब्रह्म में आस्था रखते हैं। "चिदानन्द सुख धाम सिव" जो ज्ञान विज्ञान रूप हैं, मोहातीत विराग-स्वरूप हैं सगुण दर्शन के लिए सर्वत्र उत्सुक हैं, मायातीत हैं वे शिवजी ज्ञानी भक्त हैं। तुलसी ने इन्हीं को लक्ष्य कर कहा है—

"ज्ञानी प्रभुहिं विसेष पियारा।"[५]

किन्तु ऐसे ज्ञानी शिव भी जब रामावतार से अवगत होते हैं तो छद्म वेष में काग भुशुंण्डि के साथ मनुज रूप धारण कर अयोध्या में विचरण करते हैं। इससे सगुण मार्ग की महत्ता स्पष्ट हो जाती है। फिर भी सगुण मार्ग के एकनिष्ठ अनुयायी, सगुण भक्ति के तत्वज्ञ, विवेचक, आराधक एवं प्रचारक तुलसी, भक्ति सरिता में आकंठ निमज्जित होते हुए भी निर्गुण का विरोध नहीं करते। परम ज्ञानी शिव को निर्गुण सगुण का सम्यक् विवेचक दिखला कर वह एक समन्वयात्मक दृष्टिकोण उपस्थित करते हैं। "जोग ज्ञान वैराग्य निधि" शिव राम को नर रूप में लीला करते देख

"जय सच्चिदानंद जग पावन।"[६]

कह कर आत्मविभोर हो उठते हैं। संभवतः इसी तथ्य को लक्ष्य कर तुलसी ने

---

१ वही, अरण्यकाण्ड, दोहा २७–४
२ वही, अरण्यकाण्ड, दोहा २२–४
३ वही, लंकाकाण्ड, दोहा ३९–४
४ वही, उत्तरकाण्ड, दोहा ११८–१
५ राम० बालकाण्ड, दोहा २१-७।
६ वही, „ दोहा ४९-३।

भगतिहिं ज्ञानिहिं नहिं कछु भेदा ।"[1]

कहा तो अन्यत्र "निर्गुण रूप सुलभ अति सगुन जान नहिं कोय ।"[2] की प्रहेलिका पाठक के सम्मुख उपस्थित कर दी है। तुलसी का अभिप्रेत यही हो सकता है कि प्रवृत्ति-भेद से भक्त आराध्य के निर्गुण या सगुण रूप को ग्रहण करता है। शिव के लिए निर्गुण सगुण ब्रह्म के दोनों स्वरूप ही हस्तामलकवत् हैं, उनमें भेद अज्ञानमूलक है किन्तु तत्व-चिन्तक ऋषि लोमष को ब्रह्म का अकल, अनीह, अनाम चिन्तन ही अभिप्रेत है। ऋषि की निर्गुण निष्ठा एवं शिष्य की सगुण साधना का फल हुआ गुरु का शिष्य की हठवादिता के प्रति आक्रोश एवं श्राप। गुरु के शापानुसार शिष्य कागरूप में परिवर्तित हो सगुण रूप राम का गुण-गान कर परमानन्द की प्राप्ति करता है।

इस भगवत्-भक्ति की प्राप्ति के लिए गुरु-कृपा परमावश्यक तत्व है। गुरु ही ज्ञानांजन द्वारा भौतिक आकर्षणों से मोहान्ध प्राणी को प्रकाश दे सकता ह। तुलसी को विषय-विकार से गुरु-कृपा से ही निष्कृति एवं दिव्य दृष्टि प्राप्त हुई। तुलसी ने ग्रंथारम्भ में गुरुकी पाद-वंदना की है—

"बंदउँ गुरु पद कंज कृपा सिंधु नर रूप हरि ।
महामोह तम पुंज जासु वचन रवि कर निकर ।।"[3]

इस गुरु महिमा का तुलसी ने यथावसर गुणगान किया हैं। मानस की रचना भी विमल बुद्धि गुरु की कृपा का प्रसाद है।

गुरु-महिमा अपार है। वह जड़ बुद्धि जिज्ञासु के अन्तःकरण से शंकाओं के तिमिर-जाल को दिनकर के प्रकाश के समान विच्छिन्न कर आलोक वर्षण करती है। वह एक ऐसी शक्ति है जो मस्तिष्क पर छाए सभी विकारों को, मन की मोह-ग्रस्त अवस्था को सहज ही हरण करने में समर्थ है—

"राम-कथा सुन्दर कर तारी । संसय विहग उड़ावन हारी ।।"[4]

तुलसी नाम-गुण-गान को भक्ति मार्ग का प्रथम सोपान मानते हैं। शिव जैसे ज्ञानी निरंतर नाम का जाप करते हैं। तुलसी इस सत्य से अवगत हैं अतः उन्होंने कहा है—

"साधक नाम जपहिं लय लाये । होंहि सिद्ध अनिमादिक पाये ।।"[5]

नाम का महत्व इतना है कि उसे 'ब्रह्म राम तें बड़' कहकर मानसकार ने यथावसर उसके महत्व को कथा-प्रसंग में दोहराया है। ज्ञानी भक्त से लेकर जिज्ञासु आर्त्त एवं अर्थार्थी सभी के लिए यह कल्पतरुवत् है। इस नाम को प्रेम, रोष, इच्छा, अनिच्छा किसी भी प्रकार क्यों न स्मरण करें, फल वही है—

"भाय कुभाय अनख आलस हूं । नाम जपत मंगल दिसि दस हूं ।।"[6]

---

[1] वही, उत्तरकाण्ड, दोहा ११४-१३ ।
[2] वही, उत्तरकाण्ड दोहा ७३ (ख)।
[3] राम० बालकाण्ड, दोहा० सोरठा-५
[4] वही, बालकाण्ड दोहा ११३-१
[5] वही, ,, दोहा-२१-४
[6] राम०, बालकाण्ड दोहा २७-१।

भक्त-प्रवर काग-भुशुंडि जी राम की प्राकृत लीला का सान्निध्य सुख प्राप्त करने के लिए 'लघु वायस' रूप में उनकी वाल-क्रीड़ाओं के सहचर बनते हैं —

"किलकत मोहि धरन जब धावहिं । चलउँ भागि तब पूप दिखावहिं ।।'

मन में सन्देह जागता है—क्या ये चिदानन्द भगवान हैं ? मन का सन्देह क्या लीला-प्रभु से अनवगत रह सकता है ? अपनी शक्ति से वे जब काग के हृदय का मोहावरण चीर देते हैं तब भक्ति-विह्वल शरणागत काग से वे वर मांगने को कहते हैं जो मुनि-दुर्लभ तत्व हैं ।

"ज्ञान विवेक विरति विज्ञाना । मुनि दुर्लभ गुन जे जग नाना ।।"[२]

वह काग के लिए सहज सुलभ है किन्तु भक्त-हृदय ज्ञान-विवेक का अभिलाषी नहीं है, वह तो लीला-प्रभु की भक्ति मात्र चाहता है—

"भगतिहीन गुन सब सुख ऐसे । लवन बिना बहु बिंजन जैसे ।।"[३]

अतः यह स्वयं-सिद्ध है कि भक्ति मार्ग के अनुयायी ज्ञान-विवेक के आग्रही नहीं हैं। वे तो भक्ति मन्दाकिनी में आकंठ स्नात हो अपने आराध्य के सतत संग-सुख को प्राप्त करना चाहते हैं जिसके लिए राम ने नवधा भक्ति का उपदेश दिया है। एकाधिक स्थल पर उन्होंने यह भी स्पष्ट कर दिया है कि भक्ति मार्ग-ज्ञान-मार्ग से श्रेष्ठ है ।

"जातें बेंगि द्रवहुं मैं भाई । सो मम भगति भगत सुख दाई ।[४]

और इस भक्ति प्राप्ति का सर्वाधिक सुगम एवं महत्वपूर्ण साधन है—नाम स्मरण, श्रवण और कथन ।

मानस में भक्तों के सभी स्वरूपों का—

"राम भगत जग चारि प्रकारा ।"[५] कहकर निदर्शन कथा-क्रम द्वारा प्रकट होता है । शिव एवं काग भुशुण्डि ज्ञानी भक्त हैं, पार्वती जिज्ञासु । सुग्रीव, विभीषण आदि अर्थार्थी हैं तो भरत आर्त्त भक्त की कोटि में। इन चारों प्रकार के भक्तों का --

"चहूं चतुर कह नाम अधारा । ज्ञानी प्रभुहिं विसेष पियारा ।।"[६]

कह कर भक्त-प्रवर ने ज्ञान और भक्ति का एकीकरण किया है । ज्ञान-प्राप्ति के बाद मोह असंभव है अतः अज्ञानी भक्त से ज्ञानी भक्त श्रेष्ठ है और ज्ञान प्राप्ति के लिए नाम-स्मरण आवश्यक है । इस प्रकार प्रभु को भक्तिवश सिद्ध कर मानसकार ने मानस में ज्ञान और भक्ति का सरल और सुन्दर विवेचन प्रस्तुत किया है । यह मार्ग वाद-विवाद से परे है । गुरु के अनुग्रह से विवेक वुद्धि सम्पन्न समन्वयात्मक दृष्टिकोण की प्राप्ति होती है और भक्ति का देव-दुर्लभ सुफल प्राप्त होता है ।

———

[१] वही, उत्तरकाण्ड, दोहा ७६-१० ।
[२] वही, उत्तरकाण्ड, दोहा ८३-१ ।
[३] वही, ,, दोहा ८३-५ ।
[४] राम०, अरण्यकाण्ड दोहा १५-२ ।
[५] वही, वालकाण्ड, दो० २१-६ ।
[६] वही, बालकाण्ड दोहा २१-७ ।

"स्वान्तःसुखाय और स्वान्तस्तमः शान्तये का हेतु एवं प्रयोजन"

डा० किरण मिश्र (प्राचीन छात्रा)

काव्योद्गम संसार की रहस्यपूर्ण मंगलमयी घटना है। इसीलिए विश्व के सभी प्रबुद्ध देशों में काव्योत्पत्ति संबंधी सिद्धान्तों की विवेचना हुई है और तदनुसार मनीषियों ने उसके हेतु और प्रयोजन निर्धारिति किये हैं। सभी देशों के विचारक इस विषय में एकमत हैं कि काव्योदगम सदैव दैवी अनुग्रह से होता है। यदि भारतीय विचारक कुंतक के स्वर में "प्राक्तनाद्यतन संस्कार परिपाक प्रौढ़ा प्रतिभा काचिदेव कविशक्तिः" घोषणा करता है अथवा आचार्य वामन के "कवित्वस्य बीजं कवित्वबीजं, जन्मान्तरागतसंस्कार विशेषः कश्चित" सिद्धान्तानुसार उसे पूर्वजन्म का फल मानता है तो पाश्चात्य चिंतक भी 'पोयटिक इन्सपिरेशन'[1] को ही काव्य-निर्माण का मुख्य हेतु स्वीकार करता है। शेली के कथन से इस तथ्य की अभिव्यंजना भलीभांति हो जाती है—"कविता तर्क की भांति कोई ऐसी शक्ति नहीं जिसका व्यवहार इच्छापूर्वक किया जा सकता है। कोई आदमी यह नहीं कह सकता कि मैं कविता करूँगा। बड़े से बड़ा कवि भी यह नहीं कह सकता, क्योंकि सर्जनशील मन बुझते हुए अंगारे की भांति होता है, जिसे कोई अदृश्य हवा के अस्थिर झोंके की भांति जगाकर क्षण भर के लिए प्रज्ज्वलित कर देता है। यह शक्ति आंतरिक होती है, जो पुष्प के उस रंग की भांति होती है, जो जिस प्रकार विकसित होता है वैसे ही परिवर्तित होता और मुरझा जाता है और हमारा चेतन मन उस शक्ति के आविर्भाव अथवा तिरोभाव की सूचना देने में असमर्थ होता है।"[2] तात्पर्य यह कि विश्व भर में काव्योद्भव नैसर्गिक प्रेरणा का परिणाम माना गया है और कवि परमात्मा की विशेष विभूति। विश्वकवि रवीन्द्र ने कवि को ऐसी वंशी माना है जिसके द्वारा ईश्वर स्वयं अपने स्वर फूंककर संसार को आनंदित करता रहता है। अतः यह निर्विवाद सत्य है कि दिव्य प्रेरणा ही काव्य का मूल है, जो पूर्णतया अलौकिक है।

इस अलौकिक हेतु के अतिरिक्त काव्य के अन्य लौकिक हेतु भी विद्वानों ने स्वीकार किये हैं जो विभिन्न देशों की परिस्थितियों के अनुसार भिन्न-भिन्न हैं। भारतीय काव्य-शास्त्रियों की दृष्टि में प्रतिभा, व्युत्पत्ति और अभ्यास—ये तीन ही सर्वसम्मति से काव्य के मूल हेतु स्वीकार किये गये हैं, जिनमें पहले दो, अलौकिक और तीसरा लौकिक है। उसी तरह पाश्चात्य काव्यसमीक्षक प्रेरणा, आलोक, ज्ञान, तीव्र भावोन्मेष और अनुकरण को काव्य का मूल रहस्य मानते हैं। अतः यहाँ भी प्रेरणा, आलोक, ज्ञान, तीव्र, भावोन्मेष आदि अलौकिक हेतुओं के साथ 'अनुकरण' है जो पूर्णतया लौकिक है। विचारपूर्णदृष्टि से देखने पर ये 'अनुकरण' और 'अभ्यास' शब्द एक ही प्रतीत होते हैं जिनका अर्थ अलग-अलग है पर व्यवहार की भूमिका पर जाकर वे एक हो जाते हैं। दोनों ही सिद्धान्तों के

---

[1] डा० रामअवध द्विवेदी—साहित्य सिद्धान्त, पृ० १। [2] वही पृ० ६।

अनुसार यह सिद्ध होता है कि काव्योद्‌गम में लौकिक हेतुओं की अपेक्षा अलौकिक हेतु ही अधिक सहायक होते हैं। यद्यपि पूर्व और पश्चिम दोनों ही देशों के काव्यसिद्धान्त युगानुसार परिवर्तित होते आए हैं तथापि काव्य की प्रेरणा के अस्तित्व में अभी भी दोनों की आस्था दृढ़ है ऊपर से भले ही उसका रूप परिवर्तित दिखाई दे। सत्कवि और सत्काव्य आज भी पुण्य और गौरव की वस्तु समझे जाते हैं।

महाकवि तुलसीदास भारत के ऐसे ही प्रतिभाविशिष्ट पुण्यभाग कवि थे जिन्हें पाकर देश, जाति और भाषा-सभी गौरवान्वित हो उठे। 'अपूर्व वस्तु निर्माणक्षमा प्रतिभा' के धनी तुलसीदास को भी काव्य रचना के लिए वंदना करनी पड़ी—

"वर्णानामर्थ संघानां रसानां छंदसामपि।
मंगलानां च कर्त्तारौ वन्दे वाणी विनायकौ॥"

तव कहीं जाकर उनके 'स्वान्तः सुखाय' और 'स्वान्तस्तमः शान्तये' की योजना संभव हो सकी। और वह 'स्व' भी ऐसा जिसमें सारे जगत के समाहित होने की कामना विद्यमान थी। यह पश्चिम के कलावादी आचार्यों की आत्मतुष्टि नहीं थी जिसका संबंध केवल आत्मानुभूति से होता। यहाँ तो आत्मानुभूति और विश्वासानुभूति का ऐसा समन्वय है जिसमें लोक कल्याण और व्यक्तिगत उत्थान अलग-अलग नहीं दिखाई देते। गोस्वामी जी के आनन्द का आरंभ उनकी आत्मा से होता है पर उसका अंत विश्वात्मा में हो जाता है—

निज संदेह मोह भ्रम हरनी। करौं कथा भवसरिता तरनी।
बुध विश्राम सकल-जन रंजिनी। रामकथा कलि कलुष विभंजिनि।

रामचरित मानस के आरम्भ में ही उनकी यह उदार स्वानुभूति—"करन चहौं रघुपति गुनगाहा" की अभिलाषा में स्पष्ट हो उठती है जिससे यह भलीभांति स्पष्ट है कि उसे भाषा रूप में निवद्ध करने का उनका संकल्प इसीलिए था कि उसे वे विश्वविश्रुत रूप देकर जन-जन के हृदय का हार वना देना चाहते थे। इस प्रकार उनका लोक कल्याण का अनुष्ठान सार्थक हो सकता था और उनकी 'कथा' सचमुच में 'भवसरिता तरनी' हो सकती थी। यदि ऐसा न होता तो वे - 'नाना पुराण निगमागम सम्मतंयद् रामायणे निगदितं क्वचिदन्यतोऽपि' की घोषणा न करते। इस कथन से परम विनीत तुलसीदास जी का यह आशय अत्यंत स्पष्ट है कि वे ऐसा कुछ कहना चाहते थे जो उन्हें आनन्द देने के साथ ही संसार को भी आनन्दित कर सके। रामचरित की महानता और अपनी लघुता का पूर्ण वोध होने पर भी 'क्वचिद-न्यतोऽपि' कह लेने की आतुरता उन्हें निरंतर अपने लक्ष्य के प्रति प्रेरित करती गई। भले ही उसकी प्रांशुलब्धि उन्हें सदैव शंकित बनाये रही। वे ऐसा कुछ कहना चाहते थे जो अव तक नहीं कहा गया था और उसे भी 'भाषा निवद्ध' करना उनका संकल्प था—उसी आत्मसुख में वे संसार का सुख भी उपस्थित कर देना चाहते थे। ऐसे महत् और दिव्य उद्देश्य की पूर्ति में सदैव उन्हें अपनी मति की लघुता का भान होता रहा और वे यथावसर सवसे अपने उद्देश्य की सिद्धि के लिए प्रार्थना करते रहे—

"सपनेहुं सांचेहु मोहि पर, जौ हरगौरि पसाउ।
तौफुर होउ जो कहेउं सब, भाषा-भनिति-प्रभाउ॥"

उनकी यह प्रार्थना फलीभूत हुई जिसके कारण ऐसी निरमल मति' प्राप्त हुई कि उसने 'स्वान्तःसुख' और 'स्वान्तस्तमः शान्ति' में ही लोक कल्याण की संजीवनी बूटी का सिद्धरस 'रामचरित मानस' के रूप में प्रस्तुत कर दिया।

यह लक्ष्य करने की बात है कि ऐसे अमर साहित्य के सोद्देश्य प्रणेता तुलसीदास कभी अपने को उस सत्काव्य की रचना के योग्य नहीं समझते जिसकी वे रचना करना चाहते हैं। वे तो स्पष्ट कहते हैं —

"संभु प्रसाद सुमति हिय हुलसी। रामचरित मानस कवि तुलसी॥"

इस कथन से यह भलीभांति स्पष्ट है कि तुलसी अपनी काव्य प्रेरणा का हेतु अलौकिक मानते हैं। "हरि के प्रेरे" तुलसी दास ने रामचरित मानस की रचना की है सामान्य तुलसीदास ने नहीं। यह वात उक्त ग्रंथ में अनेकशः स्पष्ट की गई है। ऐसे समर्थ हेतु के कारण ही उन्हें अपनी रचना के गौरवान्वित हो सकने का अटल विश्वास था। अनपी रचना को वे राम के चरित्र के समान ही महत्वपूर्ण मानते थे। इसीलिए उनका यह विश्वास था कि जिस प्रकार चंदन का साथ करने से सामान्य लकड़ी भी मूल्यवान हो उठती है उसी प्रकार रामचरित के वर्णन से उनकी वाणी भी महार्घ हो उठेगी। इस अलौकिक हेतु के वल पर ही वे अपनी ग्राम्य गिरा को सज्जनों के हाथों में सौंपने से नहीं हिचकते। अस्तु, यह भलीभांति स्पष्ट है कि तुलसीदास दिव्य प्रेरणा से प्रेरित तथा अलौकिक शक्ति से संपन्न होकर ही अपनी काव्य-रचना में प्रवृत्त हुए थे। तभी उनका काव्य हिन्दी-साहित्य का शिर मौर वन गया।

परन्तु यह तो तुलसीदास की आत्मदृष्टि है। यदि साहित्यशास्त्रीय दृष्टि से तुलसी के काव्य के हेतु और उद्देश्य पर विचार किया जाय तो वहां हमें काव्यशास्त्रीय मानदंडों की सहायता लेनी पड़ेगी। जहां तक काव्य के हेतु का प्रश्न है भारतीय काव्यमर्मज्ञों ने मुख्य-रूप से काव्य के तीन हेतु स्वीकार किये हैं—शक्ति, निपुणता और अभ्यास।[1] शक्ति वही दिव्य शक्ति या प्रतिभा है जिसके विना कोई कवि नहीं वन सकता। काव्य के इस हेतु में तुलसी का अटूट विश्वास है क्योंकि वे विना भगवान की कृपा के काव्य-रचना असंभव मानते हैं। इसीलिए अपने काव्य की रचना के लिए 'विमलमति' पाने को वे सदैव भगवान से प्रार्थना किया करते हैं।

इसके अतिरिक्त दूसरा काव्य-हेतु है निपुणता। शास्त्रों के मनन-अध्ययन और अनुशीलन से निपुणता की प्राप्ति होती है जिसके द्वारा काव्य-रचना संभव हो सकती है। तुलसीदास के कथन—"नानापुराण-निगमागम सम्मत" से स्पष्ट है कि काव्य के इस द्वितीय हेतु को भी वे महत्वपूर्ण समझते थे तभी शास्त्रानुशीलन द्वारा प्राप्त होने वाली निपुणता की आवश्यकता उन्होंने समझी और उसके लिए उन्होंने समस्त भारतीय वाङमय का अध्ययन करडाला। इस अध्ययन से प्राप्त निपुणता के वाद ही वे 'क्वचिदन्यतोऽपि' कहने के लिए प्रस्तुत हो गये।

[1] मम्मट-काव्यप्रकाश १।३, दण्डी-काव्यादर्श–१।१०३।

तीसरा काव्य-रचना हेतु है—अभ्यास। निरंतर काव्य-रचना का प्रयास या अभ्यास भी उत्कृष्ट काव्य-रचना का हेतु बन जाता है। दण्डी तो यहां तक मानते हैं कि दैवी प्रतिभा से हीन होने पर भी कोई काव्य-साधक इतर दोनों हेतुओं के बल पर ही उत्कृष्ट कवि हो सकता है—

"न विद्यते यद्यपि पूर्ववासना, गुणानुबन्धि प्रतिभानमद्भुतम।
श्रुतेन यत्नेय च वागुपासिता, ध्रुवं करोत्येव कमप्यनुग्रहम ॥"[1]

अर्थात् अभ्यास केवल अकेला अध्ययन के बल से काव्य-निर्माण का कारण बन सकता है। तुलसी ने इस 'अभ्यास' को प्रकारान्तर से 'श्रम' कहकर कई बार अपने ग्रंथ में उल्लिखित किया है। वे काव्य-रचना को इसी अभ्यास या श्रम से साध्य मानते हैं तभी कहते हैं—

"जो प्रबंध बुध नहिं आदर हीं। सो श्रम बांदि बाल कवि करहीं।"

यह तुलसी का 'अभ्यास' ही है जिसे उन्होंने 'श्रम' कहा है। इस प्रकार शास्त्रीय दृष्टि से विवेचना करने पर भी हम देखते हैं कि तुलसी ने साहित्याचार्यों द्वारा निर्दिष्ट काव्य-हेतुओं को भी स्वीकार कर उन्हें महत्व दिया है। परन्तु उनका भक्त हृदय अंतिम रूप से भगवान पर ही विश्वास रखता था इसलिए उन्होंने उनकी अहेतुकी कृपा को ही सबसे बड़ा हेतु माना है।

अब शेष रह जाती है बात काव्य के प्रयोजन की। कोई भी कार्य संसार में निरुद्देश्य नहीं होता। यह तर्क साहित्य में भी मान्य है। हमारे साहित्य के आदि युग से ही काव्य-कला-विशारद काव्य-रचना के विभिन्न प्रयोजनों का निर्देश करते चले आ रहे हैं। यश, अर्थप्राप्ति, व्यवहार ज्ञान, अमंगल निवारण, सद्यः परनिवृत्ति, कांतासम्मित उपदेश, चतुर्वग प्राप्ति[2] आदि काव्य के विभिन्न प्रयोजन होते हैं जिनको दृष्टि में रखकर ही कोई कवि अपनी काव्य-रचना में प्रवृत्त होता है। प्रभाव की दृष्टि से इन प्रयोजनों में से कुछ केवल कवि के ही हित में होते हैं और कुछ कवि के साथ भावक पर भी प्रभाव डालने वाले होते हैं। जैसे काव्य के द्वारा प्राप्त होने वाली यश की प्राप्ति या अर्थप्राप्ति तो शुद्ध रूप से कवि के ही हित में होती है परन्तु काव्य के द्वारा होने वाला व्यवहारज्ञान सद्यः परनिवृत्ति, कांतासम्मित उपदेश और चतुर्वग प्राप्ति-सहृदय या भावक को प्रभावित करने वाली होती है। इस प्रकार काव्य के कवि तथा भावक उभयनिष्ठ प्रयोजन होते हैं।

इस दृष्टि से जब हम तुलसी के काव्य का परीक्षण करने चलते हैं तब हमारी दृष्टि पहले ही उनकी 'स्वान्तःसुखाय तुलसी रघुनाथ गाथा भाषा निबंधमतिमंजुलमातनोति' घोषणा पर जाती है जिसका समापन भी उन्होंने 'मत्वा तद्रघुनाथनामनिरतं स्वान्तस्तमः शान्तये भाषाबद्ध मिदं चकार तुलसीदासस्तथा मानसम्' कहकर किया है जिससे यह भलीभांति स्पष्ट है कि अपने अन्तःकरण के अज्ञानांधकार को दूर करने के लिए और अपने अन्तःकरण

---

[1] दण्डी-काव्यादर्श, १।१०४।

[2] काव्यालंकार १।२।

के आनंद के लिए ही मूलतः कवि ने अपने काव्य की संरचना की है। परन्तु उनका 'स्वान्तःसुख' 'सकल-जन-रंजन' से अलग नहीं है और न उनकी 'स्वान्तस्तमः शांति' 'संसृति रोग सजीवन मूरी' से अलग है। तभी तो अंत तक वे प्रार्थना करते हैं—

"मो सम दीन न दीन हित तुम्ह समान रघुवीर।
अस विचारि रघुवंस मनि हरहु विषम भवभीर॥"

इस प्रकार लोकसंग्रही तुलसीदास के काव्य के उभयनिष्ठ प्रयोजन हैं। वे केवल अपने आनंद या शांति के प्रयोजन से काव्य-रचना में प्रवृत्त नहीं हुए वरन् उनके काव्य के द्वारा तो संसार के लोग-कलिमल मनोमल धोई विनु श्रमराम धाम सिधावहीं' स्थिति को प्राप्त कर सकते थे। अतः विश्वानंद में निहित आत्मानंद ही तुलसी के काव्व का प्रमुख प्रयोजन था।

काव्य के अन्य प्रयोजनों की दृष्टि से विचार करें तो 'अर्थ प्राप्ति' जैसा प्रयोजन तो कभी भी कवि को इष्ट नहीं था। निर्लिप्त संत की 'यशः प्राप्ति' के संबंध में कुछ विद्वानों[२] की यह धारणा है कि तुलसी की कई उक्तियों से उनकी यशः कामना की अस्पष्ट व्यंजना होती है जैसे

'भाषा भनिति भोरि मति मोरी। हंसिबे जोग हंसे नहिं खोरी॥"

अथवा

जो प्रबंध बुध नहिं आदर हीं। सो श्रम वादि वाल कवि कर हीं॥

अथवा

"होहु प्रसन्न देहु वरदानू। साधु समाज भनिति सनमानू॥"

उपहास से भय और विद्वानों के द्वारा कृति के आदर सम्मान की भावना से भरे कवि के उक्त वचनों से विद्वानों ने यह आशय निकाला है कि तुलसी के मन में यशःकामना अवश्य थी। परन्तु यह भी ध्यान रखने की वात है कि जव तक किसी वस्तु का संसार-व्यापी यश नही होता तव तक संसार का प्रत्येक व्यक्ति उससे लाभान्वित कैसे हो सकता है? उनका लोक मंगल कैसे संभव होता? तुलसी अपने काव्य के द्वारा संसार का कल्याण करना चाहते थे और उनका काव्य मंगल विधायक तभी हो सकता था जब बुद्धिमान उसका आदर कर सबमें उसका प्रचार करते। इस प्रकार सभी लोग उससे लाभान्वित हो सकते थे। कवि के उक्त कथनों का आशय इसी रूप में लेना उचित जान पड़ता है क्योंकि 'भनिति' का मूल प्रयोजन तभी सिद्ध हो सकता था जव—

'कीरति भनिति भूति भल सोई। सुरसरि सम सब कहं हित होई॥

अर्थात् तुलसी की कामना के अनुसार उनका काव्य गंगा के समान सवका हित करने वाला हो। यह कामना तव तक कैसे पूरी हो सकती है जव तक उनका काव्य

---

[१] काव्य प्रकाश १।२।

[२] डा० उदयभानु सिंह—तुलसीदर्शन मीमाँसा, पृ० ३७३।

गंगा के समान सवके वीच में—लोक हृदय में प्रवाहित न हो। अपने काव्य के एकमात्र उद्देश्य की सद्धि के लिए ही तुलसी अपने काव्य के जन-मन-रंजक होने की अथवा बुद्धिमानों द्वारा समादृत होने कों कामना करते हैं तथा भगवान से भी उसी इच्छा की पूर्ति का वरदान मांगते हैं।

काव्य के इतर अन्य सभीं प्रयोजन उनके काव्य के द्वारा इस एक प्रयोजन में ही पूर्ण होते दिखाई देते हैं जव वे समापन में अपने महत् प्रयोजन को स्पष्ट करते हैं—

पुण्यं पापहरं सदा शिवकरं विज्ञान भक्तिप्रदं मायामोहमलापहं सुविमलं प्रेमाम्बुपूरं शुभं।
श्रीमद्रामचरित्रमानसमिदं भक्त्यावगाहन्ति ये ते संसार पतंगघोर किरणैर्दह्यन्ति नो मानवाः॥

इस प्रकार आनन्द, ज्ञान, अमंगलनिवारण, कल्याण और चतुर्वर्गप्राप्ति–सभी कुछ इस महत् प्रयोजन में समाहित हैं। उनके आत्मसुख में लोकमंगल की योजना पूरी हो गई। उन्होंने अपनी 'भदेस भनिति' में जो 'भली' वस्तु वर्णित की उसमें अ.त्मप्रवोध के साथ विश्वप्रवोध भी संभव हो गया। इसीलिए 'विमल विवेकी' यह कहते हैं कि तुलसी के उस स्वान्तः सुख और स्वान्तस्तमः शान्ति में सर्वात्मा का सुख और शांति निहित है। तुलसी का काव्य उस दीप के समान है जो अकेला ही सहस्रों दीपकों को प्रज्ज्वलित करने की सामर्थ्यं रखता है।

पाणौ महासायक चारुचापम्

डॉ० भगवतीप्रसाद राय

१--गोस्वामी तुलसीदास अपने आराध्य राम का स्वरूप लिखते समय उनके आयुध-धारी रूप पर विशेष बल देते हैं। मानस के प्रथम सोपान की वन्दना को छोड़कर शेष सभी काण्डों के प्रारम्भ में राम के इस रूप का अंकन है। भक्त हृदय इस शोभा पर असाधारण भाव से मुग्ध है :

(१) पाणौ महासायक चारुचापम्—अयोध्याकाण्ड

(२) पाणौ वाणशरासनं कटिलसत्तूणीर भारं वरम्—अरण्यकाण्ड

(३) शोभाढ्यौ वरधन्विनो—किष्किधाकाण्ड

(४) काल जासु कोदण्ड लंकाकाण्ड

(५) पाणौ नाराच चापम्—उत्तरकाण्ड

सुन्दर-काण्ड की वन्दना के 'कामादिदोषरहितं कुरु मानसं च" में शरचाप के प्रभाव से दोष-मुक्ति की आकांक्षा है। त्रिविध दोषविकार- नाश के लिए रघुपति का वाण अमोघ है (जिमि अमोघ रघुपति कर बाना)। अतएव प्रच्छन्न रूप से प्रभाव कथन द्वारा उक्त स्वरूप का वोध यहाँ भी दिखाई देता है। इस विषय का अवगाहन किसी भी मानसप्रेमी के लिए सहज है। सायक की महानता और चाप की चारुता समझने का लघु प्रयास निबन्ध का प्रयोजन है। लक्ष्मण धनुष के परिकर है। वे शेषावतार हैं। उनका केवल बाहरी रूप भयंकर है, अन्तःकरण में पृथ्वी का भार धारण करने की करुणा है। उन्हें वैराग्य रूप कहा गया है। वैराग्य का ऊपरी रूप कठोर होता है, भीतरी रूप विश्व कल्याण के निमित्त अपार करुणामय होता है। वे महाकाल के सेवक हैं, अतएव कठोर-कर्मा हैं। राम का दिव्य कोदण्ड महाकाल है, जो कठोर है परन्तु आनम्यशील भी है। वे रामकीर्ति-पताका के दण्ड हैं। दण्ड कठोर होता है अन्यथा पताका झुक जाए। जहाँ-जहाँ राम की कीर्ति-पताका झुकती प्रतीत होती है, लक्ष्मण का उग्र और कठोर रूप प्रकट होता है। लक्ष्मण के इसी स्वरूप का परिचय सर्वत्र मिलता है :

बंदहुँ लछिमन पद जल-जाता। सीतल सुखद भगत सुखदाता॥
रघुपति कीरति विमल पताका। दंड समान भयउ जस राका॥
सेस सहस्र सीस जग कारन। जो अवतरेउ भूमि भय हारन॥
सानुज सीय समेत प्रभु राजत परन कुटीर।
भगति ज्ञान वैराग्य जनु सोहत धरे शरीर॥

२—कोषग्रन्थों में सायक या वाण के पर्याय हैं—पृषत्क, विशिख, खग, आशुग, कलंव, मार्गण, पत्री, रोप, वीरतर, काण्ड, विपर्षक, शर, बाजी, पत्रवाह, अस्त्रकंटक, वाण, शिलीमुख, नाराच, सायक, तीर, शल्य। वरीयता क्रम से इनमें सर, बान, सायक, बिसिख,

नाराच, सिलीमुख, तीर के प्रयोग मानस में पाए जाते हैं। सर शब्द ११२ वार प्रयुक्त है, सायक ३० वार, वान ६० वार, विसिख ८ वार, नाराच ६ वार, शिलीमुख ४ वार तथा तीर दो वार आया है। तीर फ़ारसी शब्द है, शेष सभी संस्कृत। धनुर्वेद में इनके सूक्ष्म भेदों का निरूपण है। व्युत्पत्ति के आधार पर इनकी रचना तथा इनके कार्य-व्यापारों का कुछ संकेत ग्रहण किया जा सकता है। वाण शब्द वण्+घ के योग से वना है जिसे धनुज्य-मोघं समघत्त वाणम् कहा गया है। तीर के पंखयुक्त भाग, निशाने या लक्ष्य की संज्ञा भी वाण थी। वाण दो हाथ से अधिक लम्वा और छोटी अंगुली से अधिक मोटा नहीं होता था। धनुर्वेद में वाण का यही प्रमाण था। यह साधारणतया लकड़ी या नरकल की डेढ़ हाथ की छड़ होती थी जिसके सिरे पर पैना लोहा, हड्डी, चकमक आदि लगाकर फल वना लेते थे। फलों की रचना विभिन्न रूपाकृतिक होती थी, कोई लम्वा, कोई चन्द्राकार और कोई गोल होता था। फलों के आकार के अनुसार वाण के पृथक्-पृथक् नाम थे जैसे आरा-मुख, क्षुरप्र, गोपुच्छ, अर्धचन्द्र, सूचीमुख, भल्ल, वत्सदंत, द्विभल्ल, कर्णिक, काकतुंड आदि। कभी-कभी लोहे के फल को विष से वुझा लेते थे। उससे आहत की मौत अवश्यभावी थी। इसके पिछले भाग में यदा-कदा पंख आदि वाँध देते थे (कालसर्प जनु चले सपक्षा)। परों के विधान से वाण तेजी से सीधा लक्ष्य की ओर जाता था। पंख लक्ष्य की दिशा-नियंत्रण करने में मदद करते थे। सृ(गत्यर्थक)+अच् से सर वना है। प्रतीत होता है कि यह अधिक वेगवान होता था। इसी विशेषता के कारण इसका नामकरण गत्यर्थक धातु से किया गया है। सर तीन प्रकार के होते थे। जिस सर का अग्र भाग मोटा होता था, उसे स्त्री जातीय कहते थे। वह बहुत दूर तक मार करता था। जिसका पिछला भाग मोटा होता था, उसे पुरुष जातीय कहते थे। समीपवर्ती लक्ष्य पर गहरा भेद करने से लिए उसका प्रयोग किया जाता था। सर्वांग वरावर सर को नपुंसक जातीय कहा जाता था। इसका प्रयोग निशाना साधने के लिए किया जाता था। प्रायः नव शैक्ष इसका उपयोग करते थे। सायक शब्द सो+घ से वना है। इसे सोपुंख भी कहते थे जिसका अर्थ होता था वाण का पंखीला भाग। सायक में चार पंख लगाते थे और नाराच में पाँच। विशिख के लिए कहा गया है—विगता शिखा यस्त (विशिख+टाप्)। नाराच लोहे का वाण होता था—नारान् आचमति (आ+चम्+ड स्वार्थं अण) अथवा नारम् आचामति। वह वारीक वाण होता था और सिद्ध व्यक्ति द्वारा प्रयोग किया जाता था। इसलिए विशेष अवसर आने पर कुशल व्यक्ति इसे चलाते थे (जहं तहं चले विपुल नाराचा)। शिलि (अर्थात् भूर्जवृक्ष)+ ङीप्+मुख के योग से शिली मुख वना है। ज्ञात होता है कि भूर्ज की छाल पर लिखने का कार्य होता था तथा उसके दण्ड से भाले और वाण वनाए जाते थे। मानस प्रयुक्त तीर शब्द फारसी है। यहाँ हमारा उद्देश्य धनुर्वेद की सारणी प्रस्तुत करना नहीं है वल्कि यह देखना है कि गोस्वामी जी जैसे शब्द-शिल्पी तथा भाषा-अधिकारी के प्रयोग के सूक्ष्म अर्थों की ओर हमारा ध्यान वना रहे।

३—मानस में सर, बान, सायक, बिसिख, नाराच, सिलीमुख, तीर आदि शब्दों के साथ जिन विशेषणों का प्रयोग हुआ है, वे उनकी अन्य योग्यताओं का प्रकाश करते हैं। सर के साथ प्रयोग हैं—असम-सर-कला-प्रवीन, सर-संधान, ब्रह्मसर, रामसर, रघुपति-सर,

चंडसर, सुमनसर, अनल-सर, नभसर, वचन-सर (लाक्षणिक), सरपंजर, सरचाप-मनोहर त्रोनधरं, सरपावक तेज आदि। इनमें सबकी पहचान तो ठीक-ठीक नहीं की जा सकती परन्तु इतना स्पष्ट है कि असम सर संधान विशेष निपुणता मानी जाती थी। उस कला में राम अत्यन्त सिद्ध थे। वे निपुण ही नहीं, परम निपुण थे, इसलिए तुलसीदास इस तथ्य को प्रकट करने के लिए सर के साथ अमोघ प्रयोग कर तृप्त नहीं होते, उसकी योग्यता रामसर, रघुपतिसर बताते हैं। बान के साथ शब्द प्रयोग हैं—रघुबीर बान, रामबान, बान प्रताप, बानबुन्द, बानझरि, अनल बान। बानवुंद तथा बानझरि बाण संचालन की असाधारण कुशलता के प्रमाण हैं। आवश्यकता पड़ने पर पुराने बाणों पर धार भी चढ़ा ली जाती थी—चले सुधारि सरासन बाना। सायक रुचिर और सुन्दर होते थे। रामचन्द्र उन्हें बड़ी चाव से रखते और चलाते थे। सायक के साथ तुलसीदास रुचिरचाप सायक, कुसुमधनुसायक, सीकधनुष सायक, चापसायक रामसायक-निकर, पावक सायक, रघुनायक रुचिर-कर-सायक, धृतसायक चाप निषंग वरम् जैसे रुचि-व्यंजक प्रयोग करते हैं। प्रतीत होता है कि सायक शोभादायक और मनोहर होते थे। सामान्य और हल्के-फुल्के अवसरों पर उनका उपयोग होता था। परन्तु गाढ़े समय पावक के साथ चलाकर अमित प्रभाव भी उत्पन्न किया जा सकता था। नाराच-संधान धनुर्धर की सिद्धि का प्रतीक माना जाता था। उचित अवसर पर योग्य अधिकारी द्वारा ही इसका प्रयोग किया जाता था। राम इस कला में अप्रतिम थे। उनका कोई सर या नाराच व्यर्थ नहीं हो सकता था (खैंचि धनुष सर सतसंधाने। छूटे तीर सरीर समाने।) एक ही पद में सर और तीर के गत्यर्थक तथा वेधक प्रयोग तुलसी की सूक्ष्म दृष्टि के परिचायक हैं। मानस में सीक-धनुसायक प्रयोग मिलता है। भरत ने इसका उपयोग किया था। सीक धनुसायक का प्रयोग बालक्रीड़ा के निमित होता था। भरत की अनायासता, उनका आत्म-विश्वास, प्रयोग-सिद्धि, पौरुष, वीरता आदि की सहज अभिव्यक्ति सीक सायक प्रयोग से हो गई है। राम-बाण शब्द तो लोक और कोष दोनों में अमोघ या अचूक का पर्याय बन गया है। किसी वस्तु की अमोघता या अचूकता जब प्रभावी ढंग से इन शब्दों से नहीं व्यक्त हो पाती तो उसे रामबाण कहकर अभिव्यक्त किया जाता है।

४—मानसकार ने अपने ग्रंथ में चाप के लिए कोदंड, धनुष, धनु, कमान, सरासन, सारंग, पिनाक, पनच आदि पर्यायों का प्रयोग किया है। इनमें वरीयता क्रम से धनु शब्द का प्रयोग लगभग ७० बार, चाप का ६३ बार, धनुष का २७ बार, सरासन का १९ बार, कोदंड का १२ बार, सारंग का ५ बार, धनुहीं का २ बार और कमान तथा पनच का प्रयोग १-१ बार हुआ है। धनु और धनुष धन् (शब्द करना) धातु से व्युत्पन्न हैं। धन्+उ=धनु तथा धन्+उसि=धनुष होता है। इसलिए इन्हें एक शब्द मान लिया जाय तो सर्वाधिक प्रयोग धनुष शब्द (९७ बार) का हुआ है। कोदण्ड शब्द कु+विच्=को शब्दायमानो दण्डो यस्य से सिद्ध होता है। चप (कंपमान)+अण्=चाप बनता है तथा सृ+अङ्गच्+अण् से सारंग पद व्युत्पन्न होता है। बहुरंगी धनुष को सारंग कहते थे। बाँस का अभिधान धनुर्द्रुम है। इससे ज्ञात होता है कि अधिकतर धनुष बाँस के बनाए जाते थे। आज भी लोक में धनुर्निर्माण में प्रायः बाँस का प्रयोग करते हैं। शिव के विशेष

धनु का नाम पिनाक था। शिव की अपर संज्ञा पिनाकी है। कहते हैं उनका धनु दधिचि की पसली की हड्डी से बना था। यदि हड्डी का अभिधा अर्थ स्वीकार कर लिया जाय तो मानना होगा कि हड्डी से धनुष बनाए जाते थे। जब दक्ष के यज्ञ में देवों ने शिव को भाग नहीं दिया, तब क्रुद्ध होकर शिव ने जिस अस्त्र से देवों का गर्व खंडित किया, वह यही पिनाक था (वाल्मीकि रामायण (६६।१०)। लोहे के चाप का भी उल्लेख मिलता है। वैशंपायन के अनुसार शारंग में तीन स्थान पर झुकाव होता था। वैणव अर्थात् बाँस के धनुष का झुकाव बराबर क्रम से होता था। सारंग धनुष साढ़े छः हाथ लम्बा बनाया जाता था। अश्वारोही तथा गजारोही धनुर्धर इसका प्रयोग करते थे। रथी और पैदल के लिए बाँस का धनुष ठीक समझा जाता था। अग्निपुराण के अनुसार उत्तम धनुष चार हाथ लम्बा होता था, मध्यम साढ़े तीन हाथ और अवम तीन हाथ। जिस धनुष के बाँस में नौ गाठें होती थीं, उसे कोदण्ड कहते थे। धनुष की डोरी पाट की बनाते थे। वह प्रायः कनिष्ठिका अंगुली के बराबर मोटी होती थी। बाँस छीलकर उसकी डोरी बना लिया करते थे। हिरन या भैंसे के ताँत की डोरी सबसे मजबूत होती थी। इस विश्लेषण से तुलसीदास के रुचिर चाप सायक, चापसर, सारंगपानी, रामसायक निकर, हरकोदण्ड, धनुबाण जैसे प्रयोगों की विशिष्टता समझी जा सकती है।

५—आयुध —श्री मधुसूदन सरस्वती ने अपने ग्रंथ प्रस्थान-भद में धनुर्वेद को यजुर्वेद का उपवेद बताया है। शुक्रनीति, कामन्दकी-नीति, अग्नि-पुराण, वीरचिंतामणि, वृद्ध सारंगधर युद्धजयार्णव, युक्ति-कल्पतरु, नीतिमयूख आदि ग्रंथों में धनुर्वेद की कुछ बातों का उल्लेख प्राप्त होता है। धनुर्वेद-संहिता नामक ग्रंथ भी मिलता है परन्तु उसकी प्रामाणिकता और ऐतिहासिकता संदेह से परे नहीं है। इन ग्रंथों में धनुर्लक्षण तथा उसके अधिकारी का निरूपण है। धनुर्लक्षण में धनुस् के अंतर्गत सब प्रकार के आयुधों का वर्णन है। आयुध चार प्रकार के कहे गए हैं—मुक्त, अमुक्त, मुक्तामुक्त और यंत्रमुक्त। मुक्त जैसे चक्र, अमुक्त जैसे खड्ग, मुक्तामुक्त जैसे भाला, बरछा, आदि। मुक्त को अस्त्र और अमुक्त को शस्त्र कहते हैं। रामचरित-मानस में तुलसीदास ने अनेक आयुधों की चर्चा की है। रामायुध के साथ गिरितरु नखायुध (१।२२०।२), निज आयुध भुजचारी, नख आयुध, नानायुध, भूधरनख विटपधारी, नखदसनसेलमहाद्रुमायुध, बहुआयुध, विविध आयुध प्रयोग पाए जाते हैं। इनकी साधना के लिए विशेष प्रशिक्षण और प्रतिभा की आवश्यकता नहीं थी, बल प्रधान रूप से अपेक्षित था। यदि कोई ज्ञानिनामग्रगण्यं या वानरयुवराज बुद्धि-बल दोनों के साथ इनका प्रयोग करता तो इनसे अलौकिक प्रभाव उत्पन्न कर सकता था।

६—धनुर्वेद—धनुस् अर्थात् आयुध विज्ञान को धनुर्वेद कहा गया है। अग्निपुराण में ब्रह्मा और शिव को इस वेद का प्रकटकर्त्ता बताया गया है। परन्तु मधुसूदन सरस्वती का मत है कि विश्वामित्र ने जिस धनुर्वेद का प्रकाश किया, वही यजुर्वेद का उपवेद है। उन्होंने अपने प्रस्थानभेद में विश्वामित्र के धनुर्वेद का संक्षिप्त परिचय दिया है। उसमें चार पाद हैं--पहला दीक्षापाद है जिसमें धनुर्लक्षण और अधिकारी की योग्यता दी गई है। उसकी पात्रता का लक्षण बताकर दीक्षा, अभिषेक, शकुन आदि का वर्णन है। दूसरा संग्रहपाद है। इसमें आचार्य का लक्षण तथा अस्त्र-शस्त्रादि के संग्रह का वर्णन है। तीसरे

पाद में सम्प्रदाय-सिद्ध विविध अस्त्रों के अभ्यास, मंत्र, देवता और सिद्धि आदि विषयों का निरूपण है। चौथे पाद का नाम प्रयोगवाद है। इसमें देवार्चन, सिद्धि, अस्त्रशस्त्रादि के प्रयोगों का निरूपण है।

शिव का एक नाम धनुर्वेदी है। प्रतीत होता है कि विश्वामित्र के पूर्व शिव का धनुर्वेद लोक-विश्रुत था। विश्वामित्र महामुनि ज्ञानी थे। उनके मनन और ज्ञान की पराकाष्ठा इस बात से समझी जा सकती है कि उननें नई सृष्टि करने की योग्यता थी। ऐसे व्यक्ति की आकांक्षा रही होगी कि उनके विज्ञान की परीक्षा और उसके तेज का प्रकाश किसी लोकविश्रुत आयुध-विज्ञान की परम्परा को तोड़कर किया जाए ताकि नए ज्ञान की प्रतिष्ठा हो सके। इसके लिए उन्होंने सबसे पहले राम-लक्ष्मण जैसे अधिकारी पात्रों का चयन किया। विश्वामित्र ने योग्य छात्र रूपी महानिधि को प्राप्त किया। मार्ग में योग्यता परीक्षा के लिए ताड़का को दिखाया जिसका एक ही वान में राम ने काम तमाम कर दिया। गुरु प्रसन्न हुए, आश्रम के सभी आयुधों को उन्हें समर्पित किया और विद्यानिधि को विद्यादान किया (रामचरित २०८।१-८)। उन्हें अपने धनुर्विज्ञान के सम्यक् अभ्यास का प्रशिक्षण देकर अपने वेद का तेज देखने के लिए रंगवाट में उतारा। जिससे राम की भुजबल महिमा का उद्घाटन हो और धनुविघटन की परिपाटी प्रकट हो (तब भुजबल महिमा उद्घाटी। प्रकटी धनुविघटन परिपाटी।)

७ —प्रकटी धनु विघटन परिपाटी—मानसकार ने विश्वामित्र के यज्ञ को धनुपयज्ञ अथवा धनुषमख की संज्ञा दी है और सीता स्वयंवर को भी। अ.ज भी लोक में मख का अपभ्रंश रूप मह मिलता है। आभिजात्य समाज में जो स्थान वैदिक यज्ञों का था, लोक जीवन में वही स्थान मह नामक उत्सवों का था। जैसे ब्राह्मण मंत्रों द्वारा यज्ञ करते थे वैसे किसान हल द्वारा सीतायज्ञ और गोप लोग गोपालन द्वारा गिरियज्ञ करते थे।

मंत्रयज्ञ परा विप्राः सीतायज्ञाश्च कर्षुकाः।
गिरियज्ञास्तथा गोपा इज्यसेऽस्माभिर्गिरिर्वते ।।

हरिवंशपुराण, २।१६।९।

यज् विस्तारे धातु से यज्ञ शब्द सिद्ध होता है। द्रव्य, तप, ज्ञान, स्वाध्याय ज्ञान तथा अन्य प्रकार के यज्ञों का उल्लेख गीता में मिलता है। इन क्षेत्रों में विशिष्ट शक्ति, प्रतिभा और तेज के विस्तार का नाम यज्ञ था। धनुर्यज्ञ विशेष प्रकार के उत्सव का आयोजन था। उसमें योद्धा या वीर धनुष के आरोपण द्वारा अपने वल की परीक्षा देते थे। पुरायुग में इस प्रकार के उत्सवों का नाम समाज भी था। जिस स्थान पर समाजोत्सव होता था, उसे रंग या रंगवाट कहते थे। रंगभूमि में सहस्र मंच बनाए जाते थे। विश्वामित्र के धनुर्यज्ञ से राम के धनुर्ज्ञान की प्रतिष्ठा हुई। उन्होंने मारीच को विना फल का वाण मारकर इतना आतंकित कर दिया कि वह शतयोजन सागर पार जाकर पीछे मुड़कर देख सका और एक पावक सर ही सुबाहु के निमित्त व्यय किया। शेष निशाचर-दल का संहार अकेले लक्ष्मण ने किया। प्रधान राक्षसों को इस प्रकार अनायास मार कर राम ने अपनी अपार शक्ति के एक अंश का प्रकाश किया। सीता-स्वयंवर के समय का उत्सव भी धनुर्यज्ञ था। यह धनुषरत्न जनक के पूर्वजों को मख में देवताओं से मिला था।

तद्धि पूर्वं नरश्रेष्ठ दत्तं सदसि देवतैः । अप्रमेयं बलं घोरं मखे परम भास्वरम् ॥

वा० रामा०, बालकांड, ३१।८ ।

उस विलक्षण धनुष का आरोपण मुख्य पराक्रम था। तुलसीदास ने उससे आगे बढ़कर उसके खण्डन का प्रस्ताव कर दिया। देव, गंधर्व, असुर, यक्ष, किन्नर, नाग, राक्षस कोई धनु का आरोपण न कर सका (बालकाण्ड, ३१।९, ६७।९)। रामायण में उसे दिव्य धनु कहा गया है। यह शिवधनु मिथिला के राजघराने में परम्परा से चला आ रहा था। धूपगंध से उसकी पूजा होती थी। वह आयागभूत था। प्रतीत होता है कि उस धनुष के माध्यम से धनुर्मख का विधान किया जाता था। राम ने बड़ी स्फूर्ति से उसे खंडित किया और अपने पराक्रम से त्रिभुवन जयसहित वीर्यशुक्ला विदेह कन्या का वरण किया। तुलसीदास ने 'प्रकटी' शब्द द्वारा पुरानी धनुर्विद्या के स्थान पर तेज युक्त विद्या की प्रतिस्थापना की ओर संकेत किया है। प्रकटकर्ता उद्भावक होता है, गतानुगतिक नहीं। अपने नए धनुर्वेद की सिद्धि की चरम परिणति देखकर महाज्ञानी गुरु विश्वामित्र का हृदय सागर की भाँति रामचन्द्र की ओर उमड़ पड़ा :

प्रभु दोउ चाप खंड महि डारे। देखि लोग सब भए सुखारे ॥
कौसिक रूप पयोनिधि पावन। प्रेम बारि अवगाह सुहावन ॥
रामरुप राकेसु निहारी। बढ़त बीचि पुलकावलि भारी ॥

उदयगिरि मंच पर नए बाल पतंग का उदय हुआ और भृगुकुल कमल पतंग का अस्ताचल गमन। त्रिभुवन के नरेश धनुर्यज्ञ में उपस्थित थे। वे सभी धनुष टूटने पर श्रीहत हो गए। उनका बल, प्रताप, उनकी वीरता और बड़ाई पिनाक के संग तिरोहित हो गई। सम्पूर्ण भुवन में राम के पराक्रम की कीर्ति फैल गई। अन्तिम रूप से गुरुदक्षिणा निपटाने के लिए परशुराम उपस्थित हुए। उनके भय से सभी राजा आतंकित थे। जिसकी ओर उनकी दृष्टि फिर जाती, उसे अपनी मौत निकट दिखाई देने लगती। ऐसे पराक्रमी और क्रोधी के सम्मुख राम अत्यन्त निर्भय और शांतचित्त गए। भृगुनाथ के प्रति सत्य का घोष किया :

तौ अस को जग सुभटु जेहि भयबस नावहिं माथ।

क्योंकि—

कहौं सुभाउ न कुलहिं प्रसंसी। कालहु डरहिं न रन रघुबंसी ॥
बिप्रबंश कै असि प्रभुताई। अभय होइ जो तुम्हहि डेराई ॥
सुनि मृदु गूढ़ बचन रघुपति के। उघरे पटल परसुधर मति के ॥
राम रमापति कर धनु लेहू। खैंचहु मिटै मोर संदेहू ॥

यह परशुराम की ओर से राम की अंतिम धनुर्परीक्षा थी। उसके उपरान्त उनकी धनु ममता जाती रही। मोह का शूल मिट गया और उन्होंने तपहेतु वन प्रस्थान किया अथवा वानप्रस्थ धारण कर लिया। यह धनुर्यज्ञ एक अवतार के अस्तगमन और दूसरे के उदयगिरि आरुढ़ होने का निर्णायक बिन्दु था। कवि ने दोनों की उपमा पतंग से दी है, पर वीर्य, प्रताप और काल-भेद से अधिकारी का निरूपण किया है। परशुराम ने परीक्षा के लिए विष्णु का धनुष प्रस्तुत किया। वे स्वयं जानते थे कि वैष्णव धनु शिवधनु से

प्रवल हो गया है। राम ने वैष्णव धनु पर वाण संधान कर परशुराम के सुकृत लोकों का विनाश कर दिया।

मथुरा के यदुवंशियों में धनुर्मख की परिपाटी थी। कंस ने अक्रूर से कहा, हे अक्रूर : तुम व्रज जाकर कहो कि राजा ने सुख के अवसर पर धनुर्मख का आयोजन किया है और कृष्ण बलराम को बुलाया है। (हरिवंश पु० २।२२।९१)। कंस ने पिनाकी को लक्ष्य कर उत्सव आयोजित किया था—

कस्याचित् त्वथ कालस्य मथुरायां महोत्सवम्। पिनाकिनं समुद्दिश्य चक्रे कंसो नराधिपः॥
हरिवंश, २।१०।६४।

वास्तव में चापमख-उत्सव का संवंध शिवपूजन से था। समाज उत्सव की प्रतिष्ठा के समय शिव देवता की पूजा प्रधान रूप से की जाती थी। धनुष वाण से युद्ध करने वाले उस अस्त्र को अत्यन्त पवित्र मानते थे। उनका विश्वास था कि धनुष किसी देवाधिदेव का प्रसाद है जो उनके पूर्वजों को प्राप्त हुआ है। राजगृहों में परम्परा से उसकी रक्षा की जाती थी। कंस के धनु को दिव्य कहा गया है :

द्रष्टुं धनुर्महं दिव्यं राष्ट्रे चैव मर्हाघिमत्। हरिवंश, २।२७।३२।

दिव्य धनुष आकार में औरों से बहुत बड़ा होता था। हरिवंश में उसे स्तंभ की भाँति महत् कहा गया है। उसे रखने के लिए विशेष गृह बना था जिसे धनुर्गृह या धनुःशाला कहते थे। यह स्थान राजकीय आयुधागार के समीप था। उसकी रक्षा के लिए धनुःपाल नियुक्त थे। कृष्ण और बलराम ने एक दिन पहले पहुँच कर धनुष तोड़ डाला जैसे हाथी खम्भे को तोड़ डालता है (हरिवंश, २।२७।६१)। कंस के धनुष-यज्ञ में झुकाने के लिए चाप सार्वजनिक स्थान पर रखा ही न जा सका। अगले दिन मुष्टिक-चाणूर के साथ कृष्ण बलराम के मल्लयुद्ध का प्रदर्शन हुआ।

लगता है कि धनुर्यज्ञ की परिपाटी में सुन्दरियों के वरण की भी प्रथा थी। द्रौपदी के स्वयंवर में धनुष चढ़ाकर लक्ष्य वेध करने की शर्त प्रमुख थी। इन सभी धनुष यज्ञों से चाप-उत्सव की परंपरा परिलक्षित होती है जिसकी ओर तुलसीदास ने संकेत किया है।

८—शिव धर्मी कल्याणकारी साम्राज्य कैलाश से रामेश्वरम् तक विस्तृत था। राज्यसत्ता के प्रतीक पिनाक के रक्षक परशुराम के वानप्रस्थ जाते समय उक्त साम्राज्य कई भागों में विभाजित हो गया था। विशेष रूप से दक्षिण प्रदेश असुर पीड़ित था। उसे पुनः एक सत्ता के अधीन लाने के निमित्त नए बल, बुद्धि, पराक्रम को आवश्यकता थी। आर्यसंस्कृति, द्रविड़ संस्कृति, निषादसंस्कृति और किरात संस्कृति—इन अनेक संस्कृतियों के समन्वय से देश की महान् सांस्कृतिक परम्परा का सेतु निर्माण करना था। रामेश्वरम् में राम द्वारा शिवलिंग की स्थापना इस बात की ओर संकेत है कि राम ने अपने पराक्रम तथा कौशल द्वारा दक्षिण में शिव-महिमा की पुनः प्रतिष्ठा की। उन्होंने 'बापुरो पिनाक' तोड़कर नई प्रभावशाली राज्यसत्ता स्थापित थी। उनके भुजबल से खिंचे धनुष की एक कोटि या सीमा अमरनाथ के उत्तर की धनुष्कोटि थी और दूसरी रामेश्वरम् के दक्षिण की धनुष्कोटि थी। लंका इस कोटि से बाहर का क्षेत्र था।

कुछ लोगों की सम्मति है कि शिव रूप कीं कल्पना भारत के मानचित्र को ध्यान में रख कर की गई है। उनके अनुसार भगवान शिव के दो प्रिय स्थान कैलाश और रामेश्वरम् भारत की उत्तर दक्षिण सीमाओं के द्योतक हैं। उनके मस्तक का अर्ध चन्द्र गर्वोन्नत पर्वतराज हिम.लय का हिममंडित शीतल मुकुट है। उनका जटाजूट शैलराज का वनों से आच्छादित भ.ग है जहाँ भगवती गंगा का उद्गम है। भगवान शिव के गले में विराजमान हारवत् शेष वन्य प्रदेश के आगे तराई का भूभाग है जो विषैले जीवजन्तुओं की भूमि है। भस्माच्छादित विशाल वक्षस्थल आर्यावर्त का विशाल समतल प्रदेश है जिसकी भूमि रजकणों की विभूति से आवृत है। स्कंध से झूलते यज्ञोपवीत के तीन तार गंगा, यमुना, सरस्वती की त्रिधार' हैं। उसकी गाँठ प्रयाग क. पुनीत संगम है। कटि प्रदेश की मेखला विन्ध्याचल का भूभाग है। मेखला से लटका व्याघ्र चर्म मध्यप्रदेश तथा उसके नीचे का वह भूभाग है जो जंगलों से पटा हुआ था, जिसमें व्याघ्र आदि हिंसक पशु रहते थे। भारत कृषि प्रधान देश है, उसका वाहन नांदी या बैल है। इस प्रदेश की विविध रूपी जनता शिव गण है। इस कल्पना के संकेत मोहक हैं। राम के बाहु पराक्रम से सायक-विद्ध खिंचा धनुष भी इसी रूपरेखा का दृश्य प्रस्तुत करता है। इस भूक्षेत्र की जनता की मंगल कामना से किया गयां उनका हर प्रयास शिव की साधना प्रतीत होता है। इससे उनके उदार, तेजस्वी, दूरदर्शी, सहृदय, प्रातिभ व्यक्तित्व का परिचय प्राप्त होता है। उन्होंने शिव का सर्वत्र आदर किया। उनके जो सिद्धान्त पुराने पड़ गये थे, उनका संस्कार किया, जहाँ आवश्यकता हुई नए विधान का प्रवर्तन किया। स्वयं परशुराम द्वारा रमापति के धनुष का दान वैष्णव विशिष्टता की ओर निर्देश है। सम्पूर्ण मानस की रचना में इसके संकेत सुलभ हैं। शिव-कथा और शिव चरित्र की पं ठिका पर रामकथा तथा रामचरित्र का भव्य प्रासाद विराजमान है। स्वयं राम कहते हैं:

सिव द्रोही मम भगत कहावा। सो नर सपनेहु मोंहि न पावा॥
संकर विमुख भगति चह मोरी। सो नारकी मूढ़ मति थोरी॥

तथा अपने इष्टदेव राम की परीक्षा लेने के कारण शिव ने प्रियतमा का त्याग कर दिया। यह है युगद्रष्टा तुलसी की अपूर्व समन्वय शक्ति।

शस्त्र तथा शास्त्र के उचित प्रयोग के लिए सम्यक् विवेक की आवश्यकता होती है। मानस में राम ने जहाँ-जहाँ धनुष-बाण का प्रयोग किया है, उसके औचित्य पर विचार करने का अवसर इस लघु निबंध में नहीं है। इतना ही संकेत पर्याप्त होगा कि जिस अवसर पर जैसे वाण की आवश्यकता थी, वहाँ राघवेन्द्र ने उसी का प्रयोग किया। जहाँ नाराच की जरूरत थी, वहाँ बिना फल का वाण नहीं चला, जहाँ सायक का औचित्य था, वहाँ सर का उपयोग नहीं हुआ। जहाँ अन्य कोई पात्र आयुध प्रयोग-निपुण था, वहाँ स्वयं राम ने हाथ नहीं लगाया। उनका कोई वाण व्यर्थ गया, इसका कहीं प्रमाण नहीं मिलता। अन्य प्रयत्नों के निष्फल होने पर ही वाण का प्रयोग हुआ।

९ प्रतीक : गोस्वामी तुलसीदास श्रीराम को 'भुवनेश्वर कालहु कर काला' 'काल-मत्तेभसिंहम्, 'कालरुप तिन्हकर मैं भ्राता' आदि विशेषणों से संबोधित करते हैं। वे धनुप

को 'वर विज्ञान कठिन कोदंडा,' 'काल जासु कोदंड' तथा 'सम जम नियम सिलीमुख नाना' जैसे दार्शनिक पदों का प्रयोग करते हैं। ऐसा उद्घोष गीता में भी पाया जाता है।

अहमेवाक्षयः कालो, १०।३३।
कालोऽस्मि लोकक्षय कृत प्रवृद्धो, ।।३२।

गोस्वामी जी का धनुष-बाण विषयक काल का पूरा रूपक इस पद में व्यक्त है :

लव निमेष परमानु जुग बरस कलप सरचंड।
भजसि न मन तेहि राम कहाँ काल जासु कोदण्ड ।।

धनुष-बाणरूपी काल के दो भेद हैं—ब्रह्मा और स्तंव अथवा अखंडायमान काल और परिछिन्न काल। श्री ब्रह्मा महत्तम काल के अधिदेवता हैं तथा स्तंव लघुतम के। स्तंव की आयु का मापन परमाणुओं में और ब्रह्मा की कल्पों में किया जाता है। अनित्य काल नित्य काल के अधीन है। बाण धनुष की गति पर आधृत है। प्राण नाशक अनुचर की संज्ञा बाण है तथा प्राणहंता अविकारी धनुष है। यही दोनों की शक्ति का भेद है।

अग जग जीव नाग नर देवा। नाथ सकल जनु काल कलेवा ।।
अंडकटाह अमित लयकारी। कालु सदा दुरतिक्रम भारी ।। उत्तरकाण्ड

भारतीय ऋषि तत्त्वदर्शन की व्याख्या के लिए ऐसे प्रतीक चुनते थे जिसे पंडित और मूर्ख सब समझ लें। काल तत्त्व की व्याख्या के निमित्त भारतीय तत्त्वचिंता में चारु चाप, सुदर्शन चक्र जैसे प्रतीक ग्रहण किए गए हैं। चारुचाप ऐसा सुन्दर धनुप है जो नित्य गतिशील है, मानवेन्द्र राघव के हाथ है और जिसका दर्शन अत्यन्त मनोहर है। एक-एक क्षण जो बीत रहा है, वह उस काल धनु का ही एक-एक बाण है। लव, निमेष, मुहूर्त, अहोरात्र, पक्ष, मास, ऋतुएँ और संवत्सर इस चाप के सायक हैं। तत्त्व की दृष्टि से काल की ही रचना-शक्ति विश्व के रूप में मूर्त हो रही है। अतएव काल ही चारु चाप और महासायक है। इसे उपनिषदों में ब्रह्म कहा गया है। चाप का रहस्य स्थिति और गति है। किसी भी गति का स्रोत उसकी स्थिति में मिलता है। यह विज्ञान सम्मत शाश्वत नियम है। अपनी ध्रुवशील सत्ता रखते हुए परमतत्त्व विश्वरूपी चाप की गति में मूर्त हो रहा है।

रथ के रूपक से शरीरधर्मी आध्यात्म की चर्चा उपनिषदों में प्राप्त होती है। तुलसीदास ने लंकाकांड में विस्तार से स्वयं विरथी राम के मुख से अलौकिक रथ का वर्णन कराया है।

सौरज धीरज तेहि रथ चाका। सत्य शील दृढ़ ध्वजा पताका ।।
बल विवेक दम परहित घोरे। क्षमा कृपा समता रजु जोरे ।।
ईस भजनु सारथी सुजाना। विरति चर्म संतोष कृपाना ।।
दान परसु बुधि शक्ति प्रचंडा। वर विज्ञान कठिन कोदण्डा ।।
अमल अचल मन त्रोन समाना। सम जम नियम सिलीमुख नाना ।।
कवच अभेद विप्र गुरु पूजा। एहि सम विजय उपाय न दूजा ।।
सखा धर्ममय अस रथ जाके। जीतन कहुँ न कतहुँ रिपु ताके ।।

सम, जम, नियम को उन्होंने शिलीमुख की संज्ञा दी है जिनसे कामादि दोषों का विनाश किया जाता है। इस दृष्टि से शिव के त्रिशूल (त्रयः शूल निर्मूलनं शूलपाणिम्), परशुराम

के परशु और राम के वाण का स्वरूप विचारणीय है। तीन शूलों में काम, क्रोध और लोभ को ग्रहण किया जाता है। शिव ने अपने प्रज्ञा रूपी तीसरे नेत्र से काम को भस्म कर दिया।

क्रोधं प्रभो संहर-संहरेति, यावद् गिरं खे मरुताश्चरन्ति।
तावत स बह्नि भवनेत्र जन्मा, भस्मावशेषं मदनश्चकार ॥ —कुमारसंभव

भस्मावलेप कर लोभ को पूर्णतया पराभूत किया। विष के शमन से क्रोध की अग्नि को बुझा दिया। इस प्रकार अपने त्रिशूल की शक्ति से तीनों प्रमुख शूलों से मुक्त हो गए। पारमार्थिक दृष्टि से यह विधान उचित हो सकता था परन्तु इससे व्यवहार और भक्ति नहीं सरती थी। परशुराम ने अपने परशु से तीनों दोषों को काट दिया, उन्हें वशीभूत नहीं किया। इससे अहंकार बढ़ गया। धनु पर उनका ममत्व शेष रह गया (यही धनु पर ममता केहि हेतू ?) सुकृतों के अभिमान के दर्प में क्रोध शेष था। रमापति के धनुधारी ने त्रिशूल और परशु के आध्यात्म का परिष्कार किया। उनका आध्यात्म वाण के तीन कोणों से नियंत्रित है। जिसके अनुसार सामने के फलकोण से क्रोध निश्शेष किया जाता है। सम्यक् व्यवहार तथा भगवत्भक्ति की संप्राप्ति के निमित अपनी ओर आवर्जित दो फलकोणों से काम और लोभ को वेधकर वश में किया जाता है। काम का फल बाएँ, क्रोध का आगे और लोभ का दाएँ हैं। काम के आक्रमण से आत्मरक्षा के लिए काम शक्ति स्त्री को वामांग में स्थान देते हैं। क्रोध का आक्रमण सदा सामने से होता है। उस समय विवेक का लोप हो जाता है। शम के माध्यम से विवेक स्थिर रखकर क्रोध पर जय प्राप्त किया जाता है। दाएँ हाथ से दानादि त्याग के नियम से लोभ पर जय प्राप्त होती है। वास्तव में, इसी शिलीमुख के संस्कार से महा अजय संसार रिपु को कोई वीर जीत सकता है। इसी निमित्त कामादि दोषों से मानव को मुक्त रखने के लिए महावीर हनुमान श्रीराम से याचना करते हैं। वे सदा चाहते हैं कि उनके हृदय आगार में राम सदा शरचाप धारण कर निवास करें ताकि वह सकल कलि कलुष से निर्मल रहे। यह थल या हृदय राम को अत्यन्त प्रिय हैं। इसी का भाष्य देखें—

नदी पनच सर सम दम दाना। सकल कलुष कलि साउज नाना ॥
चित्रकट जनु अचल अहेरी। चुकई न घात मार मुठ भेरी ॥
अस कहि लखन ठाउ देखरावा। थल बिलोकि रघुवर सुख पावा ॥

११ वर विज्ञान कठिन कोदण्डा—भारतीय तत्त्वदर्शन में काल और दिक् को नौ सत्यों में स्थान दिया गया है। काल सत्य रूप में स्थित है। वह स्वतंत्र शक्ति है, परन्तु नौ सत्यों के नियामक आत्मा के हाथ है (पाणौ महासायक चारु चापम्।) कोदण्ड अपनी नौ गाँठों या नौ सत्यों के अन्तर्भूत हैं। सभी गोचर वस्तुएँ गतिशील, परिवर्तनशील, आविर्भूत और तिरोभूत होती दिखाई देती हैं। वे पैदा होती हैं और नष्ट हो जाती हैं। वे स्वत: अपना जन्म और विनाश नहीं कर सकतीं। उनका नियमन करने वाली कोई शक्ति है। विश्व में सारी चीजें किसी नियम और व्यवस्था के अधिन गतिमान हैं। वे काल के अनुकूल व्यक्त होती हैं। इससे ज्ञात होता है कि अवश्य ही कोई ऐसी शक्ति है जो व्यवस्था की नियमित गति, ऋतु के अनुकूल आविर्भाव और तिरोभाव करती है। यह

गति का महा-सिद्धान्त है जिसका उन वस्तुओं से सामान्य संबंध है जो गतिशील हैं, आविर्भूत हैं, परिवर्तनशील हैं तथा नाशवान हैं। इसी शक्ति या वस्तु को हम काल कहते हैं। यह सम्पूर्ण विश्व को परिव्याप्त कर अधिष्ठित है :

लखन दीख पय उतर करारा। चहुं दिसि फिरेउ धनुष जिमि नारा ॥

वस्तुतः धनुष या महाकाल ही वह परम सत्य है जो गतिशील और परिवर्तन शील वस्तुओं का सहसंबंध स्थापित करता है। उनकी श्रेष्ठता का नियमन करता है जिसके अनुसार हम एक के सापेक्ष दूसरे को पुराना अथवा नया कहते हैं।

सापेक्ष स्थिति के सिद्धान्त या शक्ति को दिक् या बाण कहते हैं। विश्व में वस्तुएँ केवल गतिशील और परिवर्तनशील ही नहीं हैं, वे एक दूसरे के सापेक्ष स्थित हैं। वे काल के प्रत्येक क्षण एक दूसरे के सापेक्ष दूरी पर विराजमान रहती हैं। कालरूपी चाप की विविध दिशाओं में कार्यशील यही बाण-शक्ति है। यह चाप-संचालन की विपरीत दिशा में कार्य करती है। इस तरह काल की विपरीत दिशा में कार्य सम्पादन कर काल के प्रत्येक क्षण संसार की सापेक्ष स्थिति को संभव करती है। यहाँ भी हम देखते हैं कि वस्तुएँ अपनी सापेक्ष स्थिति अपने आप स्थिर नहीं रख सकतीं क्योंकि वे पृथक् भाव से एक दूसरे से अलग हैं। उन्हें एक साथ धारण करने के लिए कोई अन्य शक्ति अपेक्षित है। जब सम्पूर्ण जगत काल के आधार पर गतिशील है तब एक दूसरे की स्थिति का संबंध और उनकी अपनी-अपनी स्थितियों का प्रतिवारण क्यों और कैसे होता है ? सर्वव्याप्त आकाश वह तत्त्व नहीं हो सकता जो सापेक्ष स्थिति कायम रखे। विशेष संबंधों में प्रवेश पाए बिना वह उनको प्रभावित करने और उनका संचालन करने में असमर्थ है। काल की विपरीत दिशा में कार्य-संचालक शक्ति से सापेक्ष स्थिति संभव है। इस शक्ति को हम बाण या दिक् कहते हैं। आकाश में दिक् चीजों को विविध स्थितियों में धारण करता है। दिक् अपने अस्तित्व के लिए किसी अन्य पर निर्भर नहीं है। उसका सब चीजों से संबंध है, इसलिए उसे सर्वव्याप्त माना जाता है क्योंकि विश्व में सभी पृथकभावेन व्यक्त वस्तुएँ सापेक्ष स्थितियों में विद्यमान हैं। इस प्रकार काल और दिक् अथवा धनुष और बाण आकाश या पवन के अनन्त विस्तार में सचराचर विश्व को धारण करते हैं। वह सदा सम्यक् व्यवस्थित होकर ऋतु चक्रों में गतिशील है तथापि अपने विविध जीवों के बीच स्थिति क्रम कायम रखे है।

चेतन आत्मा राम प्रत्येक चेतन शरीर में विद्यमान है। वह शाश्वत है। उसे उत्पन्न नहीं किया जा सकता, न उसका नाश किया जा सकता है। शाश्वत होने के नाते वह अनन्त है। सर्वव्याप्त है अर्थात् वह प्रत्येक वस्तु से संबंधित है। सम्पूर्ण विश्व आत्मा के कृत्यों से रूपायित है। इसलिए आत्मा का सब चीजों से प्रगाढ़ सम्बन्ध है और उसके हाथ में या अधिकार में महासायक और चारु चाप है।

उमा न कछु कपि कै अधिकाई। प्रभु प्रताप जो कालहि खाई ॥
जाके डर अति काल डेराई। जो सुर असुर चराचर खाई ॥
तात राम नहिं नर भूपाला। भुवनेश्वर कालहु कर काला ॥

तुलसीदास की लोक-चेतना

डा० रेणुका देवी (प्राचीन छात्रा)

विश्वकवि तुलसीदास हिन्दी साहित्य और भाषा के ज्वलन्त नक्षत्र हैं। इनकी रचनाओं की दीप्ति से भारतीय जन मानस और लोक-जीवन का जैसा यथार्थ और सजीव चित्र दीपित होकर उपस्थापित होता है वैसा अन्यत्र दुर्लभ है। काव्य प्रतिभायें अनेकों होती हैं, पर तुलसी की काव्य-प्रतिभा ने भारतीय लोक जीवन और जन-मानस के अन्तरतम में प्रवेश कर उसके भीतर छिपे हुए जीवन के भाव सत्य की जो मार्मिक अभिव्यञ्जना की है, वह अन्यत्र दुर्लभ है।

कवि और लोक, काव्य एवं लोकपक्ष का सम्बन्ध अन्यतम है, क्योंकि कवि के समूचे जीवन की निर्मिति लोक-मानस के हलचल से आन्दोलित (Move) होकर होती है। किसी भी कवि की महानता लोकपक्ष के उस आन्दोलनात्मक विन्दु की गरिमा की सम्यक् प्रतीति में है, क्योंकि विन्दु से वृत और वृत्त से सम्पूर्ण जीवन की रहस्यात्मक अनुभूति का आवर्त प्रकट होता है। जिन कवियों ने जीवन के एक अंग को लक्ष्य कर अभिव्यक्ति का प्रयत्न किया वे भाव सत्य के एकांगी प्रस्तुतीकरण तक ही रह गये। तुलसी की लोक दृष्टि जनमानस एवं भारतीय सहज जीवन की समग्रता का वोध उसके समस्त वैविध्य पूर्ण आयामों सहित कराती है। परिणामतः तुलसीदास की वाणी से उद्भूत जीवन का रागसत्य भारतीय जनता की अपनी अनुभूति वन गया है। यह कहने में कोई भी हिचक नहीं होनी चाहिए कि तुलसी की समस्त अनुभूति उनकी जातीय अनुभूति है। कोई भी कवि जातीय अनुभूति से तभी दीप्त होता है जब उसकी प्रतिभा में देश की समूची सांस्कृतिक परम्परा अपनी प्रयोगशीलता सहित उछाल लेने लगती है। तुलसीदास भी ऐसे ही प्रतिभा सम्पन्न कवि है जिन्होंने लोक मानस की अन्तंव्यथा, सुख, दुःख, आनन्द, पीड़ा की सहज अनुभूति की है। तुलसी की लोक तात्विक दृष्टि की महत्तम उपलब्धियां हैं जीवन को खंड-खंड में न देखकर उसकी सम्यक अनुभूति करना। प्रस्तुत निवन्ध का विषय तुलसी की लोक-चेतना का अनुशीलन है। अतः इस संदर्भ में लोक दृष्टि, लोक-तत्व, लोक-वार्ता, लोक में प्रयुक्त होने वाली रूढ़ियों की व्याख्या आवश्वक है।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने तुलसी साहित्य पर विचार करते हुए तुलसी के लोकपक्ष और लोक मंगल की ओर अध्येताओं का ध्यान आकर्षित किया है।[१] लोक तत्व के कौन-कौन से प्रमुख अवयव हैं जिनके आधार पर तुलसी के साहित्य को रेखांकित किया जा सकता है। तुलसी की लोक संस्कृति एवं लोकवार्ता पर विचार तो प्रस्तुत हुआ है, पर उनकी रचनाओं में लोकतत्व एवं समन्वयात्मक प्रतिभा का संगुम्फन है, इस दृष्टि से विचार नहीं हुआ है। तुलसी की रचनाओं की हर पंक्ति लोक मानस की सहज में निकली हुई वाणी लगती है। इसी कारण तुलसी के काव्य की भाषा आभिजात्य भी न होकर जन-जन

---

[१] गोस्वामी तुलसीदास—रामचन्द्र शुक्ल : पृ० २५; ४३

के साथ लोटती हुई चलती है। तुलसी के लोक-पक्ष का सबसे महत्वपूर्ण तत्व जन जीवन की सम्यक् पहिचान और उसकी भाषा को काव्य की भाषा में उतार कर ढाल देना है। विभिन्न विद्वानों ने इस संदर्भ में यत्र-तत्र विचार तो किया हैं, पर तुलसीदास की समूची रचना के संदर्भ में उसकी क्या अन्विति है इसका वैज्ञानिक निरूपण नहीं हो सका है। इसी को दृष्टि में रखकर यहां तुलसी की लोक चेतना का अनुशीलन किया जायगा।

तुलसी का लोकमत और वेदमत :

काव्य में लोक और वेद का समन्वय प्रतिभा सम्पन्न कवि ही कर सकता है। तुलसीदास ऐसे ही प्रतिभा सम्पन्न कवि हैं जिनके काव्यों में लोकमत और वेदमत का मणि-कांचन योग है। आवश्यकता लोकमत और वेदमत को स्पष्ट करने की है। वेदमत के अन्तर्गत समस्त शास्त्रीय और परंपरित जीवन मूल्यों एवं पद्धतियों को समाहित किया जा सकता है। परंपरानुमोदित आचार विचार नैतिक मानदंड जीवनदर्शन, धर्म, कर्मकांड आदि विषय वेदमत के अन्तर्गत ही हैं। तुलसी ने काव्य में मानवीय जीवन मूल्यों का औचित्य एवं अनौचित्य निर्दशित करने के लिए ही लोकमत एवं वेदमत का समन्वय किया है। वस्तुतः उनके काव्य में लोकमत का भूल अभिप्राय जीवन में स्वीकृत सामाजिक आचार विचार रहन-सहन, वेश-भूषा, अलंकरण एवं समग्रतः जीवन के व्यावहारिक मूल्यों का समावेश है। वेदमत सांस्कृतिक जीवन यापन की परम्परायें हैं। जीवन के सांस्कृतिक मूल्यों के अन्तर्गत समस्त शास्त्रानुमोदित परम्पपायें एवं मान्यतायें हैं जिनका ग्रहण जीवन में तदवत होता है। पर कभी-कभी जीवन के व्यवहार में वेदमतों की अवहेलना करके युगचेतना के अनुरूप जीवन को नये भाव बोध में ढाल दिया जाता है। वेदमत में कुछ तथ्यों का निर्देश नहीं होते हुए भी लोक मांगल्य की दृष्टि से लोकमत को ग्रहण करना आवश्यक हो जाता है।

काव्य के संबंध में वेदमत और लोकमत का रहस्य क्या है ? वेदमत एक शास्त्रानु-मोदित सरणी के गतानुगतिकता का द्योतक है। इसमें क्यों नहीं होता। वेदमत में केवल 'हैं' होता है। तुलसी के काव्य में शाश्वत जीवन मूल्यों की प्रतिष्ठा है। उन्होंने किसी भी तत्व की परंपरा को मोड़कर अपनाया है। परिणामतः उनके काव्य में कबीर की भांति परंपरा का खंडन नहीं मिलता। तुलसीदास ने तो उसके ऊपर पड़ी हुई रुढ़ात्मक पर्त को हटाकर उसे युगीन चेतना के अनुरुप ढालने का प्रयास किया है। परिणामतः तुलसी का काव्य लोक और वेद का समन्वयात्मक पुष्प बन गया है। लोकमत वेदमत की अपेक्षा अधिक सुलभ मार्ग है। इसकी महता को प्रतिपादित करते हुए डा० स्वामीनाथ शर्मा ने कहा है— लोकमार्ग या लोकमत की इस महत्व पूर्ण स्थिति का मूल कारण यह है कि लोक किसी भी शास्त्रीय चेतना का आदि स्रोत है।[१] लोक ही वह उद्गम स्थान है जहाँ से संपूर्ण समाज के व्यावहारिक जीवन को ओतप्रोत करने वाला विशाल शास्त्र नद अवतीर्ण होता है और वही उसकी उपयुक्तता, आवश्यकता और उपयोगिता की कसौटी भी बनता है। लोक एक तत्व है। लोक या शास्त्र को सदा उसकी सापेक्षिकता बनी रहती है। लोक सम्मत वेदमार्ग ही व्यावहारिक है। वेदमत शास्त्रगत होता है। अतः इसकी सशक्तता उतनी

[१] मानस मंथन—डॉ० स्वामी नाथ शर्मा—पृ० ३५४।

मुखर नहीं होती। यह सर्वसुलभ नहीं होता। इसकी सामाजिक स्वीकृति इतनी दृढ़ नहीं होती। इससे इसी व्यवहारगत अन्तर के कारण संभवतः गोस्वामी जी ने लोक को वेद से पहले रखा।

तुलसी के काव्य का लोकपक्ष उनकी लोक चेतना का प्रतिफल है। लोक चेतना से तात्पर्य कवि के उस प्रतिभा सम्पन्न सर्जनात्मक दृष्टि से है जो जन-जीवन में व्याप्त जीवन दर्शन के मूलभूत सिद्धान्तों को समन्वित करके चलती है। काल में लोकतत्व को दो धरातल पर प्रयुक्त किया गया है। पहला धरातल लोक मानस की समूची पद्धति को सहजभाव से अनुभव कर संचित संवेदनाओं को मुखर करना है। लोकपक्ष संवेदना से संयुक्त होकर जीवन को मार्मिक ढंग से उभारता है। दूसरा धरातल लोक तत्वों को प्रयास पूर्वक काव्य में संगुम्फन करने का है। इससे उसके सतही धरातल के चित्र उभरते है। यह काव्य में लोक तत्व का दृष्टिमूलक तत्व है। संवेदना के साथ दृष्टि का संयोजन काव्य को प्रभावकारी बनाता है। तुलसी के काव्य में लोक दृष्टि और संवेदना का उचित समन्वय है।

लोक दृष्टि एवं संवेदना का औदात्य:

तुलसी के काव्य में जैसा कि कहा जा चुका है लोक तत्व का दृष्टिमूलक और संवेदना मूलक समन्वय है। काव्य एवं काव्यभाषा की जीवन्तता के लिए दोनों का समन्वयात्मक प्रयोग आवश्यक है। इस दृष्टि से तुलसीदास का काव्य एवं उनकी भाषा उदात्त है। काव्य के संदर्भ में लोक शब्द जनसमूह के उस संस्कारगत चेतना को घोषित करता है जो सभ्यता जन्य वाह्य विकारों से मुक्त है। सामान्य लोकमानस की उच्छवसित भावनाओं का संकलन और प्रकाशन ही लोक तत्व का प्राण है। मूलतः लोक तत्व में जन मानस की सहज भावनायें जो बनावटीपन से पूर्णतः मुक्त है, व्यक्त होती हैं। लोक तत्व से केवल ग्राम्यता का बोध न होकर उस तत्व विशेष का बोध होता है जिसका आधार शास्त्र सम्मत न होकर लोकमानस में मौखिक परंपरा से प्राप्त भावनात्मक एवं विचारात्मक चिन्तन है। तुलसीदास ने अपनी चेतना को जिस भूमि से वाणी दी है वह आभिजातीय गरिमा से शून्य है। इसी कारण उनमें लोक तत्वों की निश्छल अभिव्यक्ति है। इसीसे उनकी रचनाओं का प्रभाव जनमानस पर अधिक पड़ता है। तुलसीदास ने लोक जीवन का मानस चक्षु से दर्शन किया है, और उन तत्वों की व्याख्या 'ग्राम्यगिरा' में की है। उन्होंने लोक प्रचलित रीति रिवाजों रुपकों तथा प्रतीकों के माध्यम से भावनाओं की अभिव्यक्ति की है, यह तुलसी की लोक तात्विक दृष्टि के लिये एक महत्वपूर्ण तथ्य है।

तुलसीदास का जन्म लोक क्षेत्र में हुआ है। इसलिये जन-मानस को अधिक निकट से पहचानने की उनकी दृष्टि सहजात है। जन-समुदाय से विशेष रुप से संबंधित होने के कारण उनकी रचनाओं में लोक संस्कृति से संबंधित वस्तुओं, पदार्थों एवं व्यापारों का प्रयोग मिलता है। यही कारण है कि तुलसी की रचना में जन-मानस के रीति-रिवाजों त्योहारों आदि का प्रयोग है। लोक-संस्कृति के संकेतों को निम्न प्रकार से वर्गीकृत किया जा सकता है:

१—परंपरागत जन विश्वासों का प्रयोग।
२—संस्कार सूचक स्थितियों का निवेशन।

३—त्योहारों का प्रयोग।

४—शिष्टाचार एवं मनोविनोद के साधनों का प्रयोग।

५—व्यवसाय और व्यसन सूचक स्थितियों का प्रयोग।

६—लोक व्यवहार में उपयोगी वस्तुओं का समावेश।

७—मनोविनोद एवं सज्जा सूचक शब्दों का प्रयोग।

८—पारिवारिक वातावरण से संबंधित स्थितियों का निरुपण।

(क) संबंधियों के लिये प्रयुक्त शब्द।

(ख) खान, पान सूचक वर्णन।

(ग) वेश-भूषा।

(घ) स्फुट कृत्यों के सूचक तत्व।

(ङ) सामान्य दैनिक चर्या के द्योतक तत्व।[1]

संबंधसूचक लोक प्रचलित शब्दों के प्रयोग के माध्यम से तुलसीदास ने काव्य में लोक संस्कृति को उपस्थापित किया है। उदाहरण के लिये पार्वतीमंगल और श्रीकृष्ण-गीतावली का उद्धरण द्रष्टव्य है :

(क) फिरेउ मातु पितु परिजन लखि गिरिजा-पन।
जेहि अनुरागु लागु, चितु, सोइ हितु आपन॥[2]

(ख) नहिं कछु दोष स्याम को माई।
जो दुख में पायों सुनि सजनी सो तो सबै वन की चतुराई॥[3]

उक्त दोनों बंधों में आये शब्द मातु, पितु, माई लोक में प्रचलित संबंधों को व्यक्त करने वाले शब्द हैं। इसी प्रकार खान, पान को व्यक्त करने वाले तत्व भी पाये जाते हैं :

(क) मेरे कहा वाकु गोरस को नवनिधि मंदिर चामहि।
ठाली ग्वालि ओरहने के जिस आह बकहि बेकामहिं॥[4]

(ख) चाटत रह्यो स्वान पातरि ज्यों कबहुं न पेट भरो।
सो हौं सुमिरत नाम सुधारस देखत परुसि धरो॥[5]

(ग) दधि चिउरा उपहार अपारा। भरि भरि कांवरि चले कहारा॥[6]

लोकतत्व के संदर्भ में 'गोरस' (पेय सूचक) शब्द और पातरि (पत्तल) खाद्य सामग्री में 'चिउरा' दही आदि द्रष्टव्य है।

तुलसी के काव्य में षोडष संस्कारों का उल्लेख मिलता है। मुख्य रूप से तुलसी द्वारा वर्णित संस्कार सात हैं। ये क्रमशः इस प्रकार हैं जातकर्म, नामकरण, चूड़ाकरण, कर्णवेध, विवाह और अन्त्येष्टि। इसी प्रकार लोकसंस्कृति में प्रचलित कृत्यों छठी, बारही,

---

[1] तुलसी की भाषा—देवकीनंदन श्रीवास्तव।
[2] पार्वतीमंगल—३७।
[3] श्रीकृष्णगीतावली—२५।
[4] वही—५।
[5] विनयपत्रिका—२२६।
[6] रामचरितमानस—बालकांड।

नहछू, मधुपर्क, तेल चढ़ावा अगवानी, लगनदेना, परिछन, नेगाचार, शाखोचार, होम, लावा, सिलमोहनी लहकोरि, कन्यादान आदि का भी इनकी रचनाओं में समावेश है। लोक में प्रचलित संस्कारों एवं सांस्कृतिक कृत्यों के साथ ही साथ परम्परागत जन विश्वासों : सगुन, असगुन, अंधविश्वास, उपचार, टोटका आदि का प्रयोग हुआ है। जिस प्रकार लोक विश्वासों का प्रयोग हुआ है उसी प्रकार लोक प्रचलित काव्य रूपों का भी प्रयोग तुलसी ने किया है। पदों को विभिन्न राग रागिनियों, में बांधने का प्रयत्न किया है। काव्य रूपों के साथ भाषा के संबंध में भी वही बात है। लोकभाषा का प्रयोग उनकी सभी रचनाओं में किसी न किसी रूपों में मिलता है। तुलसी ने पार्वतीमंगल, जानकीमंगल और रामललानहछू में पूर्वी अवधी का प्रयोग किया है। इसी कारण इनकी भाषा जनमानस की दैनंदिनी क्रिया में प्रयुक्त भाषा से मेल खाती है। पदों का निर्माण, वाक्य विन्यास, कारक और विभिक्तियों का प्रयोग कहीं-कहीं लौकिक बलाघात पर हुआ है। विभिन्न प्रकार के लोक प्रचलित शब्दों सुहावन, पनही, मांडव, नहछू, तुहुप आदि का प्रयोग द्रष्टव्य है। सामान्यजन में प्रचलित विभिन्न लोकोक्तियों का प्रयोग भी उनके काव्य में मिलता है।

(क) मांगि के खैवो मसीत को सोइबो।
लेवे को एक न, देवे को दोउ॥

(ख) मन मोदकनि की भूख बुताई।

यहाँ तक तुलसी की लोक भाषागत वैशिष्ट्य का संक्षिप्त विवेचन हुआ, पर इनके काव्य में प्रयुक्त लोकतत्व की परिसमाप्ति यहीं नहीं होती। तुलसीदास ने "पार्वती मंगल" में संस्कारगत लोकविधि का प्रयोग किया है :

रोंकि द्वार मैन कौतुक तब कीन्ह्यो।
करि लहकोरि गोरिहर बड़ सुख दीन्हो।

जब समाज में प्रचलित व्यंग्य विनोद का उदाहरण "राम लला नहछू" में द्रष्टव्य है :

काहे राम जिव सांवर लछिमन गौर हो
कि दुहुरानि कौसिलहिं परिगाभार हो॥

तुलसी का काव्य लोक तत्व के प्रयोग की दृष्टि से अनूठा है। इसमें लोक में प्रचलित समस्त उपादानों, आचार-विचारों, संस्कृति, रहन-सहन, वेशभूषा, आदि का प्रयोग हुआ है। सबसे महत्वपूर्ण बात तुलसी की 'ग्राम्यगिरा' के संबंध में है। इनका समूचा काव्य लोक भाषा के मर्म को पहचान कर रचा गया है। काव्य भाषा के प्रयोग में लोक-भाषा की लय एवं अर्थान्विति को ग्रहण करते हुए तुलसी ने अपने समूचे काव्य की संरचनात्मक एकान्विति को बनाये रखने का प्रयास किया है। समग्रतः लोक भाषा के प्रयोग की आंतरिक एकान्विति की दृष्टि से तुलसी का समूचा काव्य औदात्यपूर्ण है।

मानस में आगमिक तत्त्व

डा० राममूर्ति त्रिपाठी (प्राचीन छात्र)
आचार्य एवं अध्यक्ष, विक्रम विश्वविद्यालय (उज्जैन)

'मानस' कार को प्रतिज्ञा है कि उसने अपनी प्रकान्त कृति को 'नानापुराणनिगमागम-सम्मत' निर्मित किया है। अर्थात् पुराण और निगम सम्मत तो 'मानस' में है ही, 'आगम' सम्मत भी है। 'निगम' समकक्ष 'आगम' का प्रयोग अपनी भिन्नार्थकता में ही सार्थक है—अन्यथा पौनरुक्त्य ही सम्भव है—जो दोषावह है। इस संदर्भ में दो प्रश्न हैं—एक तो यह कि उन्हें 'आगम' किस अर्थ में इष्ट है और दूसरा यह कि आगमिक तत्त्व 'मानस' में कहाँ और किस रूप में है ?

भारतीय वाङ्मय में 'आगम' शब्द अनेक अर्थों में प्रयुक्त मिलता है, पर वर्तमान संदर्भ में 'आगम' को अपनी व्यावर्तक विशेषताओं के साथ 'निगम' से भिन्नार्थक' ही मानना होगा। आगम का स्वतंत्र अस्तित्व तभी संभव है जब उसमें कुछ ऐसी चीजें हों, जो 'निगम' में न हों। इस विवाद में गहरे उतरना प्रसंगान्तर होगा, अतः निष्कर्ष रूप में इतना ही कहना चाहता हू कि शक्तिमान के साथ शक्ति की चिन्मयी कल्पना 'आगम' धारा की अपनी ऐसी असाधारण विशेषता है जो निगममूलक आस्तिक (दार्शनिक) धारा में उपलब्ध नहीं होती। न्याय वैशेषिक तो 'शक्ति' को अतिरिक्त पदार्थ ही नही मानता, मीमांसा मानती भी है तो जड़। सांख्य और पातञ्जल की अपरिणामिनी चिति शक्ति पुरुष या शक्तिमान का नामान्तर ही है—वह उसकी 'शक्ति' नहीं है। यही स्थिति वेदान्त अर्थात् उत्तर मीमांसा की भी है जहाँ अनिर्वचनीय जड़ात्मिका मायाशक्ति से भिन्न किसी ब्रह्माश्रित चिन्मयी शक्ति की सत्ता नहीं है। द्वैतवादी वैष्णव वेदान्त में ह्लादिनी के रूप में जहाँ स्वरूप शक्ति की चर्चा मिलती है उसे मैं आगमिक प्रभाव मानता हूँ। विषम प्रकृति सर्ग के अभाव में चरमसत्ता को इसीलिए आगमिक धारा में 'समरस' या 'सम' तत्त्व कहा गया है। यही द्वयात्मक अद्वय सत्ता चरम सत्ता है—समरस है। आगामिकों का गंतव्य और प्राप्य यही समरसीभाव है। यद्यपि इस द्वयात्मक अद्वय की झलक उपनिषदों तथा संहिताओं में भी मिलती है, तथापि उसका उपवृंहण आगमिक धारा में ही मिलता है, नैगमिक दर्शनों में नहीं। 'तदेजति तन्नैजति'—से अद्वय के स्वरुप की स्पंदनिः स्पंदात्मक या उभयात्मक कल्पना की गई है। निरञ्जनः साम्यमुपैति'—से स्पष्ट है कि जीवात्मा अंजन हीन होने पर साम्यात्मक मूलरुप को पा लेता है।

मानसकार ने भी देवताओं से स्तुति कराते हुए कहलवाया है—'तुम्ह समरुप ब्रह्म अविनासी' अर्थात् राम संज्ञक चरमसत्ता 'सम' है—जिसका द्वयात्मक होना अनिवार्य है। ये दो हैं—राम और सीता—पुरुष और नारी, ऋणात्मा तथा धनात्मा अथवा निःस्पंदात्मा तथा स्पंदात्मा। सीता, राम की वह स्वरुपभूता शक्ति है जो न भिन्न है और न अभिन्न

'गिरा अर्थ जल बीचि सम कहियत भिन्न न भिन्न'

वाग ही अर्थ रुप में और जल ही वीचि रुप में परिणत होता है—सीताराम की वह वल्लभा है जो उद्भव, स्थिति, संहारकारिणी है, इतना ही नहीं, वह सर्वश्रेयस्करी भी है। वह राम की ही अपनी शक्ति है। आचार्य शंकर की माया से मानस 'की' माया 'भिन्न है। यद्यपि संसार का संभव माया द्वारा ही उभयत्र है तथापि शंकर का ब्रह्म उदासीन है और मानस का लीलाकर'। वही स्वारसिक लीला के निमित 'माया' को प्रेरित करता है और स्वयम् में बलहीन माया उसी के वल से सब कुछ करती है—'प्रभु प्रेरित नहि निज वल ताके' वह शक्ति मूलतः उसकी इच्छा ही है—इसीलिए वह भिन्न नहीं है। इसीलिए आगमिकों के स्वर में—

'निरुपादानसंभारभमित्तविव तन्वते'

मानसकार भी कहते हैं

'जेहि सृष्टि उपाई त्रिविध वनाई संग सहाय न दूजा'

इतना अवश्य जान पड़ता है कि 'इच्छा' का ही परिणत रुप 'माया' है, पर स्तर में उससे परवर्ती तथा स्थूल। इसीलिए मानसकार कहता है—

निज इच्छा निर्मित तनु माया गुन गोपार

राम का शरीर राम की 'इच्छा' की सृष्टि है, पर माया के गुणों से अतीत है, वह मायिक नहीं है। आगमिक भी 'महामाया' से स्थूल स्तर 'माया' का मानते हैं। यह महामाया चिन्मयी स्वरुपभूता शक्ति है। सीताराम की महामाया की स्थानापन्न शक्ति ही है। निष्कर्ष यह कि चरमतत्व की द्वयात्मक अद्वय रुप 'सम' कल्पना आगमिक ही है।

"सृष्टि के रूप में आत्मप्रसार 'लीला' के लिए—यह तथ्य भी वैदिक दर्शनों में दृष्टिगोचर नहीं होता। जिन द्वैतवादी वेदान्तियों ने इसकी चर्चा की है—वे आगमिक प्रभावापन्न हैं। धर्महानि, अधर्मवृद्धि तथा भक्तानुग्रह—आदि जिन निमित्तों की चर्चा की गई है—उन्हें लीला का अंग ही समझना चाहिए। मानसकार ने निर्गुण से सगुण को जो कठिन कहा है - वह इसी रहस्यमयी लीला के कारण ही। ऐश्वर्य लीला के चरित सुगम हैं पर रसमयी लीला के चरित इतने अगम हैं कि उन्हें सुनकर बड़े-बड़े मुनियों को भी भ्रम हो जाया करता है। सर्वतंत्र स्वतंत्र चरमसत्ता आत्मसंकोच और आत्म प्रसार उभयथा आत्म रमण करता रहत है, इसीलिए तो 'राम' कहा जाता है।"

आगम मानता है कि सृष्टि आनन्दात्मिका लीला वृत्ति का ही समुच्छलन है—आत्मशक्ति का ही प्रसार है। द्वयात्मक अद्वय की ही परिणति सृष्टि है। मानसकार का भी वड़ी ही सीधी सादी भाषा में उद्घोष है—

'सीय राम मय सब जग जानी'

सारा जग या संसार सियाराम मय द्वयात्मक अद्वय की ही तो परिणति है। सृष्टि का चाहे जड़ तत्त्व हो या चेतन सभी ऋणात्मक-धनात्मक तत्वों के एजजुट रूप हैं। विज्ञान भी अब मानने लगा है जड़ पदार्थों के संघटक अंतिम अवयुति अब अणु-परमाणु नहीं हैं—अपितु ऋणात्मक धनात्मक वैद्युत प्रवाह है। इसी प्रकार जीव द्रव्य का भी अंतिम संघटक डी० एन० ए० तथा आर० एन० ए० है।

सृष्टि में भोग्य (जड़) और भोक्ता (जीव) ही नहीं हैं, इनके अतिरिक्त एक तीसरा तत्त्व है—भोगायतन-शरीर। शरीर के विषय में भी आगमों की अपनी धारणा है। न्याय, वैशेषिक स्थूल शरीर, सांख्य-पातंजल इसके साथ सूक्ष्मशरीर तथा अद्वैत वेदांत इन दोनों के साथ कारण शरीर तक का कल्पना करता है। आगम इससे भी आगे बढ़कर विशुद्ध सत्वात्मक अप्राकृत जगत् और शरीर की भी बात करता है—इतना ही नहीं, वह चिदानंदमय शरीर की सत्ता भी बताता है। इस प्रकार अगम पंचविधि शरीर-भोगायतन की बात करता है—

शरीर
- चिन्मय
- अचिन्मय
  - विशुद्ध सत्वात्मक
  - त्रिगुणात्मक
    - कारण
    - सूक्ष्म
    - स्थूल
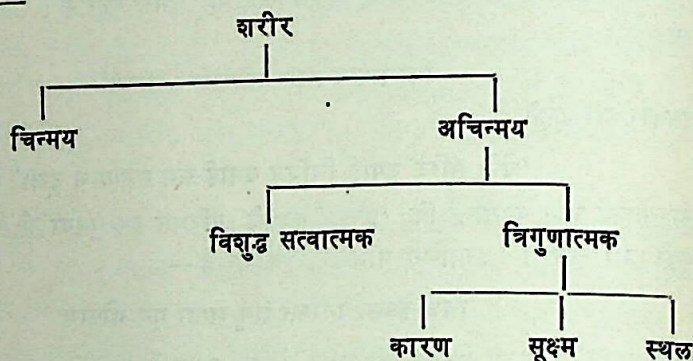
इनके अतिरिक्त मृत्यु एवं जन्म के बीच का एक आतिवाहिक शरीर भी माना गया है। अस्तु ! गोस्वामी जी ने विशुद्ध चिदानन्दमय शरीर का भी उल्लेख किया है और आगमिक मान्यताओं में अपनी आस्था व्यक्त की है। उन्होंने महर्षि वाल्मीकि से कहलाया है—

"चिदानंदमय देह तुम्हारी। विगत विकार जान अधिकारी ॥"

परमतत्त्व, लीलातत्त्व, भोग्य भोक्ता तथा भोगायतन विषयक आगमिक तत्वों और उनमे मानसकार की आस्था का निवेदन करने के वाद सम्प्रति 'आरोहण' प्रक्रिया का जव विचार करता हूँ—तव लगता ह कि मध्यकाल का समूचा अध्यात्मजगत् आगमों के प्रभाव में था, यद्यपि भारत की धरती पर पूर्ण प्रतिष्ठित होने के लिए आगम अपनी श्रौत सम्बद्धता आवश्यक समझते थे। इसीलिए मानसकार इन सब आगमिक मान्यताओं का उल्लेख करते हुए भी 'निगम' के अनुसरण तथा श्रुति की सम्मति—का सर्वत्र उल्लेख करते चलते हैं।

आत्मविस्मृति अवरोहण के लिए आवश्यक है – जो 'स्वातंत्र्य' कलिप्त है। व्यक्ति अपनी इच्छा से आत्मविस्मरण कर सकता है, पर आत्मस्मरण-आत्मप्रत्यभिज्ञान आत्मविस्मृत के बूते का नहीं है। वह तो परमात्मा के अनुग्रह से ही संभव है। मानसकार ने कहा है –

'सोइ जानै जेहि देहु जनाई'

जनाना अनुग्रह साध्य है। यही अनुग्रह आगमिक भाषा में शक्तिदाता है। यह शक्तिपात कई मात्रा और स्तरों का होता है। यदि वह पूर्ण (तीव्र-तीव्र) हुआ, तो सद्यः आत्मस्मृति हो जायगी। यदि उसमें कमी हुई तो 'गुरु दीक्षा' से और उसमे भी कमी हुई तो साधक के 'उपाय' से आत्मस्मृति होती है। मानस में इन तीनों आगमिक साधनों का उपक्षेप है। मानसकार रागमार्गी साधना में आस्था रखते हैं—अतः 'भक्ति' को ही सर्वोत्तम 'उपाय'

समझते हैं—यहां तक कि उसे 'उपेय' तक पहुँचा देते हैं। इस आत्मस्मृति-साधिका 'भगति' की ओर साधक का औन्मुख्य तब तक संभव ही नहीं है जब तक राम-कृपा न हो-—शक्तिपात न हो। गोस्वामी जी ने कहा है—

सो मनि जदपि प्रगट जग अहई। रामकृपा बिनु नहिं कोउ लहई ॥

जिस राम की कृपा से वह 'भगति' मिलती है, वे राम ही कहते हैं—

'भगति तात अनुपम सुखमूला। मिलइ जो संत होइ अनुकूला ॥

राम कहते हैं कि यदि मुझे द्रवित करना है मेरी कृपा लेनी है तो वह 'भगति' के द्वारा ही संभव है—

जातें बेगि द्रवउँ मैं भाई। सो मम भगति भगत सुखदाई ॥
सो सुतंत्र अवलंब न आना। तेहि आधीन ग्यान बिग्याना ॥

अद्‌भुत् अन्योन्याश्रय है—भगति द्वारा अप्रत्यक्ष और अनुग्रह द्वारा भगति। इतना ही नहीं, वह 'भगति' राम द्वारा अप्रत्यक्ष पर 'गुरु' द्वारा 'प्रत्यक्ष' मिलती है। राम कहते हैं—

भगति तात अनुपम सुखमूला। मिलइ जो संत होइ अनुकूला ॥

इसीलिए आगमिकों के स्तर में मानसकार ने 'गुरु' की बड़ी महिमा गाई है। काकभुशुण्डि तो कहते ही हैं—

मोरे मन प्रभु अस बिस्वासा। राम तें अधिक रामकर दासा ॥

अन्यत्र भी मानसकार ने स्वनिबद्ध पात्र वाल्मीकि द्वारा कहलवाया है—

'तुम्हतें अधिक गुरहिं जिय जानी। सकल भाय सेवहिं सनमानी ॥'

प्रश्न यह है कि यह भगति अथवा उसके दाता गुरु मिलें कैसे? मानसकार का एक ही उत्तर है—

सुगम उपाय पाइबे केरे। नर हत भाग्य देहिं भट भेरे।

× × × ×

भाव सहित खोजै जो प्रानी। पाव भगति मनि सब सुख खानी ॥

बस यही एक रास्ता है।

भजनीय का भजन ही भक्ति है। भजनीय नामी है—उसके पास ले जाने वाला माध्यम है—नाम। इस प्रकार जो भक्त भजनीय से एक रूप होकर रसमग्न होना चाहता है—वह या तो भजनीय का 'रूप' ध्यान करता है अथवा उसका नाम जप करता है। वास्तविक 'रूप' तक पहुँचने का मार्ग नाम जप से ही होकर गया है। यह नाम ही मानसकार के शब्दों में 'महामंत्र' अथवा' 'मंत्रराज' है। मनन द्वारा त्राणकारी होने से ही यह मंत्र कहा जाता है और मंत्रों में भी सर्वाधिक शक्त होने के कारण मंत्रराज। इसी नाम या मंत्रराज के 'निरूपण' और 'जतन' से 'भक्ति' जैसा अनमोल रतन अपने 'उपेय' रूप में उपलब्ध हो जाता है। गोस्वामी जी ने नाम निरुपण तो बहुत किया है, पर नाम जतन पर कम प्रकाश डाला है। संभव है—यह उनका 'उपाय' है—अतः दुराव करना चाहा हो—

जोग जुगुति तप मंत्र प्रभाऊ। फलइ तबहिं जब करिअ दुराऊ॥ (बाल० १६७-४)

इसीलिए मौन हों। आगमों में इसका बड़ा ही विस्तीर्ण विवरण है। मानस में तो दो ही संकेत हैं—

नाम जीहँ जपि जागहि जोगी। (बाल० २१-१)

अथवा

रामनाममणि दीप धरु जीह देहरी द्वार

और

रटै नाम निसि दिन प्रति स्वासा।

मैं समझता हूँ—जीह जप प्रयत्न साध्य जप का उपलक्षण है। इसकी प्रक्रिया भी सब नहीं जानते, योगी ही जानते हैं। प्रयत्न साध्य जप हैं—वाचिक, उपांशु तथा मानस। शायद इस प्रयत्न साध्य को सहज तक ले जाने का संकेत दूसरा दे रहा हो—अर्थात् श्वास जप वाली उक्ति दे रही हो। अस्तु, नामजप नामी—साक्षात्कार का माध्यम है—इसमें कोई संदेह नहीं।

राग पूर्वक नामजप ही भक्ति है। भगवान् में राग लगाने से अन्यत्र स्वयम् विराग होने लगता है और दोनों की आनुपातिक वृद्धि से मनोगत वक्रता छलकपट-स्वयम् विगलित हो जाते हैं। राम की रचना से छलकपट करे—और राम का भक्त बने—यह दोनों कैसे संभव है?

'सरल सुभाउ न मन कुटिलाई'

राम की रचना 'शिव' है मंगलमय है, शिवद्रोही उनका दास कैसे हो सकता है? उनका दास शिवद्रोही हो ही नहीं सकता।

भक्त, भगवंत और गुरु की चर्चा तो यथासंभव थोड़ी बहुत हो चुकी—आरोहण प्रक्रिया के संदर्भ में, संप्रति 'भक्ति' का आगम सम्मत स्वरुप और 'मानस' में उसके प्रतिफलन पर भी विचार करना आवश्यक है।

इस संदर्भ में नाभा दास जी का प्रसिद्ध दोहा उद्‌धृत करना प्रासंगिक होगा—

भक्ति भक्त भगवंत गुरु चतुर नाम वपु एक

विचारणीय यह है कि यह उक्ति अर्थवाद है या भूतार्थवाद? अर्थात् सचमुच ये चारो एक हैं या केवल प्रशंसा की दृष्टि से अत्युक्ति है? भक्त, भगवंत तथा गुरु—ये तीनों चित् हैं—प्रवल अविद्यातम के हट जाने पर तीनों का एक हो जाना तो युक्ति सिद्ध है, पर क्या 'भक्ति' भी चिदानंदमयी है? क्या वह भगवदाकार अन्तःकरण की वृति नहीं है? और यदि ऐसा है तो (माया कार्य) अन्तःकरण की वृत्ति विशेष होने से जड़ात्मिका ही तो होगी? यदि जड़ है तो उक्त उक्ति अर्थवाद ही है—भूतार्थवाद नहीं। अर्थात् भक्त, भगवंत और गुरु के साथ 'भक्ति' की एकरुपता संभव नही है। समस्या यह है कि यदि भक्ति को जड़ मान लिया जाय तो वह 'उपेय' किस तरह हो सकेगी? अद्वैतवेदाँती मधुसूदन सरस्वती ने भी भक्ति रसायन में भक्ति का स्वरुप भगवदाकार अन्तःकरण की वृत्ति ही कहा है। निगम

मा वेद के कर्मकांड तथा ज्ञानकांड में तो 'भक्ति' के प्रक्रान्त रुप की बात ही संभव नहीं है, उपासना कांड में भी उस रुप का उल्लेख नहीं है—जिसका उपवृहण आगमों में मिलता है। मध्यकालीन भक्तों का उद्घोष है –'प्रेमा पुमर्थो महान्' प्रेम या भक्ति पंचम पुरुषार्थ है।

रागात्मिका वृत्ति चेतन मात्र के अंतःकरण का धर्म है। मानवेतर प्राणी का राग शरीर अथवा शरीर से संवद्ध क्षेत्र तक ही प्रसृत होता है। मानव की रागात्मिका वृत्ति जो शरीर से संवद्ध नहीं है, उन तक भी प्रसृत होती है। इसीलिए ऐसे राग को मानवीय कहा गया है। मानव उनके प्रति तो रागी है ही जो आत्मा या आत्मीय हैं; उनके प्रति भी राग का विस्तांर करता है जो आत्मा (व्यक्ति) और आत्मीय के परिधि से वहिर्भूत वृहतर समाज की इकाई हैं। आत्मा और आत्मीय के रक्षण या रंजन में जो योग देता है, मानव उसके प्रति कृतज्ञ होता है, मानवेतर नहीं। पर कृतज्ञता से भी एक ऊँची वृत्ति होती है जिसे श्रद्धा कहते हैं, यह उन व्यक्तियों पर होती है जो आत्मा तथा आत्मीय के अतिरिक्त समाज की व्यष्टियों का अपनी वृहतर मानवीय रागात्मकता के कारण अकारण रक्षण-रन्जन करते रहते हैं अथवा लोकोतर गुण का अर्जन करते रहते हैं। लोक मंगल की मानवीय दिशा में अपनी महता प्रदर्शित करने वाले व्यक्तियों के प्रति उनके उत्कृष्ट गुण-कर्म के माध्यम से श्रद्धा होती है। यही श्रद्धा 'भक्ति' का वीज है। कोई-कोई इसे भक्ति का प्राथमिक रुप भी कहते हैं। जिस हृदय में यह वृत्ति रहती है उनमें शास्त्र या संत द्वारा भगवान् की गुणगरिमा श्रवण पूर्वक माहात्म्यज्ञान होता है इस माहात्म्यज्ञान से जिस भक्ति का उदय होता है उसे साधन भक्ति कहा जाता है। इस भक्ति के उत्कर्ष से भगवान् की अपरोक्षानुभूति होती है। जिसके वाद होने वाली भक्ति को परमाभक्ति कहा जाता है। भगवान् के श्रीचरणों की प्राप्ति रुपी मुक्ति के अनन्तर चतुर्थभक्ति का उदय होता है—जिसका नाम स्वरुप भक्ति है। यह स्वयम् साध्यरुपा तथा परमानन्द स्वरुपा है। क्रम यों हुआ—राग—मानवीय राग—कृतज्ञता—श्रद्धा—माहात्म्यज्ञानपूर्वक श्रद्धा या साधन भक्ति—परमाभक्ति—स्वरुप भक्ति (चिदानंदमयी)।

वास्तव में आगमानुसार भक्ति, ज्ञान, इच्छा आदि की भाँति अन्तःकरण की वृत्ति विशेष नहीं है। मनीषियों की तो धारणा है कि चित्त की वृत्ति होना तो दूर है, माया अथवा महामाया की वृत्ति भी नहीं है। यह तो साक्षात चित्त शक्ति का ही विलास है। हाँ, मानव हृदय में अपना प्रकाश अन्तःकरण के द्वारा अवश्य करती है'। यदि भक्ति द्वारा भगवान की उपलब्धि होती है तो यह तभी संभव है जब वह भी भगवत स्वरूप ही हो। यदि भगवान् सच्चिदानंदमय हैं तो उनका प्रकाश करने वाली शक्ति या भक्ति भी सच्चिदानंदमय ही होगी—कारण, उससे भिन्न कोई भी शक्ति उनका प्रकाश कर ही नहीं सकती। भगवान् की शक्ति-शक्तिमान् की शक्ति ही उनकी स्वरूप शक्ति है—संधिनी, संवित् और ह्लादिनी—इसी की तीन वृत्तियाँ हैं। ह्लादिनी का संवंध भगवत् स्वरूप के आनन्दांश के साथ है। परमानंद भगवान् के स्वरुपास्वादन की एकमात्र माध्यम यही ह्लादिनी है। अर्थात् वे सब संवेद्य हैं अर्थात् वे स्वयं ही आस्वाद्य, आस्वादयिता तथा स्वरूप शक्ति के द्वारा साधन भी हैं। निष्कर्ष यह कि ह्लादिनी शक्ति की वृत्ति विशेष ही भक्ति है—जो सच्चिदानंदमयी है अतः भगवतस्वरूप ही है। यह साधन भक्ति

से भिन्न भाव भक्ति है जो प्रेम भाव का परिपक्व फल है। भाव से ही प्रेम का उदय होता है। वास्तव में नवविध साधन वस्तुतः भक्ति नहीं है, प्रत्युत भाव-भक्ति का साधन होने से भक्ति कही भर जाती है। नवविध साधन तो कर्म है। भाव कर्मातीत है। कर्म तब तक है जब तक कर्तृत्वाभिमान है। कर्तृत्वाभिमान के नष्ट हो जाने पर वही साधना 'भाव' के रूप में परिणत हो जाती है।

आगमिक धारणा की इस पीठिका पर तुलसी की भक्ति का स्वरुप देखें। गोस्वामी जी ने अरण्यकांड में राम के मुख से कहलवाया है—

श्रवनादिक नव भगति दृढ़ाही मम लीला रति अति मनमांही।

यह है—साधन भक्ति। मानस में क्रम इस प्रकार मिलता है—सर्वप्रथम सेवक सेव्य भाव रुपां श्रुति सम्मत वैधी भक्ति। इसके अनुष्ठान से अंतःकरण शुद्ध होता है। अंतःकरण की शुद्धि से मुमुक्षुतादि साधन चतुष्टय की निष्पत्ति होती है। तब साधक गुरु दीक्षा—महावाक्य श्रवण का अधिकारी होता है। महामंत्र के श्रवणादि द्वारा 'सोऽहमस्मि' इत्याकारक अखण्डाकार विद्यात्मिका वृत्ति का उदय होता है। इस वृत्ति से विरोधी अविद्यावृत्ति का शमन हो जाता है। तदन्तर आत्मसाक्षात्कार होता है। आत्मसाक्षात्कार के बाद भी शुद्धवासनात्मक मलके शेष रहने से कल्पित द्वैत की भूमिका पर प्रेमराज्य का उदय होता है। मानसकार का कहना है—

प्रेम भगति जल बिनु रघुराई। अभि अंतर मल कबहुं न जाई॥

यह अभ्यंतर मल भगवान के प्रति आत्मसाक्षात्कार के अनन्तर भी अवशिष्ट शुद्ध वासना है। इसकी शांति के लिए बड़े-बड़े ज्ञानियों को पुनः शरीर धारण करना पड़ा है। बालकाण्ड में गोस्वामी जी ने इसे अनेकत्र कहा है। आत्मसाक्षात्कार के अनन्तर अपने से अपना ही आस्वाद लेने की वासना स्वरुपभक्ति द्वारा चरितार्थ होती है। इस दृष्टि से देखने पर भगवंत, भक्त तथा गुरु के साथ 'भक्ति' को भी चिदानंदमय मानना पड़ता है।

इस प्रकार मानस में निरुपित कतिपय आगमिक तत्त्वों का यहाँ पल्लवन किया गया है।

तुलसीदास के विरही रामचन्द्र

पं० लक्ष्मीनारायण मिश्र
(प्राचीन छात्र)

चंचल चरण डाल एरी मधुवर्षिणी !
जाना चाहती है कहीं और यदि तो बता
रैवतक छोड़ ऋष्यमूक को चलेगी क्या ?
सीता के वियोगी जहाँ राम तुलसी के हैं
शरद निशा में। मान जानकी जो उनकी
वन्दिनी है आज सिंधु बीच स्वर्ण लंका में।
देवकुल द्रोही रक्ष रावण की नगरी,
प्रहरी बना है स्वयं सिंधुराज जिसका
पाता है प्रवेश नहीं पक्षिराज जिसमें।
कैसे हो सकेगा फिर त्राण राम वामा का ?
सोच में पड़े हैं इसी दाशरथि देख ये।
आँखें जा लगी हैं शून्य नभ में कि चन्द्र में,
भूतल का सोम देखता है नभ सोम को,
किम्बा तेजधारी अन्य तारा निज कक्षा से
टूट के गिरा है ऋष्यमूक के शिखर पै।
भूधर शिला है आज सेज रघुराज की,
वैदेही विरह में ये जीवन विहीन से,
किम्वा हतचेत फणिधरमणि के बिना।
वीरासन मारे देख, लक्ष्मण अनुज हैं
बैठे पद-प्रान्त में विषादी, अयि रंगिणी !
एरी कवि मानस की भावना विलासिनी !
देखा तुमनें क्या कहीं और दृश्य ऐसा है ?
देखा जो नहीं है कभी देखेगी नहीं कभी।
कल्पने री ! कौन कवि होगा जीव लोक में
दिखला सके जो यह दृश्य ? फिर तो प्रिये !

साधन विहीन सब भाँति यह जन जो
आपड़ा है मायामयी ! तेरे बाहु पाश में,
आशा में सुधारस की मृत्युंजय होने की ।
हीनदृशी हैं जो अन्धकार पूर्ण पथ से,
जाना जिसको है देवि ! दृश्य यह राम का
राम विरही का ऋष्यमूक गिरि देश में,
रोष और शोकवाही आँखें जा लगी हैं जो
एकाकर शून्य में ! प्रकाशित करे सदा
मेरा यह मार्ग, जा सकूँ में देवि ! जाना मैं
चाहता जहाँ हूँ ।

———

मानस में नारी, माया और चित शक्ति

श्रीवत्स गोस्वामी
शोधछात्र, दर्शन विभाग, का० हि० वि० वि०

विश्वकवि तुलसीदास जी का कालजयी महाकाव्य रामचरित मानस विश्व साहित्य की अनुपम निधि है। 'लोकमत' एवं 'वेदमत' का अद्भुत समन्वय इसकी विशेषता है। गोस्वामी तुलसीदास मध्यकालीन हिन्दी सगुण काव्यधारा के प्रतिनिधि कवि हैं। भक्तिकाल को स्वर्ण युग बनाने में तुलसी का अप्रतिम अवदान रहा है। गोस्वामी जी ने सरल प्रामाणों से पुष्ट दर्शन के गूढ़ तत्वों को इसमें उपस्थित किया है। उक्त काल के दो महा कवियों सूर और तुलसी ने अपने परम आराध्य कृष्ण और राम को लेकर जो कुछा लिख वही भक्ति काल को मूर्धन्य बनाने के लिए पर्याप्त है।

तुलसी ने काव्य सृजन यद्यपि अपने स्वान्तः सुख के लिए किया है तथापि मानवता का उससे जितन: कल्याण हुआ उतना संभवतः अन्य किसी कवि के काव्य से न हुआ होगा। स्वान्तः सुखाय होते हुए भी उनके काव्य का लक्ष्य लोक कल्याण के महत् आदर्श से सदा सम्पृक्त रहा है। उनका आत्मिक सुख, स्वान्तःसुख, लोक मंगल का पर्याय बन गया है। काव्य के लक्ष्य के विषय में तुलसी की स्पष्ट घोषणा है—

कीरति भनिति भूत भलि सोई। सुर सरि सम सब कहं हित होई ॥
रा० मा० बा० १३-९

और अपने लोक मंगल की इसी साधनां की सिद्धि के लिए तुलसी ने 'गिराग्राम्य' में राम यश वर्णन का क्रान्तिकारी दृढ़ संकल्प किया है। श्री राम के प्रति उनके अगाध दृढ़ विश्वास एवं भगवान शंकर के अनुग्रह ने उन्हें ऐसी दिव्य दृष्टि प्रदान की जिससे उनके 'विमल विलोचन' खुल गए और उनसे कोई भी वस्तु या तत्व अनदेखा नहीं रह गया, जो उनकी लेखनी से अछूता रहता। इसीलिए जीवन के प्रत्येक क्षेत्र का कोना कोना झांकने में वे पूर्णतः सफल रहे। प्राकृत जनों के लौकिक चरित गान को हेय मानकर[१] उन्होंने भगवान राम के लोकोत्तर चरित के उद्घाटन का दृढ़ संकल्प किया। तभी तो वाग्देवी सरस्वती की भी उन पर सहज कृपा हो गई और तुलसी के आवाहन करते ही वे विधिभवन का त्याग कर दौड़ी चली आईं।[२] तुलसी ने संतप्त मानव समाज के कुण्ठाग्रस्त मानस की प्रत्येक पर्त को खोलने का सफल प्रयास किया है, उसमें झांककर देखा, साथ ही

---

१ कीन्हे प्राकृत जन गुन नाना। सिर धुनि गिरा लगत पछिंताना ॥
रा० मा० बा० १०–७

२ भगति हेतु विधि भवन बिहाई। सुमिरत सारद आवत धाई।
रामचरित सर बिनु अन्हवाए। सो श्रम जाइ न कोटि उपाए ॥
रा० मा० बा० १०-४,५

युगों से दिशा विहीन मानव समाज को दिशा प्रदान, उसके लक्ष्य का संकेत किया। मात्र संकेत ही नहीं, वहां तक पहुंचने का साधन और सम्बल भी प्रदान किया है। तुलसी के मानस में काव्य और दर्शन का अद्भुत समन्वय है। तुलसी के राम परब्रह्म परमेश्वर हैं, विश्वात्मा हैं, साथ ही "प्रेम भगति बस कौसल्या की गोद" में क्रीड़ा करने वाले दशरथ सुत भी हैं। वे सच्चिदानन्द के रूप में सत, चित आनन्द से परिपूर्ण त्रयात्मक तत्त्व हैं।

महाकवि ने सम्पूर्ण जगत का निर्गमन सच्चिदानन्द घन राम से ही माना है। किन्तु राम ब्रह्म होते हुए भी अपनी परम अह्लादिनी चित शक्ति सीता के विना जगत निर्माण की प्रक्रिया पूर्ण नहीं करपाते हैं। इस प्रकार वह परमेश्वर जो सर्वशवित मान और सर्वसमर्थ रुप में जाना जाता है वह महाशक्ति सीता के बिना अपूर्ण है। सीता के रुप में वह चित् शक्ति परमात्मा की अर्धांगिनी है। उनके विना इस लोक में अवतार का उद्देश्य पूर्ण नहीं हो पाता। सीता परमेश्वर राम की चिरसंगिनी है। सीता स्वरुपिणी परम शक्ति जो लौकिक दृष्टि से राम की प्राणप्रिया होने के साथ ही लीला विस्तार में उनकी चिरसहायिका भी है। अतः लौकिक रुप से दो देह धारण किए हुए भी वस्तुतः पारमार्थकि दृष्टि से वे दोनों राम और सीता एक ही हैं—

गिरा अरथ जल बीचि सम कहियत भिन्न न भिन्न।
बन्दौ सीताराम पद जिन्हिं परम प्रिय खिन्न।। रा० मा० बा० १८

ब्रह्म और उसकी चेतना शक्ति के मिलकर एकाकार होने पर ही इस चित्र-विचित्र सृष्टि का निर्माण संभव हो पाता है। एक ही परमात्मा, शक्ति की माया की सहायता से विभिन्न देहधारण कर अनेक प्रकार का चरित प्रस्तुत करता है।

एक अनीह अरुप अनामा। अज सच्चिदानन्द पर धामा।।
व्यापक विश्व रुप भगवाना। तेहि धरि देह चरित कृत नाना।।
रा० मा० बा० १२–३, ४

नारी के रुप में सीता को उन्होंने ब्रह्म की शक्ति माना है तथा माया भी[१]। शंकर और रामानुज माया को क्रमशः विवर्त और परिणाम को उत्पन्न करने वाली मानते हैं किन्तु गोस्वामी जी ने इन दोनों में से किसी भी विचार का पूर्णतः अनुगमन नहीं किया है। किसी भी सम्प्रदाय विशेष का प्रतिपादन करना उनका लक्ष्य नहीं है। वरन् केवल ईश्वर की, अपने आराध्य की भक्ति और उसकी कृपा प्राप्त करना ही उनकी चरम उपलब्धि है। अतएव उसी संदर्भ में उन्होंने माया के रुप में नारी का विश्लेषण किया है। सम्पूर्ण जगत् को 'माया रुपी नारी' के वश में स्वीकार करते हुए उसके विविध क्रिया व्यापारों का उल्लेख उन्होंने मानस में प्रस्तुत किया है। परमात्मा के साथ ही उसके लीला रंजन के लिए चित शक्ति भी अवतार ग्रहण करती है। उसके अभाव में न तो ईश्वर लीला कर सकता है न रस संचार ही। इस कारण यह स्पष्ट है कि यह विविध रुपासृष्टि उसी परमाशक्ति माया के हाथ का लीला कमल है जिससें वह अपनी इच्छानुसार क्रीड़ा करती है।

---

[१] आदि सक्ति जेहि जग उपजाया।
सोउ अवतरिहि मोरि यह माया।। रा० मा० बा० १५१-४

राम सीता के विना अपूर्ण हैं। शक्ति ब्रह्म से अविभक्त है। परमात्मा की प्रत्येक इच्छा तथा हृदय के भावों को वह जानने वाली है :—

'पिय हिय की सिय जाननि हारी' रा० मा० बा० १०१-३

मन्दोदरी के माध्यम से कवि ने रावण को शक्ति की महिमा का बोध कराते हुए सचेत किया है कि यदि जगत् जननी के रुप में वैदेही की वन्दना करो तब वे तुम्हारे लिए राम तक पहुंचाने वाली मंगलदायिनी सिद्ध होंगी। किन्तु यदि तुम केवल भौतिक धरातल पर उन्हें वासना की पूर्ति का माध्यम वनाना चाहोगे तो वही अत्यन्त कोमल करुणामयी सीता महाशक्ति वनकर विनाश करने में विलम्व नहीं करेंगी।

रामचरित मानस के प्रारंभ में ही वन्दना करते हुए कवि ने कहा है—

उद्भव स्थिति संहारकरिणीं क्लेशहारिणीं सर्वश्रेयसकरीं सीतां नतोऽहं रामवल्लभां।

रा० मा० बा० श्लोक

एक ओर जहां उन्होंने सचराचर जगत में नारी के रुप में अवतरित होने वाली माया को जगत के वन्धन में वांधने वाली माना है वहीं दूसरी ओर इस जगत में निवास करते हुए भी उसके प्रति अनासक्त रहकर ब्रह्म का साक्षात्कार कराने में समर्थ महिमामयी परमशक्ति भी माना है।

राम की चेतना शक्ति सीता को उन्होंने सदैव अनुकूल रहने वाली, राम वाम भाग में विराजमान रहने वाली आदिशक्ति माना है जो सम्पूर्ण जगत का मूल है। उसी के अंश से अगणित लक्ष्मी, पार्वती और ब्रह्माणियों की उत्पत्ति होती है। उसके भृकुटि विलास मात्र से क्षण भर में जगत् की उत्पति एवं विनाश हो जाता है,—

वाम भाग सोभित अनुकूला। आदि सक्ति छबिनिधि जगमूला॥
जासु अंस उपजहिं गुनखानी। अगनित लच्छि उमा ब्रह्मानी॥
भृकुटि बिलास जासु जग होई। राम बाम दिसि सीता सोई॥

रा० मा० बा० १४७–२ से ४

इस प्रकार अपने महाकाव्य में गोस्वामी जी ने जहां ज्ञान भक्ति तथा शैव तथा वैष्णव मतों का समन्वय किया वहीं शक्ति के महत्व को भी पूर्णरूपेण स्वीकार किया है। नारी केरूप में शक्ति उनकी प्रेरणा रही है और उसी शक्ति ने उनके काव्य को जीवन्त बनाया है।

———

कवितावली में तुलसी की भक्ति-भावना

विश्वम्भर राय
शोध छात्र, हिन्दी-विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय

भक्ति शास्त्रों में भगवद्भक्तों की भिन्न-भिन्न कोटियाँ निर्धारित की गई हैं। गीता में कहा गया है :—

> चतुर्विधा भजन्ते मां जनाः सुकृतिनोऽर्जुन ।
> आर्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ ॥[१]

आर्त्त भक्त वे होते हैं जो दुनियाँ के झंझटों से परेशान होकर, दुखित हृदय से शान्ति के लिए प्रभु से अपना प्रेम निवेदन करते हैं। जिज्ञासु भक्त वे हैं जो अपनी जिज्ञासा वृत्ति की तुष्टि हेतु अनायास प्रभु की शरण जाते हैं। अर्थार्थी भक्त अर्थ के निमित्त ईश्वर की स्तुति करते हैं और ज्ञानी भक्त वे हैं जिन्होंने तत्वज्ञान का पूर्ण अनुभव प्राप्त कर लिया है। ऐसे ज्ञानी भक्त के हृदय में भगवद्प्रेम का उद्रेक आप से आप होने लगता है। 'विरति' और 'विवेक' से मिश्रित होने के कारण गोस्वामी जी का भक्त रूप भी ज्ञानी भक्त का ही दिखाई देता है। गोस्वामी जी ने सच्चे भगवद्भक्त का लक्षण 'कवितावली' में इस प्रकार बताया है :—

> भौंह-कमान-सँधान सुठान जे नारि विलोकनि-बानतें बाँचे ।
> कोप-कृसानु गुमान-अवाँ घट ज्यो जिनके मन आँव न आँचे ॥
> लोभ सबै नट के बस ह्वै, कपि-ज्यों जग में बहु नाच न नाचे ।
> नीके हैं साधु सबै 'तुलसी', पै तेई रघुबीर के सेवक साँचे ॥[२]

भक्ति के लिये गोस्वामी जी नारी-कटाक्ष का सेवन, अहंकार और क्रोध आदि का निषेध आवश्यक मानते हैं। अर्थात् सच्ची भक्ति वही है जो वैराग्य की नींव पर संस्थित हो।

साध्य और साधन की दृष्टि से भक्ति दो प्रकार की होती है। दोनों को क्रमशः मुख्या और गौणी भी कहते हैं। यही साध्या या मुख्या ही नारद की 'परम प्रेम रूपा', शांडिल्य की 'ईश्वरानुरक्ति' और वल्लभ की 'प्रेमरूपा' भक्ति है। गोस्वामी जी की भक्ति भी यही परम प्रेम रूपा भक्ति है। भक्ति और प्रेम वस्तुतः एक ही है, भक्ति प्रेम का ही एक स्वरूप है। प्रेम में जिस तरह एकनिष्ठता होती है उसी प्रकार भक्ति में भी। दोनों में अर्थात् प्रेम और भक्ति में अंतर यही है कि प्रेमी अपने प्रिय पर एकाधिकार चाहता है भक्त एकाधिकार नहीं चाहता—वह किसी दूसरे को भक्ति करने से रोकता नहीं। पर इतना अवश्य चाहता है कि मेरा आराध्य मेरे प्रति आकृष्ट हो। वस्तुतः भक्ति में प्रेम के

---

१ 'गीता' ७।१६ ।

२ कवितावली, उत्तरकांड, छन्द सं० ११८ ।

अतिरिक्त अन्य भाव का भी मिश्रण होता है। इसी से भक्ति को भाव की दृष्टि से प्रेम और श्रद्धा का सम्मिलित रूप कहा गया है।[१]

श्रद्धा के साथ-साथ प्रभु-चरणों में प्रेम कीं एक निष्ठता हेतु विश्वास भी परमावश्यक अंग है। 'कवितावली' में गोस्वामी जी आत्मनिवेदन के क्षणों में प्रायः 'प्रीत' और 'प्रतीति' का अवलम्बन स्वीकार करते चलते हैं। तुलसी को भगवान पर विश्वास हो गया है कि राम सदैव उनकी रक्षा करेंगे, और यह स्थिति विना साक्षात्कार के सम्भव नहीं हुई है। भक्त स्पष्ट रूप से पूर्ण विश्वास के साथ कहता है :—

> पाप हरे, परिताप हरे, तन पूजि भो सीतल सीतलताई।
> हंस कियो वक तें, बलि जाऊ, कहाँ लौं कहौं करुना-अधिकाई॥
> काल विलोकि कहै 'तुलसी', मन में प्रभु की परतीति अघाई।
> जन्म जहाँ, तँह रावरे सों निवहै भरि देह सनेह सगाई॥[२]

भक्त नें प्रभु-चरणों में विश्वास का परिणाम यह पाया कि वह पाप से सदैव-सदैव के लिए मक्त हो गया, उसके दुखों का शमन हो गया, हृदय में शान्ति आयी तथा शरीर पूज्य वन गया और तुलसी सा पाखण्डी भी विवेकी वन गया। इतने शुभ परिणाम का प्रत्यक्ष अवलोकन करके ही भक्त भगवान में अपने पूर्ण विश्वास का दावा करता है। ये वातें थोथी, ऊपर-ऊपर से आरोपित मात्र नहीं हैं, अपितु भक्त ने अनुभव और पूर्णविश्वास से इन्हें सिद्ध भी किया है। इसीलिये तो वह राम से विनय करता है कि मैं जहाँ भी जन्म लूँ, आप से पूर्ण स्नेह का सम्वन्ध वना रहे। माता-पिता, गुरु, भाई, संगी, मित्र, पुत्र, स्वामी आदि जितने भी प्रेम के सम्वन्ध हो सकते हैं, इन सारे स्नेह सम्वन्धों को जो व्यक्ति श्री रघुराथ में देखता है, गोस्वामी जी के अनुसार उसी का इस संसार में जीवन सार्थक है। जीवन पर्यन्त तथा मरते दम तक जिन्हें राम की कृपा का ही भरोसा है वही व्यक्ति श्रीराम को परम प्रिय है।[३] इस प्रकार गोस्वामी जी की भक्ति, साधना की उस उच्च-भूमि पर संस्थित दिखाई देती है, जहाँ पहुँचकर अन्य सांसारिक सम्वन्धों का-प्रभु के अनन्य प्रेम में पर्यवसान हो जाता है। पृथक-पृथक दीखने वाले लौकिक सम्वन्धों का भक्त की दृष्टि में तव कोई महत्व नहीं रह जाता "भक्ति जव जीवन की साधना वन जाती है, तव वह भक्त को पूर्ण काम, तृप्त, अमर और सिद्ध वना देती है। भक्त समस्त जीवन द्वन्दों से मुक्त हो जाता है। वह भगवान से अहेतुक प्रेम करने लगता है। वह जगत के सारे रागात्मक सम्वन्धों कों अपने इष्टदेव में ही लय कर देता है सारा संसार उसके लिये प्रभुमय हो जाता है। उसके समस्त सांसारिक संवन्ध इष्ट देव के नाते से ही मानने योग्य रह जाते हैं। जिस प्रकार नदी अपने नाम और रूप को खोकर समुद्र में लय हो जाती है उस प्रकार भक्त अपनी सम्पूर्ण इयत्ता को भगवदीयता में परिणत कर लेता है"[४]

---

१ 'तुलसीदास और उनका युग' : राजपति दीक्षित, पृष्ठ सं० १५१।

२ कवितावली, उत्तरकांड, छन्द सं० ५८।

३ कवितावली, उत्तरकांड, छन्द सं० ३६।

४ तुलसी विविध दृष्टियों का परिप्रेक्ष्य: सं० : डा०गोपीनाथ तिवारी, पृष्ठ सं० १२०।

कवितावली उत्तरकांड के अनेक छंदों में तुलसी का राम के प्रति सहज समर्पण का भाव स्पष्टत: दिखाई पड़ता है. उनकी समस्त इन्द्रियाँ राम प्रेम में लीन हो चुकी हैं : –

सियराम-सरूप अगाध अनूप बिलोचन-मीनतु को जल है।
श्रुति रामकथा, मुखराम को नाम, हिये पुनि रामहिं को थलु है ।।
मति रामहिं सों, गति रामहिं सों, रति राम सों, रामहिं को बलु है।
सबकी न कहै, 'तुलसी' के मते इतनो जगजीवन को फलु है ।।[१]

अपनी पूर्ववर्ती कृतियों में की गई शास्त्र-चर्चा का 'कवितावली' तक आते-आते कवि की दृष्टि में कोई विशेष महत्व नहीं रह गया था। क्योंकि भक्तिशास्त्रों के जिन सिद्धान्तों की चर्चा कवि वार-वार करता रहा है, उसे उसने स्वयं अपने आचरण में उतार लिया है, वे सिद्धान्त अव कवि के जीवन के अंग बन चुके हैं। जीवन के अंतिम वर्षों तक कवि की सारी शास्त्र-चर्चा उसके आचरण और निष्ठा का अंग वन गई है। तुलसी मानापमान, रहित, खोखली अर्थहीन व रुढ़ सामाजिक मान्यताओं के प्रति निर्लिप्त, अखण्ड विश्वास एवं निष्ठा युक्त, आत्मविश्वास की गरिमा से मंडित सच्चे सर्मपित भक्त के रूप में लक्षित होते हैं। कवितावली उत्तर कांड में अभिव्यक्त कवि की स्वानुभूतियाँ भक्त के जीवनोत्कर्ष की प्रतिरूप हैं, जिनसे स्पष्ट परिलक्षित हो जाता है कि आदर्श भक्त और संत में जिन गुणों के होने की बात वार-वार कवि करता रहा है उसे उसने स्वयं अपने आचरण में उतार लिया है"[२] यद्यपि अपने भक्त्योचित दैन्य के कारण वे उसे भी राम की कृपा का ही बरदान कहते हैं :—

'तुलसी' बनीहै राम ! रावरें बनाये ना तो
धोवी-कैसो कुकरु न घर को, न घाट को[3]

अथवा –

आपु हौं आपु को नीकै के जानत रावरो राम भरायो गढ़ायो।
हौं तो सदा खर को असवार तिहारोइ नाम गयंद चढ़ायो ।।[४]

तुलसी की कृतियों में वैचारिकता की सीमा से आगे अनुभव की वे गहराईयाँ उद्घाटित होती चलती हैं, जहां पहुँच जाने पर अभय, आनन्द, निश्चिन्तता और समता सिद्ध हो गयी है। उनका सम्पूर्ण साहित्य इसी दिव्यानुभूति से उपजा है, वहाँ कुछ भी प्रयास पूर्वक बनाकर नहीं कहा गया है"—[५]

कहौं न कछु करि जुगति विसेखी, यह सब मैं निज नयनन्हि देखी।

---

[१] कवितावली, उत्तरकांड, छन्द सं० ३७।
[२] तुलसी विविध दृष्टियों का परिप्रेक्ष्य: सं० : डा० गोपीनाथ तिवारी, पृष्ठ सं० १२०।
[३] कवितावली, उत्तरकांड, छन्द सं० ६६।
[४] " " उत्तरकांड, छन्द सं० ६०।
[५] तुलसी विविध दृष्टियों का परिप्रेक्ष्य: सं० : डा० गोपीनाथ तिवारी, पृष्ठ सं० १२०।

उन्होंने विशेष युक्ति पूर्वक कोई बात नहीं कही है, अपितु सारी बातों को अनुभव के पश्चात् कहा है। राम से स्वामी का सम्बन्ध जुड़ जाने पर अब उनके लिये शोक का कोई कारण नहीं रहा। भक्त सर्वतोभावेन भगवान श्रीराम के चरणों में अर्पित हो चुका है। अब उसे किसी की चिन्ता नहीं, इसीलिए वह निश्चिन्त होकर सुख से सोता है :—

जागें भोगी भोग हीं, वियोगी, रोगी सोगवस।
सोवै सुख तुलसी भरोसे एक राम के॥[१]

अनन्य भक्त की चित्तवृत्ति ज्ञान कर्म आदि के आश्रय से रहित और चारों ओर से स्पृहा शून्य होकर अनन्य भाव से एकमात्र अपने इष्टदेव में ही रम जाती है। भक्ति की प्रारम्भिक अवस्था में शास्त्र ज्ञान आदि का अवलम्बन एवं ग्रहण नितान्त अपेक्षित है किन्तु भक्ति की चरमावस्था पर पहुँचे भक्त के लिये शास्त्र ज्ञान तथा कर्म आदि का बंधन नगण्य सा प्रतीत होने लगता है। राम नाम में अतिशय प्रीति एवं प्रतीति होने के कारण गोस्वामी जी निश्चिन्त होकर सुख से सोते हैं उनके इस निश्चिन्तता के मार्ग में ज्ञान, कर्म आदि के बंधन बाधा उपस्थित नहीं कर सकते :—

सब अंग हीन, सब साधन बिहीन, मन—
बचन मलीन, हीन कुल करतूति हौं।[२]

× × × ×

प्रींति राम नाम सों, प्रतीति राम नाम कीं
प्रसाद राम नाम के पसारि पाँय सूति हौं।[३]

ऐसा भक्त संसार के सबसे बड़े भय मृत्यु-भय से अपने को अलग कर लेता है उसे मृत्यु आदि का कोई भय नहीं रह जाता। गोस्वामी जी भी राम की शरण में जाकर अभयदान पा चुके हैं। तभी तो काल को भी चुनौती देने का वे साहस कर सके हैं :—

तुलसी यहु जानि हिएँ अपने सपने नहि कालहुं ते डरिहैं।[४]

भक्त का अडिग विश्वास है कि जिसकी राम रक्षा करेंगे उसे कोई मार नहीं सकता। फिर तुलसी ही किसी का भय क्यों करे :—

कौन की त्रास करै तुलसी जो पै राखिहैं राम तो मारिहैं कोरें।[५]

अनन्यभक्त का सर्वप्रधान लक्षण होता है अपने प्रभु की शक्तिमत्ता को अन्य देवों से सर्वोपरि देखना। गोस्वामी जी के राम शक्ति के निधान हैं। अन्य इन्द्रादिक देवगण तो राम की शक्ति से ही शक्तिमान बने हुए हैं। अन्य देवों से राम में विशेषता यह है

---

[१] कवितावली, उत्तरकांड, छन्द सं० १०९।
[२] „ „ , उत्तरकांड, छन्द सं० ६९।
[३] „ „ „ „ „ ।
[४] „ „ उत्तरकांड, छन्द सं० ४७।
[५] „ „ उत्तरकांड, छन्द सं० ४८।

कि राम थोड़ी सी सेवा पर रीझ जाते हैं किन्तु अन्य देवगण पूजा न करने पर जल्दी ही रुष्ट हो जाते हैं। राम की तुलना में वे स्वार्थी हैं। गोस्वामी जी कहते हैं कि ऐसे देवों की वे ही पूजा करते हैं जिनके बुद्धि नहीं है। अपने लिये वे कहते हैं कि मुझे ऐसे देवों की न कृपा की आकांक्षा है और न उनके प्रतिकूल होने से हानि की हो कुछ चिन्ता :—

> कृपा जिनकी कछु काज नहीं, न अकाज कछू जिनमें मुख मोरें।
> करें तिनकी परवाहिते, जो बिनु पूँछ-विषान फिरें दिन दौरें।
> 'तुलसी' जेहि के रघुनाथ से नाथ, समर्थ सु सेवत रीझत थोरें।
> कहा भवभीर परी तेहि धौं, विचरें धरनीं तिन सों तिन तोरें॥[1]

जब भक्त सर्वतोभावेन प्रेमास्पद प्रभु में लीन हो चुका। तब उसके लिए क्या शत्रु क्या मित्र। क्या मान ? क्या अपमान ?। वह तो सांसारिक आसक्तियों से एकदम छूट चुका है। हृदय में सबके प्रति समता का भाव आ जाने से वह स्वयं तो उद्वेग से मुक्त हो जाता है, उससे अन्य भी उद्वेग को प्राप्त नहीं होते। ऐसे परम भक्त के अन्तःकरण में किसी के प्रति कटु भाव नहीं रह जाता। वह सबकी भली बुरी सुनता है एवं सहन करता है इस तरह उदारता, सहिष्णुता आदि के भक्त सुलभ लक्षण उसमें दिखाई देने लगते हैं। गोस्वामी जी को भी सज्जन-दुर्जन आदि अपनी-अपनी प्रवृत्ति के अनुसार साधु-असाधु कहते हैं किन्तु उनके मन में किसी के प्रति खीझ नहीं है। वे कहते हैं :—

> साधु जानै महासाधु, खल जानै महाखल,
> बानी झूँठी-साँची कोटि उठत हबूब है॥
> चहत न काहू सों, न कहत काहू की कछू,
> सबकी सहत, उर अंतर न ऊब है॥[2]

यह साधना की वह उच्चभूमि है जहाँ पहुँचकर भक्त जागतिक विषयों से एकदम मुक्त हो जाता है। सामाजिक मान्यतायें उसकी दृष्टि में कोई महत्व नहीं रखतीं वह शरीर निर्वाह तथा सोने आदि के विषय में भी चिन्तित नहीं रहता। गीता में भगवान श्रीकृष्ण ने कहा है कि "जो निन्दा स्तुति को समान समझने वाला अर्थात् ईश्वर के स्वरूप का निरन्तर मनन करने वाला है एवं जिस तिस प्रकार से भी शरीर निर्वाह होने में ही सदा सन्तुष्ट है और रहने के स्थान में ममता से रहित है, वह स्थिर बुद्धिवाला, भक्तिमान पुरुष मुझे प्रिय है।[3] गोस्वामी जी की निम्नांकित पंक्तियों में गीता का उक्त भाव साफ-साफ झलक रहा है :—

> धूत कहौ, अवधूत कहौ, रजपूत कहौ जोलहा कहौ कोऊ।
> काहू की बेटी सों बेटा न ब्याहब, काहू की जाति बिगारै न सोऊ॥
> 'तुलसी' सरनाम गुलाम है राम को, जाको रुचै सो कहै कछु ओऊ।
> मांगि के खैबो, मसीत के सोइबो, लैबो को एक न देबों को दोऊ॥[4]

---

[1] कविवावली, उत्तरकांड, छन्द सं० ४९।
[2] ,, ,, , उत्तरकांड, छन्द सं० १०८।
[3] 'गीता', अध्याय १२-१८।
[4] कवितावली, उत्तरकांड, छंद सं० १०६।

सोना और जागना कौन सा श्रेष्ठ है, भक्त-हृदय कहता है :—

> सोइबो जा राम के सनेह की समाधि-सुख,
> जागिबो जो जीह जपै नीकें रामनाम को ।[1]

रामनाम की सुखद समाधि में सोना ही श्रेष्ठ सोना है एवं जीभ से सतत् राम के नाम का जप ही ठीक से जागना है। रामनाम की यह सुखद समाधि वस्तुतः योगियों की वह अखण्ड समाधि ही है, जहाँ पहुँचकर फिर कुछ जानना शेष नहीं रह जाता। साधना की ऐसी स्थिति को प्राप्त कर भक्त या साधक परमानन्द को प्राप्त होता है। इसीलिए नारद ने अनन्य भक्ति को अमृत स्वरूपा कहा है 'अमृत स्वरूपा च' (नारद सूत्र, ।३।)। "तुलसी का भक्त हृदय उस ऊँची भाव-भूमि पर पहुँचा हुआ है, जहाँ लोक ही नहीं परलोक-सम्बन्धी पारम्परिक मान्यताएँ भी उपेक्षणीय प्रतीत होने लगी हैं। इस राममय जगत में 'रामगुलाम' के रूप में जीना उन्हें स्वर्गीय जीवन की अपेक्षा अधिक सार्थक लगता है। वे लोक-परलोक अथवा यमपुर-सुरपुर की चिन्ता, तर्क और संशय के द्वन्द्व, हानि और लाभ के प्रश्नों, वर्तमान के त्रास और भविष्य की सुखद सम्भावना के लोभ, सबसे मुक्त हैं। रामनाम के बल पर उन्हें 'कूचमुकाम किसी का सोच' नहीं है।"[2] वे वर्तमान में इसी जीवन में राम के कृपा जल से तृप्त हैं :—

> को जानै को जैहै जमपुर को सुरपुर परधाम को।
> तुलसिहिं बहुत भलो लागत जग जीवन राम गुलाम को ।।

भक्त मुक्ति का निरादर करके रामगुलाम बने रहना या भक्ति का द्वैत भाव बनाये रखना श्रेष्ठ समझने लगा है। इसी राममय जीवन को ही वह रामभक्ति का परम फल मानता है।

———

[1] कवितावली, उत्तरकांड, छंद सं० ८३।

[2] तुलसी विविध दृष्टियों का परिप्रेक्ष्य : सं० डा० गोपीनाथ तिवारी, पृष्ठसं० १२०।

तुलसी के 'मानस' का रामराज्य

मदन मोहन सिंह
शोध छात्र, हिन्दी विभाग

तुलसी का रामराज्य किसी व्यक्ति विशेष का राज्य नहीं है और न तुलसी के राम हीं व्यक्ति विशेष हैं। राम उन आदर्शों के प्रतीक हैं जो तुलसी के राज्यादर्श की स्थापना के लिए साधन स्वरूप हैं। इन्हीं राज्यादर्शों की अवस्थिति उस राज्य की सृष्टि और स्थायित्व का कारण बनती है। जो कल्पना का स्वर्ग होते हुए भी मनुष्य द्वारा प्राप्त होने योग्य है, जो अलौकिक होते हुए भी लोक सुलभ है और आदर्श होते हुए भी यथार्थ की पकड़ में आता है।

राज्य एक विस्तृत वनस्थली है। प्रजा उसके वृक्ष और लताएं हैं और उसका रक्षक राजा रूपी माली है। राजा का यह कर्तव्य है कि अपनी सुव्यवस्थित शासन पद्धति एवं उदार राजनीति के द्वारा प्रजा की उन्नति को प्रोत्साहन दे, उसके विकास को निरन्तरता प्रदान करे और उसकी समृद्धि को उत्तरोत्तर उन्नत बनाये। जो सदाचार कर्तव्य तथा धार्मिकता की पुष्टि के साथ ही निष्पक्षता न्याय एवं समानता द्वारा उत्फुल्लता का अनुभव करावे। जब इन समुचित व्यवस्थाओं का कुशल हाथ लगता है तब वनस्थली का प्रत्येक पादप अपने शौर्य एवं योग्यता का विकास करता हैं।' 'जहाँ सुमति तहँ सम्पति नाना' जैसी एकता की भावना की सुदृढ़ दीवार से रक्षित होने के कारण कलह, विरोध तथा असंतोष सभी हिंस्र पशुओं की वहां दाल नहीं गलती। लौकिक दृष्टि से राज्य का यही आदर्श है।

गोस्वामी जी का राज्यादर्श लोकहित तक सीमित नहीं था वह तो लोक से परे भी देखता था। यही कारण था कि उनका राज्यादर्श सांसारिक सुखों का ही प्रसाधक न था बल्कि वह आध्यात्मिक आनन्द का विधायक भी था। वह बाहर का परिमार्जन करता था और अन्तर का परिष्कार। पुरुष और प्रकृति की समानता के लिए नियमों और विधानों की ही नहीं, सुदृढ़ और स्थायी आधार शिला की आवश्यकता होती है। वह आधार शिला हैं, 'राजा का आचरण'। जो सुदृढ़ ऐसा कि क्षणिक धक्कों से विचलित नहीं हो। आचरण ही मनुष्य है। गीता में "यो यच्छ्रद्धः स एव सः" कह कर मनुष्य को उसकी श्रद्धा का प्रतिकृति कहा गया है। श्रद्धा आचरण की प्रेरिका है और यह आचरण श्रद्धा का विज्ञापक। श्रद्धा व्यक्ति-वस्तु है और आचरण समाज का। तुलसी के राम अपने आचरण से ही उन आदर्शों के बीज बोते हैं, जो राम-राज्य के विशाल-वृक्ष का रूप धारण करता है। राज्य का रूप निर्धारण राजा के व्यक्तित्व पर निर्भर होता है। राजा अपनी स्थानगत विशेषता के कारण सबकी आँखों का केन्द्रबिन्दु बन जाता है। वह लाखों प्राणों की पुकार हो जाता है। जिस पर यदि कोई तुषार पात हो जाय तो इन प्राणों को छई

मुई का रोग लग जाता है। यथा राजा तथा प्रजा का सिद्धान्त चरितार्थ हो जाता है। गोस्वामी जी का तो यह निर्भ्रान्त मत है कि—

जासुराज्य प्रिय-प्रजा दुखारी–सो-नृप अवस नरक अधिकारी।

"प्रजा के दुख का अर्थ है कि राजा अपने कर्तव्य से च्युत हो गया। इस राजा का राज व नष्ट हो गया। वह रक्षक नहीं भक्षक, पालक नहीं घातक हो गया।"

राम ने अपने व्यक्तित्व को राजतंत्र में अनुस्यूत करके उसे आदर्श राजत्व की चरम-सींमा पर पहुँचा दिया था। आचरण द्वारा प्रजा तथा समाज को आदर्श रूप दिया। वैयक्तिक एवं सामाजिक आचरण क्रमशः निजत्व एवं जनत्व के प्रति किए गए व्यवहार को दिग्दर्शित करता है। स्वार्थ संकुल क्षुद्र हृदय उन राम के विशाल मानस की छांह तक नहीं छू सकता जिनका कहना था कि "लोकारावन के लिए स्नेह, दया, सौख्य अथवा जानकी को भी छोड़ना पड़ जाय तो मुझे व्यथा न होगी।

राम 'श्रुति पथ पालक धर्म धुरन्धर' गुनातीत अरु भोग पुरन्दर॥ (७।२३।२) हैं। यह राजा का कल्याण विधायक रूप है। इसमें राजा के निरंकुशता पर अंकुश है, उसकी स्वेच्छाचारिता का नियंत्रण है, उसकी अमर्यादित इच्छाओं पर प्रतिबन्ध हैं। वे धर्म की धूरो धारण करने वाले थे। भरत से इसीलिए कवि ने कहलाया थी कि—
"चाहिय धरम सील नरनाहू" (२।१।९।१)। तुलसी के राजा राम लोक नायक अधिक थे शासक कम। वे विधान नहीं बनाते थे, आचरण प्रस्तुत करते थे। जो श्रुतिपथ द्वारा निर्देशित थे।

राजा का यह वैयक्तिक आदर्श आचरण जब प्रजा के प्रति समुचित व्यवहार से संयुक्त हो जाता है, तब एक ऐसी स्पृहणीय जीवन पद्धति का दर्शन होता है जिसमें शासक एवं शासित की भावना में अप्रियता की गन्ध नहीं होती, पद की प्रतिष्ठा एवं व्यक्ति का आदर होता है, पारस्परिक सद्भावना एवं सहयोग की वृत्ति जाग्रत होती है। यही कारण था कि गोस्वामी जी को राजा का यही रूप प्रिय लगा। राम भरत से कहते हैं—**"राज धरम सरवस एतनोई"**—

मुखिया मुख सो चाहिए, खान पान कहुँ एक।
पालइ पोषइ सकल अंग, तुलसी सहित विवेक॥ २।३१५

राजा के प्रमुख कर्तव्य का यह निर्दिष्ट रूप ही उसे लोकनायक के पद पर सिंहासना-रूढ़ करता है। शासक का प्रमुख कर्तव्य है कि प्रजा के प्रत्येक वर्ग का, उसकी स्थिति, क्षमता, संस्कार तथा योग्यता आदि के अनुकूल उनका पालन करे और उन्हें पुष्ट बनावे। प्रजा पालक का कर्तव्य है "विवेक और मार्ग दर्शक"।

कहब सँदेसु भरत के आए। नीति न तजिअ राजपद पाये। २।१५०।३

राजा के लिए सबसे बड़ा खतरा है राजमद का। भरत आगमन का समाचार सुन कर लक्ष्मण की कोपोक्ति पर राम कहते हैं—

कही तात तुम नीति सुहाई, सबते कठिन राजमद भाई।
जे अँचवत नृप मातहि तेई, नाहिं न साधु सभा जिन्ह सेई॥

साधु समाज का कल्याणकारी प्रभाव ही राजा के राज सत्ता से उत्पन्न अवगुणों का शमन करता है। भरत तो जैसे साधुता और विवेक के रूप ही थे। तभी प्रभु राम पुनः भरत के व्यक्तित्व की गरिमा में विश्वास जगाते हुए यह दृढ़ मत प्रकट करते हैं कि—

भरतहि होइ न राजमद, विधि हरहर पद पाई।
कबहुँ कि काँजी सीकरन्हि, क्षीर सिन्धु विनसाई।।

गोस्वामी जी नीति-निपुण राजा को बड़े आदर की दृष्टि से देखते थे इसीलिए वे कहते हैं कि—

पंक न रेनु सोह असि धरनी, नीति-निपुण नृप कै जसि करनी। ४।१५।७

रामराज्याभिषेक के पश्चात् "त्रैलोक्य में हर्ष व्याप्त हो गया; सारे शोक नष्ट हो गए। राम का प्रताप देखिए कि उसने सारी विषमता नष्ट कर दी। फलतः "वैर न कर काहू सन कोई।" अभाव में ईर्ष्या को भावना होती हैं जिससे विद्रोह होता है, आधिक्य में शोषण और अपव्यय की। पर इन दोनों का सम-सुदृढ़ रूप ही उपयोगी है। विषमता का अभाव सामाजिक सौहार्द का रूप उत्पन्न करता है। मनुष्य स्वयंमेव जीवन के आदर्श आचरण की ओर उन्मुख हो जाता है। रामराज्य में इसीलिए कहा गया है कि --

वरना श्रम निज निज धरम निरत वेद पथ लोग।
चलहिं सदा पावहिं सुखहि, नहि भय सोक न रोग ।। ७।२०

अतः यदि-राम के राज्य में दैहिक, दैविक, भौतिक तापा किसी को व्याप्त न था तो आश्चर्य की वात नहीं। इसीलिए वस्तुतः मानव अपनी सिद्धता की सीमा पर पहुँच गया क्योंकि —

अल्प मृत्यु नहिं कवनिउ पीरा, सब सुन्दर सब विरुज सरीरा।
नहिं दरिद्र कोई दुखी न दीना, नहिं कोउ अबुध न लच्छन हीना ।।७।२१।५,६

इतना ही नहीं 'जब राजा स्वयं' एक पत्नी व्रत का पालक था तो प्रजा अनेक पत्नित्व में गाहस्थ्य-सुख कैसे सोच सकती? जीवन प्रणाली की दृष्टि से राजा तथा प्रजा में विम्ब-प्रतिविम्ब भाव था। कवि के शब्दों में –

सब उदार सब परहितकारी, विप्र चरन सेवक नरनारी।
एकं नारिव्रत रत सब झारी, ते मन-वच-क्रम पति हितकारी ।।७।२२।७,८

जव मनुष्य पूर्णत्व की इस सीमा पर पहुँच जाता है तव सामाजिक जीवन अतीव आह्लादक एवं सुखद रूप धारण कर लेता है। विधान की वाध्यता अनावश्यक हो जाती है। मनुष्य का सामान्य व्यवहार स्वतः तदनुकूल होने लगता है। शान्ति का साम्राज्य छा जाता है। चैन की वंशी वजने लगती है। राम के आदर्श शासन का फल यह हुआ कि –

दंड जतिन्ह कर भेद जंह नर्तक नृत्य समाज।
जीतहु मनहि सुनिअ अस, रामचन्द्र के राज ।।७।२२

की स्पृहणीय स्थिति उपस्थित हो गई थी। अपराध अभाव के कारण होते हैं अथवा स्वभाव के कारण। दोनों ही कारण अस्तित्वहीन हो गये थे। समाज की समृद्धि सुविस्तरित थी

और स्वभाव संस्कृत हो गया था। अभेद में भेद की गति हो ही नहीं सकती थी। शत्रुता के अभाव में किसी के जीतने का प्रश्न ही नहीं उठता था। वेचारे ये शब्द संकोच का अनुभव करने लगे थे।

रामराज्य में मानव जाति की सुख शान्ति और व्यवस्था प्रकृति के क्षेत्र पर भी अपनी स्निग्ध छाया डालकर अपने प्रभाव की सार्वभौमिकता सिद्ध कर रही थी। प्रकृति मानव की सहचरी बन गई थी—

फूलहिं फरहिं सदा तरु कानन। रहहिं एक संग गज पंचानन ॥७।२२।१
लता विटप मागे मधु चवहीं। मन भावतो धेनु पय स्रवहीं ॥७।२३।५
विधु महि पूरि मयूखन्हि, रवि तप जेतनहिं काज,
मांगे वारिद देहिं जल, रामचन्द्र के राज ॥

ऐसा था तुलसी का रामराज्य जिसे भारत में प्रतिष्ठित करने का स्वप्न गाँधी जी देखा करते थे। दोनों आध्यात्मिक स्तर पर अवस्थि थे। सांसारिक वास्तविकताओं को अपनी दृष्टि से देखते थे। दोनों के मानव समाज का चरम विकास प्रयत्न साध्य था। इसे कोरा आदर्श या कवि की कल्पना या आदर्श कहकर टाला नही जा जकता। इसकी बुद्धि ग्राह्यता कवि की विचारधारा और जीवन सम्बन्धी दृष्टिकोण में सम्यक ज्ञान की अपेक्षा रखती है। जब तक हम गोस्वामी जी के यथार्थ-आदर्श सम्बन्धी धारणा समझ न लेंगे तब तक रामराज्य तथा उसकी उपलब्धि को सन्देह की दृष्टि से देखेंगे। गोस्वामी जी का यथार्थ है मनुष्यत्व और आदर्श है आत्मोपलब्धि, भगवतप्राप्ति।

गोस्वामी जी की विशेषता यही है कि उन्होंने मनुष्य को इस यथार्थ और आदर्श के बीच संतुलित रखने और एक दूसरे को साधन-स्वरूप ग्रहण करने का मार्ग प्रस्तुत किया। उन्होंने अपना भक्ति मार्ग इसीलिए स्थापित नहीं किया कि उनकी भक्ति मनुष्य के आदर्श जीवन प्रणाली के अतिरिक्त नहीं। उनकी भक्ति के लिए संसार के प्रति दृष्टिकोण बदलने की आवश्यकता है, वेष और परिवेश नहीं। इसीलिए तो वे कहते हैं—

घर कीन्हे घर जात है, घर छोड़े घर जाय।
तुलसी घर बन बीच ही, राम प्रेम पुर छाय ॥

अर्थ है शरीरी होकर अशरीरी बन जाना, देह में ही विदेहत्व की स्थिति। इसी मानसिक स्थिति के कारण ही—"कर्मणैव हि संसिद्धियास्थिता जनकादयः"। (गीता/३।२०) (जनकादि ज्ञानीजन भी कर्म के द्वारा ही सिद्धि को प्राप्त हुए हैं)।

यही गोस्वामी जी का रामराज्य के संदर्भ में मूल उत्स है। 'घर वन वीच' की अवस्था ही मनुष्य की आदर्श प्रणाली है। यही उसका चरम विकास है। यही राम-राज्य की पूर्णता है।

तुलसी दैवतकविः

रेवाप्रसाद-द्विवेदी
साहित्यविभागाध्यक्षः, प्रा० वि० ध० वि० सं०

पुरा यो वाल्मीकेरभवदिह लोकेऽपि निगमा-
वतारो देवानां वचसि धृतदेहः स विदुषाम् ।
य एतस्मिन् दैन्यद्रुतमनसि संसार-निरये
जनानां भाषायां सुलभमकरोत् तं, स तुलसी ॥ १ ॥

बुधाः केचिद् ब्रूयुर्निजवचसि रामस्य चरितं
न्यबध्नाद् दिव्यात्मा विविधविविधं हन्त तुलसी ।
अहं त्वेवं वीक्षे भवति बत भाषाऽस्य तु नटी
प्रयोगो यस्तस्याः स तु भरत-भू-रूपक-वपुः ॥ २ ॥

दुराक्रान्ते म्लेच्छैर्भरतभुवने, क्षीणसहिम-
न्यथ क्षत्रे, विप्रे धृतवति च वैतालिकधुरम् ।
विषीदन्तीमेतां सुरभिमिव यः संस्कृतिगवीं
जजागारोद्धर्तुं जयति स महान् मानसकविः ॥ ३ ॥

यशःकामः सूते सहृदयजनाराधनपटुः
कविः काव्यं, यद्वा सृजति धनकामः स तदिदम् ।
मुधाजल्पस्त्वेष व्यपगतनिजार्थोऽपि तुलसी
महात्मा राष्ट्रार्थं यदिह कविता-सेतुमतनोत् ॥ ४ ॥

अयोध्या काशीत्वं भजति किल यस्मिन् कविपता-
वयोध्यात्वं काशी व्रजति यदिवा, रामशिवयोः ।
नमस्यामोऽद्वैतं किमपि सकलौपम्य-कलना-
कलापेभ्योऽतीतं तदिह 'तुलसीदास'-बिरुदम् ॥ ५ ॥

उपास्यः काव्ये यः स खलु परमात्मैव, न परः,
परा रीतिर्धर्मः श्रुतिनिहितमर्मैव, न परः ।
परा वागेव द्रागवति रसधारात्वमिति यो
निरातङ्को ब्रूते स खलु तुलसी दैवतकविः ॥ ६ ॥

यस्मिन् सनातनो मार्गो मानुषाणां शुभस्थितिः ।
महामनीषिणे तस्मै 'तुलसी'-वपुषे नमः ॥ ७ ॥

हरिपद रस रस बेद बखाना

शम्भुनाथ राय
भाषाविद्, भौतिकी कक्ष, हिन्दी-प्रकाशन-समिति

राम चरित मानस के कर्त्ता गोसाईं तुलसीदास ने अपने 'मानस' (राम-चरित-मानस) की तुलना मान सरोवर से की है।[१] यह तुलना "मानस-रूपक" नाम से प्रसिद्ध है। वास्तव में ऐसा प्रशस्त सांग रूपक विश्व-वाङ्मय में कहीं हो तो हो किंतु भारतीय वाङ्मय में अब तक कहीं दृष्टिगत नहीं हुआ है। "मानस" की तुलना "मानसरोवर" से करते हुए कवि ने "मानस" को उपमेय तथा "मानसरोवर" को उपमान रूप में प्रस्तुत किया है। दोनो में घाट हैं, दोनो में सोपान हैं, दोनो में जल है, दोनो में गहराई है, दोनो में तरंगें उठती हैं, दोनो में कमल खिले हैं, दोनो में भवँरे गुंजार कर रहे हैं और दोनो में जल-जंतु एवम् जल-विहग कल्लोल कर रहे हैं। इस प्रकार कवि ने उभय पक्ष की ऐसी सर्वांगीण तुलना प्रस्तुत की है कि ऐसा कोई कोना नहीं जिसे उसने झाँक न लिया हो और कोई ऐसा पत्ता नहीं जिसका स्पंदन उसकी आँखों से ओझल रह गया हो। इसी प्रसंग में कवि ने उभय "मानस" के चतुर्दिक अवस्थित अमराई का भी वर्णन किया है, जो इस प्रकार है—

> संत सभा चहुँ दिसि अँवराई। श्रद्धा रितु बसंत सम गाई॥[२]
> भगति निरूपन बिबिध बिधाना। छमा दया दम लता बिताना॥
> सम जम नियम फूल फल ग्याना। हरिपद रति रस बेद बखाना॥
> औरौ कथा अनेक प्रसंगा। तेइ सुक पिक बहु बरन बिहंगा॥

अर्थ :—संतों की सभा (का वर्णन) ही (इस मानस के) चतुर्दिक की अमराई है और श्रद्धा ही वसंत ऋतु के सदृश गाई (बखानी) गई है। अनेक प्रकार से भक्ति का निरूपण, क्षमा, दया और दम ही (इस अमराई में) लता-मंडप हैं। शम, यम और नियम (इस अमराई के) फूल हैं और ज्ञान, फल है, भगवान के चरणों में प्रीति ही (इस फल का) रस है (ऐसा) वेद बखानते हैं। इसके अतिरिक्त (जो) कथाओं के अनेक प्रसंग हैं, वे ही शुक, कोकिल तथा रंग रंग के विहग हैं।

इस वर्णन में उपमेय तथा उपमान उभयपक्ष के शब्द विचारणीय हैं। प्रथम उपमेय "संत सभा" का उपमान "अमराई" है, दोनो ही शब्द स्त्रीलिंग हैं; अतः तुलना सर्वथा संगत है। द्वितीय उपमेय "श्रद्धा" (स्त्रीलिंग) को "वसंत" (पुलिंग) के समान कहने में असंगति हो रही थी किंतु कवि ने उपमान "वसंत" में "ऋतु" शब्द जोड़कर उसे भी स्त्रीलिंग "वसंत ऋतु" बना दिया। इस प्रकार दोनो पक्ष स्त्रीलिंग हो गए और असंगति का परिहार हो गया। तीसरा उपमेय अकेला नहीं है, चार उपमेयों (भक्तिनिरूपण, क्षमा, दया और

---

१ राम चरित मानस, प्रथम सोपान, दोहा ३६ पंक्ति ३ से दोहा ४३ पंक्ति १० तक।

२ प्रथम सोपान, दोहा ३७, पंक्ति १२ से १५ तक।

दम) का समुच्चय है। इसमें दो शब्द 'क्षमा' और 'दया' स्त्रीलिंग हैं किंतु दो पुलिंग शब्दों 'निरूपण' तथा 'दम' के मध्य स्थित हैं। प्रधानता पुलिंग शब्दों की है, अतः उपमान 'लतावितान' भी पुलिंग शब्द ही प्रस्तुत किया गया है। चतुर्थ उपमेय भी ('शम', 'यम' और 'नियम') तीन शब्दों का समुदाय ही है और तीनो पुलिंग हैं। इनका उपमान भी 'फूल' है, जो पुलिंग ही है। पाँचवें उपमेय और उपमान क्रमशः 'ज्ञान' और 'फल' पुलिंग ही हैं। किंतु छठे उपमेय 'हरि पद रति' का उपमान 'रस' है। उपमेय स्त्रीलिंग और उपमान पुलिंग? यह असंगति क्यों। क्या सर्वथा सुसंगत कथन करने वाला कवि चूक गया। कवि की चूक पर अंगुलिनिर्देश के पूर्व विचार कर लेना आवश्यक है कि उक्त चरण में कोई अपपाठ तो नहीं आ गया है। इसके संबंध में राम चरित मानस, काशिराज संस्करण के संपादक का आत्मनिवेदन द्रष्टव्य है। संपादक आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ने उक्त चरण के पाठ के संबंध में इस प्रकार लिखा है –

"मानस-रूपक में मानसर के चारो ओर की अमराई का उल्लेख करते हुए उसमें होने वाले 'फूल फल' तथा 'आस्वाद' का रूपक इस प्रकार बाँधा गया है—

सम जम नियम फूल फल ज्ञाना। हरिपद रति रस बेद बखाना॥

इस अर्धाली के "रतिरस" के स्थान पर "कुंज"[१] में केवल "रस" है। इस प्रकार उसमें दो मात्राएँ कम हो गई हैं। "रघु"[२] में "रस बर" है। "रस" मात्र से पूर्ति न होते देख ऐसा किया गया। यह विचार किया ही नहीं गया कि इससे रूपक खंडित हो रहा है "कुंज" में पहले संशोधन में यही परवर्ती पाठ (रस बर) लिया गया। सं० १७१४ के आस पास इस पाठ पर फिर विचार हुआ तो उसका संशोधन "रति रस" किया गया। संशोधक ने रूपक का विचार कर "रति" शब्द बढ़ाया। "कुंज" में "रस" के पहले "रति" शब्द भी बढ़ा दिया गया। इस प्रकार उसका दूसरा संशोधित पाठ हुआ "हरिपद रति रस बर बेद बखाना"। इस प्रकार दो मात्रएँ बढ़ गईं। सं० १७४३ के लगभग इस पर ध्यान जाने पर फिर संशोधन किया गया और रूपक का ध्यान नहीं रखा गया। संशोधक ने दो "र" कम कर दिए। वहाँ पाठ हो गया "हरिपद रति सब बेद बखाना"। इसमें संदेह नहीं कि इन सबमें सर्वोत्तम पाठ "हरिपद रति रस" ही है। पर मूल लेखक का यह पाठ नहीं है। ऐसी धारणा लेखनसरिण पर विचार करने से प्रतीत होती है। "कुंज" में संशोधोन के पूर्व जो पाठ है, उसमें लिखक ने सामान्यतया होने वाली एक भूल कर दी है। यदि कहीं एक ही आकार-प्रकार के दो शब्द होते हैं तो लिखक भूलकर उनमें से एक ही का ग्रहण करता है। एक ही आकार-प्रकार के शब्द दो बार लिखना लोगों को अभी तक कम पसंद है, लाघव की प्रक्रिया के लिए अब भी "धीरे धीरे" के बदले "धीरे २" लिखा जाता है। हस्तलेखों में भी कहीं कहीं दूसरी विधि से यही प्रक्रिया अपनाई जाती है। जिस

---

[१] श्रावण कुंज, अयोध्या की प्रति।

[२] रघु तिवारी लिखक की प्रति, प्राप्ति-स्थान सरस्वती भंडार, राम नगर दुर्ग, वाराणसी।

शब्द को दो वार पढ़ना होता है उस पर कोई द्विरुक्ति वोधक चिह्न लगा देते हैं। यहाँ मूल पाठ "हरिपद रस रस वेद वखाना" जान पड़ता है। दो वार "रस" शब्द आ जाने से एक "रस" छूट गया अथवा द्विरुक्ति वोधक चिह्न लगाना लिखक भूल गया। "रस" का अर्थ "प्रेम" होता ही है। दो वार "रस" शब्द से यमकालंकार की जो छटा आती है उसकी प्रशंसा किए बिना साहित्य-शास्त्र-भ्यासी नहीं रह सकते। इस पाठ के पक्ष में यह भी कहा जा सकता है कि दो वार "रस" कहने में कथ्य पर जितना वल पड़ता है उतना "रति रस" कहने से नहीं। वैज्ञानिक पद्धति "रस रस" ग्रहण करने के पक्ष में नहीं हो सकती। क्योंकि यह पाठ किसी हस्तलेख में नहीं है। वहुत पहले ही किसी प्रकार यह पाठ छूट गया। प्रस्तुत संस्करण में उक्त संभाव्य पाठ नहीं लिया गया। उसका यहाँ केवल सुझाव ही दिया जा रहा है।"

विद्वान् संपादक परमार्थ पाठ तक पहुँच कर भी उसे ग्रहण नहीं कर सका। करता भी कैसे, वैज्ञानिक पद्धति का आग्रह जो था। केवल सुझाव पर कई लोगों ने आक्षेप किया कि 'प्रेम' अर्थ में 'रस' शब्द का प्रयोग 'मानस' में कहीं हुआ ही नहीं है, अतः उक्त पाठ की संभाव्यता की कल्पना ही निराधार है। किंतु इस कथन में यथार्थता नहीं, मानस' में 'प्रेम' अर्थ में 'रस' शब्द का प्रयोग अनेकत्र हुआ है। उदाहरण के लिए आदर्श प्रीति की दुहाई देने वाले प्रथम सोपान के परम प्रसिद्ध सोरठे को ही ले लें—

जलु पय सरिस बिकाइ देखहु प्रीति कि रीति भलि।
बिलग होइ रसु जाइ कपटु खटाई परत पुनि ॥५७॥

अर्थ :—जल (दूध में मिल जाने पर) दूध के ही सदृश (समान मूल्य पर) बिका करता है, देखो, प्रीति की (क्या ही) भली रीति है, (किंतु) कपट की खटाई पड़ते ही (वह जल) पुनः (दूध से) विलग (पृथक्) हो जाता है, (दोनो का) रस (प्रेम रूपी आस्वाद) जाता रहता (समाप्त हो जाता) है।

यद्यपि टीकाकारों ने इस सोरठे का अर्थ करते हुए "रस" शब्द का अर्थ केवल "स्वाद" ग्रहण किया है, किंतु यहाँ "रस" शब्द श्लिष्ट है, जिसका अर्थ "प्रेम" और "आस्वाद" दोनो ही है। जैसे खटाई पड़ जाने से दूध और जल का आस्वाद विनष्ट हो जाता है, वैसे ही कपट मिल जाने से दो व्यक्तियों का प्रेम गर्हित हो जाता है। कवि का अभिप्रेत कथ्य भी यही है। उसने सोरठे की प्रथम अर्द्धाली में प्रीति के संघटन और दूसरी अर्द्धाली में प्रीति के विघटन की प्रक्रिया बताई है। गोसाईं जी को किसी भी छंद में जब किसी शब्द की आवृत्ति अभीप्सित होती है तो किसी उपयुक्त पर्याय को ही प्रस्तुत करते हैं। यहाँ भी "रसु" शब्द "प्रीति" का पर्याय ही है, किंतु सामान्य नहीं श्लिष्ट है। अर्थ केवल 'प्रेम' ही नहीं "आस्वाद" भी है। कवि को "कपट" के समानांतर "खटाई" की भी संगति वैठानी थी। अतः उसने "रस" ऐसा समीचीन शब्द प्रस्तुत किया कि उसी के अर्थ में "कपट" और "खटाई" दोनो के ही परिणाम नियोजित हो गए।

प्रथम सोपन से एक उदाहरण और द्रष्टव्य है जो कि राम के विवाहोपरांत वरातियों एवं उपस्थित मुनिर्वृंद के सम्मान में जनक ने निवेदन किया है। छंद इस प्रकार है—

सनमानि सकल बरात आदर दान विनय बड़ाइ कैं।
प्रमुदित महा मुनि बृंद बंदे पूजि प्रेम लड़ाइ कैं।
सिरु नाइ देव मनाइ सब सन कहत रस संपुट किए।
सुर साधु चाहत भाउ सिंधु कि तोष जल अंजलि दिए। ३२६।१२

अर्थ :—(जनक ने) आदर, दान एवं प्रशंसा द्वारा समस्त बरात का सम्मान कर लेने पर अत्यंत प्रसन्न (मुद्रा में) परिपूर्ण प्रेम प्रदर्शित करते हुए पूजन करके मुनिवृंद की वंदना की, (तत्पश्चात्) शिर नवा कर देवों की वंदना करके (हाथों में मानो) प्रेम संपुटित किए हुए (प्रेम की पोटली लिए हुए) सबसे कह रहे हैं कि देवता और साधु तो केवल भाव (प्रेम) चाहते हैं (परितुष्ट करने के लिए यदि कुछ देना ही चाहूँ तो क्या दे सकता हूँ) क्या जल की एक अंजली देने से समुद्र संतुष्ट होता है।

इस छंद में तो सारा व्यापार ही प्रेम-पूरित है किंतु 'प्रेम' शब्द की पुनरावृत्ति नहीं है। पहले ही कहा जा चुका है कि कवि एक ही छंद में प्रयुक्त किसी भी शब्द की पुनरावृत्ति करता ही नहीं। यदि आवश्यकता हुई तो उसका पर्याय ही प्रस्तुत करता है। प्रत्यक्ष है, छंद की दूसरी पंक्ति में प्रेम' शब्द आया तो तीसरी पंक्ति में 'रस' और चौथी पंक्ति में 'भाउ'। अर्थ तीनो का एक ही है।

तीसरा उदाहरण द्वितीय सोपान से प्रस्तुत है। प्रसंग चित्रकूट का है, राम का आदेश शिरोधार्य कर भरत अयोध्या लौट जाने को सहमत हो गए हैं। राम भरत को भुजाओं में भरकर भेंट रहे हैं, वियोग का दृश्य उपस्थित है। राम के नेत्रों से अश्रुपात हो रहा है, संपूर्ण वातावरण करुण हो गया है। जगत रूपी जल में पद्मपत्र के समान निर्लिप्त रहने वाले वसिष्ठ और जनक भी भरत एवं राम की प्रीति देखकर प्रेम-मग्न हैं। कवि उस विरह-दृश्य का वर्णन करने में असमर्थ हो रहा है—

जहाँ जनक गुरु गति मति भोरी। प्राकृत प्रीति कहत बड़ि खोरी॥
बरनत रघुबर भरत वियोगू। सुनि कठोर कवि जानिहि लोगू॥
सो सकोच रसु अकथ सुबानी। समउ सनेहु सुमिरि सकुचानी॥

अर्थ :—(राम और भरत की प्रीति देखकर) जहाँ जनक तथा गुरु (वसिष्ठ) की गति एवं बुद्धि भोली (विह्वल) हो गई है (वहाँ उस प्रीति को) प्राकृत (सांसारिक) प्रीति (के समान) कहते हुए बड़ी खोट होगी। "रघुवर (राम) और भरत का वियोग वर्णन कर रहा है" (यह) सुनकर लोग (मुझे) कठोर कवि जानेंगे (कहेंगे)। (राम और भरत का परस्पर) वह संकोच और प्रेम अनिर्वचनीय है (जिसका वर्णन करने में कवि की) सुवानी (सरस्वती) अवसर तथा प्रीति को स्मरण करके संकुचित हो गई। (कहने का तात्पर्य यह है कि राम और भरत की प्रीति प्राकृत नहीं दिव्य है, अतः वियोग के अवसर पर दोनो भाइयों का परस्पर संकोच तथा प्रेम, प्राकृत कवि की उत्तम वाणी से भी अभिव्यक्त नहीं हो सकता। इस दिव्य प्रेम का वर्णन दिव्य वाणी से ही संभव है)।

यहाँ तो "रस" शब्द का प्रयोग बहुत स्पष्ट रूप से "प्रेम" अर्थ में हुआ है। यदि कोई इस "रस" शब्द का अन्य अर्थ करने का प्रयास करे भी तो भाव कवि के अभीप्सित

भाव से भिन्न हो जाएगा। यहाँ "रसु" शब्द का अर्थ "प्रेम" ही है इसकी पुष्टि तो उसी अर्धाली के अगले चरण (समउ सनेहु सुमिरि सकुचानी) में आए "सनेहु" शब्द से ही हो रही है, दृष्टि को केवल "मति-गति" चाहिए।

कहा जाता है कि चार की राय से किया हुआ काम अच्छा होता है। दूसरे शब्दों में—किसी भी निर्णय में चार की सहमति होनी चाहिए। अतः चौथा उदाहरण भी प्रस्तुत करना आवश्यक है। कवि ने द्वितीय सोपान की फल-श्रुति सोपान के अंत में सोरठा छंद में कही है। सोरठा इस प्रकार है—

भरत चरित करि नेमु तुलसी जो सादर सुनहिं।
सीय राम पद पेमु अवसि होइ भवरस बिरति ॥३२५॥

अर्थ : तुलसीदास कहता है कि जो (लोग) नियम पूर्वक आदर सहित भरत-चरित सुनते हैं, (उन्हें) सीता-राम के चरणों में प्रेम (अनायास ही) हो जाता है और भवरस (सांसारिक प्रेम) से विरक्ति निश्चय ही हो जाती है।

एक ओर प्रेम जुटता है, दूसरी ओर प्रेम टूटता है। दिव्य के प्रति हृदय में अनुराग उदित होते ही अदिव्य के प्रति विराग हो जाना स्वाभाविक है। परमार्थ, जिसमें कि दुख का सर्वथा अभाव ही रहता है, के प्राप्त हो जाने पर कौन ऐसा मूर्ख है जो जागतिक प्रेम में बँधा रहना चाहेगा। यहाँ भी कवि ने यथार्थ प्रस्तुत करके एक ही शब्द की पुनरावृत्ति न करने की अपनी परिपाटी का निर्वाह किया है। सोरठे के तीसरे चरण में "पेमु" शब्द दिया तो चौथे चरण में उसी का समानार्थक "रस" शब्द प्रस्तुत कर दिया। इस प्रकार छंद, दोष से मुक्त रहा और अर्थ का स्वारस्य भी उजागर रहा।

अब इन चार उदाहरणों से यह भली भाँति स्पष्ट हो गया कि राम-चरित-मानस में 'रस" शब्द "प्रेम" अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। केवल वैज्ञानिक पद्धति का अनुसर्त्ता संपादक द्वारा गृहीत पाठ का ही पक्षधर होगा किंतु यथार्थ अनुमान को भी परमार्थ मानने वाला तुच्छ साहित्यशास्त्राभ्यासी भी विद्वान् संपादक के सुझाव को ही श्रेयस्कर कहेगा। वस्तुतः ऐसे स्थलों पर वैज्ञानिक पद्धति भी केपल पद्धति (पद्+हति=पाँव पटकना) ही प्रतीत होती है। यदि अनुसंधायकों को इस "पद्धति" के रस से विरति हो जाए तो निस्संदेह उन्हें कवि का मूल पाठ ही दृग्गोचर होगा—

"हरिपद रस रस बेद बखाना"

भरत महामहिमा जलरासो

राधाकान्त ओझा

शोध छात्र, प्रा० वि० ध० वि० संकाय,

जब विश्व के किसी राष्ट्र में विप्लव की स्थिति आती है तब एक ऐसे आदर्श मानव की आवश्यकता होती है जो, अपने आदर्श चरित्र के उपहार से मानवमात्र में सुख और शान्ति की अजस्र धारा प्रवाहित करे।

ऐसे महान व्यक्तियों में श्री भरत की गणना अत्युक्ति पूर्ण नहीं होगी। श्री भरत त्याग की प्रतिमूर्ति थे। भरत की त्यागमहिमा को गोस्वामी तुलसीदास जी ने समुद्र माना है। जिसमें श्रीराम के चरणों में भरत का अनुराग ही अगाध जल है[१]। अतः गोस्वामी तुलसीदास जी ने समुद्र को अगाध एवं दुस्तर प्रमाणित करने के लिये रूपकालङ्कार का आश्रय लिया है।

इस रूपक में भरत महामहिमा जलराशि हैं। महर्षि वशिष्ट की वुद्धि एक अवला है जो, समुद्र पार करना चाहती है किन्तु, उसे न उपयुक्त नाव, न बोहित तथा न वेड़ा ही मिलता है[२]। महामनीषी वशिष्ठ जी ने वुद्धिरूपी अवला को पार कराने के लिये जिन तीन साधनों का उपयोग किया है वे क्रमशः विद्या,[३] वेदान्त तथा शारींरिक सुख के प्रतीक हैं।

राजा दशरथ् की मृत्यु के वाद, अयोध्या की पहली सभा में महर्षि वशिष्ठ ने भरत के धर्मशास्त्रानुमोदित राज्य का विधान वनाकर राज्य करने के लिये दवाव डाला वही समुद्र की नाव है।

"वेद विदित संमत सब ही का। जेहि पितु देई सो पावइ टीका" ॥
करहु सीस धरि भूप रजाई। हइ तुम्ह कहुँ सब भांति भलाई ॥

उदाहरण के साथ पिता की आज्ञा का पालन करने के लिये कहना भरत के प्रति दवाव डालना है।[५]

---

१ "तात भरत तुम सब विधि साधू। राम चरण अनुराग अगाधू ।।"
रा० च० मा० अयो० का० २०४।७

२ "भरत महामहिमा जलरासी। मुनि मति ठाढ़ि तीर अबला सी ।।
"गा चह पार जतनु हियँ हेरा। पावति नाव न वोहितु वेरा ।।"
मा० अयो० २५६।२, ३

३ केवट बुध विद्या वड़िनावा। सकहिं न खेइ ऐक नहिं आवा ।। अयो० २७५।४

४ बंदऊँ चारिउ बेद, भवबारिधि बोहित सरिसु।
जिन्हहिं न सपनेउँ खेद, बरनत रघुपति विसद जसु।। बा० का० सोरठा १४ (ङ)

५ रा० च० मा० अयो० का० १७४।३ १७३।६।

"परसुराम पितु अग्या राखी। मारी मातु लोक सब साखी[१] ॥
तनय जजातिहि यौवन दयऊ। पितु अग्याँ अघ अजसु न भयऊ ॥"
अनुचित उचित विचारु तजि जे पालहिं पितु बैन।
ते भाजन सुख सुजस के बसहिं अमरपति ऐन ॥[२]

श्री वशिष्ठ द्वारा वार-वार चली आती हुई परम्परा का उल्लंघन न हो, ऐसी चेष्टा भी की जा रही है।

यहु सुनि समुझि सोचु परिहरहू। सिरधरि राज रजायसु करहू ॥[३]
करहु राजु परिहरहु गलानी। मानहु मोर बचन हित जानी ॥[४]

भगवान् राम और सीता के रहते हुए राजतिलक स्वीकार करना सर्वथा अनुचित ही नहीं वंश परम्परा के विरुद्ध होगा भरत के इस संकोच का निराकरण करते हुए महर्षि वशिष्ठ ने पुनः कहा—

सुनि सुखु लहब राम बैदेही। अनुचित कहब न पंडित केही ॥[५]

महर्षि वशिष्ट के वचनों के प्रामाण्य से राजमाताओं ने, तथा मन्त्रियों ने भी सहर्ष उक्त प्रस्ताव का ही अनुमोदन किया।

भगवान राम के वनगमन और राजा दसरथ की मृत्यु के वाद भरत ने जिस अयोध्या को देखा है वह, राम की विरहज्वाला से धधकती हुई दीख पड़ती है।[६] वनो-उपवनों से सुशोभित अयोध्या को मानों किसी हथिनी ने उजाड़ दिया है।[७] कमल के समान सुकोमल अयोध्या के मुख मण्डल पर मानो तुषारपात हो गया हैं।[८] विपत्ति की कालीधटा ने मानो उसके श्वेत मुखचन्द्र पर कालिख पोत दी है। आकाश से निकली तमोराशि ने कालाञ्जनों की वर्षा कर अयोध्या को डूवो दिया है। किसी राक्षस ने मानो मुखरित अयोध्या को मूक वना दिया है। वागों में रहनेवाले शुक-पिक भी राम के विरह में मूक रहकर शोकाभिव्यक्ति ज्ञापित कर रहे हैं।[९] नदी की धारा में, तालाब में तथा वनोपवनों में निःस्तब्धता का साम्राज्य सा हो गया हैं।[१०] कहीं-कहीं नगर के वीच गदहों और सियारों की प्रतिकूल वाणी ने भरत के हृदय को और भी उन्मथित कर दिया है।[११]

भरत को अयोध्या के भवन श्मशान से दिखाई पड़ रहे हैं। वहाँ के निवासी तो नग्न नृत्य करने वाले भूत-प्रेतों जैसे मालूम पड़ रहे हैं।[१२]

ऐसी परिस्थिति में सभी आक्षेपों से निर्मुक्त होते हुए भी भरत ने अयोध्या के राजतिलक को मानवता के विरुद्ध समझते हुए उसे स्वीकार नहीं किया।

---

[१] रा०च०मा० अयो० का० १७३।७. ८।
[२] रा० च० मा० अयो० १७४।
[३] रा० च० मा० अयो० १७३।२।
[४] रा०च०मा० अयो० १७४।४।
[५] रा० च० मा० अयो० १७४।५।
[६] रा० च० मा० अयो० १५८।१।
[७] रा० च० मा० अयो० २८।७-८
[८] रा० च० मा० अयो० १५७।७-८
[९] रा० च० मा० अयो० १५७-६।
[१०] रा० च० मा० अयो० १५७।६।
[११] रा० च० मा० अयो० १५७।५।
[१२] रा०च०मा० अयो० का० ८२/६।

अतएव नीति वेत्ता भरत ने वशिष्ठ के गुरुत्व की रक्षा करते हुए कहा :—

"गुरु बिवेक सागर जगु जाना। जिन्हई विस्व करवदर समाना ॥
मो कहँ तिलक साज सज सोऊ। भएँ विधि विमुख विमुख सब कोऊ ॥"
(अयो० १८१,१,२)

श्री भरत ने विधाता को विमुख कहकर पुनः सबको विमुख कहा। सबको विमुख कहना, गुरु की ओर संकेत करना है। क्योंकि विधाता के रूठने पर गुरु ही उसकी रक्षा करता है।

गुरु वशिष्ठ से रक्षा न हो सकी। यह भरत का कितना मार्मिक संकेत है। गुरु का कर्तव्य है कि जीव को जगज्जाल से छुड़ाकर भगवान् श्रीराम के चरणों म लगा दे। किन्तु भगवान के श्री चरणों को छुड़ा कर राज्य में लगाना भरत ने कुपथ्य माना है। विपरीत उपचार भरत को पसन्द भी नहीं है :—

"ग्रह ग्रहीत पुनि बात बस, तेहि पुनि बीछी मार।
तेहि पिआइअ बारुनी कहउ काह उपचार ॥ अयो० १८०

इस तरह भी भरत के वचनों को सुनकर गुरु वशिष्ठ निरुत्तर हो गये। भरत के अनुराग रूपी तरंगों में नाव डूब गयी। सभी के विविध विचार श्री भरत के विचार में अन्तर्हित हो गये। भरत की आज्ञा से सबों ने श्रीराम और सीता को वन से लौटाने के लिये चित्रकूट चलने की तैयारी की।

पुनः गुरु वशिष्ठ ने चित्रकूट प्रसंग में भरत के महिमा समुद्र के संतरण के लिये "बोहित" का आश्रय लिया उन्होंने भरत तथा सभासदों को सम्बोधित करते हुए कहा— "सूर्यवंश के सूर्य, धर्मधुरीण, राजा राम स्वतंत्र हैं। भगवान राम, सत्यनिष्ठ और वेदरूपी सेतु के संरक्षक हैं। इनका जन्म संसार के कल्याणार्थ हुआ है। ये गुरु, पिता और माता के वचनों के अनुसरण करने वाले, देवताओं के हितैषी तथा दुष्टों के नाश करने वाले हैं। नीति, प्रीति तथा परमार्थ-स्वार्थ को इनसे बढ़कर कोई नहीं जान सकता। इनकी आज्ञा का पालन विधि, हरि, और हर से लेकर जगत के शक्तिशाली प्राणी भी करते हैं।[१] अतः भगवान राम के रुख को देखते हुए इनके आदेश को स्वीकार करना ही हमसबों का परम कर्त्तव्य[२] है।"

"सब कहुँ सुखद राम अभिषेकू। मंगल मोद मूल मग एकू ॥
केहि विधि अवध चलहि रघुराऊ। कहहु समुझि सोई करिअ उपाऊ ॥"
(राम च० मा० अयो० २५४ - १ से २)

महर्षि वशिष्ठ ने दूसरे प्रस्ताव को रखते हुए सभासदों से भगवान राम को अयोध्या लौटाने का उपाय भी पूछा।

यह महर्षि वशिष्ठ की राजनीतिक दूरदर्शिता है; जिसने अपने को बचाते हुए मूक सभा को मुखरित कर दिया।

---

[१] मा० अयो० २५३/२ से ८। [२] मा० अयो० २५४।

गुरु वशिष्ठ की रहस्यमयी उक्ति के संशोधन करने में सबों को असमर्थ देखते हुए उस सभा के एकमात्र प्रतिनिधि श्री भरत ने कहा :—

भानुवंस भए भूप घनेरे। अधिक एक त एक बड़ेरे॥
जनम हेतु सब कहुँ पितु माता। कर्म सुभासुभ देइ विधाता॥
दलि दुख सजइ सकल कल्याना। अस असीस राउरि जगुजाना॥"[१]

श्री भरत एक ऐसे विज्ञ तथा विनयीपात्र हैं जिनके उत्तर का एक-एक शब्द सभा को मंत्र मुग्ध कर देता है भरत ने गुरु वशिष्ट के गुरुत्व को विधाता से भी उन्नत प्रमाणित करते हुए श्री राम के वनवास को ही मुख्य प्रश्न बनाया।

"सो गोंसाइँ विधिगति जेंहि छेंकी।
सकइ को टारि टेक जो टेकी॥ २५४।८
बूझिअ मोंहि उपाय अब, सो सब मोर अभागु।
सुनि सनेंहमय बचन गुरु, उर उमँगेउ अनुराग॥" २५५

विधि की गति जो कर्म में है (कर्म सुभासुभ देइ विधाता) किन्तु गुरु का कर्तव्य तो विधाता से भी ऊँचा और उससे कुछ भिन्न है। गोस्वामी तुलसीदास जी ने गुरु के कर्त्तव्य की ओर संकेत किया है।

"हरइ सिष्य धन सोक न हरई। ते गुरु घोर नरकु महुँ परई॥"

अथवा ब्रह्मपद का ज्ञान करा देना गुरु का कर्तव्य है (अखण्डमण्डलाकारं इत्यादि)।

श्री भरत ने गुरु बशिष्ठ पर गुरुत्व का पालन ठीक ढंग से न करने का आरोप लगाते हुए कहा—आपने भी अपने पिता का अनुसरण किया है क्योंकि जैसे ब्रह्मादिक भगवान राम की आज्ञा का पालन करते हैं वैसे ही आपने भी भगवान राम के आशयानुकूल कार्य किया है। आपने गुरु जैसे उच्चपद की ओर ध्यान नहीं दिया। गुरु का यह कर्तव्य है कि विधाता के विपरीत होने पर वह अपने शिष्य की रक्षा करे।

जिस समय भगवान राम का वनवास हुआ उसी समय आप एक ऐसी टेक (प्रतिज्ञा) रखते कि जब तक भरत अयोध्या न आ जायें तब तक राम का वन गमन न हो? कौन नहीं आपकी बात को मानता? जब मैं ननिहाल से आ जाता तब आप हमसे उपाय पूछते? अब इस समय हमें सुजान की उपाधि देते हुए उपाय पूछते हैं? जब हमारे पिता की मृत्यु हो गई, हमारे बड़े भाई वन में भटकने लगे, हमारी माताएँ विधवा हो गई, ऐसी परिस्थिति मे अब आप हमसे उपाय पूछते हैं? आपका अब यह उपाय पूछना मेरा दुर्भाग्य है।[२] मैं समझता हूँ कि मुझ पर गुरु की भी कृपा नहीं हुई।

श्री भरत के इस उत्तर को सुनते ही गुरु बशिष्ठ भरत अनुराग-तरंग में निमग्न हो गये।[३] उनका वेद रूपी बोहित (जहाज) भी डूब गया।

---

[१] मा० अयो० २४५।५-७।
[२-३] अयो० २५५।

अन्त में उन्होंने श्री भरत के महिमा समुद्र के संतरण के लिये "बेड़ा" का सहारा लिया। गोस्वामी तुलसीदास जी ने भवसमुद्र को पार करने के लिए मानवीय शरीर को "बेड़ा" कहा है।

"नरतनु भववारिधि कहुँ बेरो। सन्मुख मरुत अनुग्रह मेरो॥"[१]

अतएव गुरु बशिष्ठ ने शारीरिक सुख के त्याग को अतिकठिन समझते हुए इस तीसरे प्रस्ताव को रखा।

"तुम्ह कानन गवनहुँ दोउ भाई। फेरिअहिं लषन सीय रघुराई॥

अब तक जो भरत का त्याग था वह, सीता राम और लक्ष्मण के स्नेह का प्रतिफल था। इस तरह का त्याग तो दशरथादि बहुत से लोगों ने किया था। किन्तु राम के लिये राम का त्याग किसी ने नहीं किया था। श्री भरत ने जिसे प्रतिज्ञा पूर्वक कहा—

"कानन करउँ जनम भरि बासू। एहि ते अधिक न मोर सुपासू॥[२]"

यदि भगवान राम पुनः अयोध्या लौट चलें तो मैं उनके बदले जीवन भर जंगल में ही रहूँ। भगवान राम को अन्तरसाक्षी बताते हुए श्री भरत ने कहा :—

"अन्तर्जामी रामु सिय, तुम्ह सरवग्य सुजान।
जौ फुर कहहु त नाथ निज, कीजिअ बचन प्रवान॥"[३]

वास्तव में श्री भरत के स्वभाव एवं शील की प्रशंसा जनक ने भी की थी—

"परमारथ स्वारथ सुख सारे। भरत न सपनेहु मनहु निहारे॥
साधन सिद्धिराम पद नेहू। मोहि लखि परत भरत मत एहू॥"[४]

इस तरह भरत के स्नेह में गुरु वशिष्ठ को निरुत्तर होना पड़ा। गुरु बशिष्ठ भरत के अनुराग में ऐसे निमग्न हो गये कि उनका तीसरा साधन भी असफल रहा। उनकी बुद्धिरूपी अबला भरतमहामहिमासमुद्र को पार न कर सकी।

गोस्वामी तुलसीदास जी ने श्री रामचरितमानस में श्री भरत जैसे आदर्शपात्र को इसलिये रखा है जिसके आदर्श जीवन को पढ़कर, तदनुरूप आचरण करने वाला मानव, मानवमात्र का ही नहीं, अपितु जगत के सभी जीवों का प्रेमास्पद बन सके। श्री भरत के पुनीत चरित् को देखकर भगवान राम भरत के नाम को ही सदा जपते थे। ऐसे श्री भरत को पाकर ही यह देश "भारतवर्ष" की उपाधि से विभूषित है।

———

[१] उत्तर कां० ४३।७।
[२] रा० च० मा० अयो० का० २५५।८।
[३] रा०च०मा० अयो०का० २५६।
[४] रा०च०मा० अयो० का० २८८।७८।

'मानस' में युगधर्म

डा० अवधेश कुमार तिवारी
रीडर, गणित विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय

भगवान शिव के विराट मानस से उद्भूत और भगवती पार्वती के लोक कल्याणकारी प्रश्नों के उत्तर में प्रकाशित श्री रामकथा जब गोस्वामी जी की लेखनी द्वारा रामचरित मानस के रूप में अवतरित हुई, तो वह जन मानस की अमूल्यनिधि बन गई। भक्त कवि को केवल ऐसी रामकथा प्रस्तुत करना अभीष्ट था जो 'सकल लोक हितकारी' हो। संभवतः यही कारण है कि उन्होंने राम नाम को, जो सर्वसाधारण के लिये सुलभ है, ब्रह्म राम से भी श्रेष्ठ माना। भगवान के पावन नाम एवं चरित्र को उन्होंने समस्त सांसारिक व्याधियों की महौषधि "संसार.मय भेषजम्" 'संसृति रोग सजीवन मूरी' तथा चारों युगों में प्रभावकारी बतलाया। 'चहुं जुग चहुं श्रुति नाम प्रभाऊ'। नाम साधना द्वारा मनुष्य की चित्तवृत्तियां परिष्कृत होती हैं और आचरण में शुद्धता आती है। प्रत्येक श्रेणी के साधक को युगधर्म पहचान कर तदनुकूल साधन स्थिर करना चाहिए। इस सम्बन्ध में यह उल्लेखनीय है कि सत्व, रज और तम इन तीन गुणों से हमारी समस्त प्रवृत्तियाँ और क्रियाकलाप प्रभावित और अभिप्रेरित होते हैं। चारों युगों के स्वरूप का निर्णय भी उनमें प्रगट गुणों की विभिन्न मात्राओं द्वारा होता है। इस आधार पर हम प्रत्येक युग का लक्षण, प्रभाव एवं तत्संबंधी साधन की चर्चा मानस में दी गई परिभाषा के आधार पर करेंगे।

सतयुग : लक्षण और प्रभाव :

'सुद्ध सत्व समता बिज्ञाना। कृत प्रभाव प्रसन्न मन जाना॥'
साधन : 'कृत युग सब योगी बिज्ञानी।
करि हरि ध्यान तरहिं भव प्रानी॥'

इस युग में केवल शुद्ध या उत्तम सत्व का आविर्भाव रहता है। शुद्ध सत्व का लक्षण है 'समता'। जब राग द्वेष से निवृत्ति हो तभी समता आती है। ऐसे ही भक्त को भगवान कृष्ण ने गीता में ब्रह्मभूत बतलाया है 'ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न कांक्षति। समः सर्वेषु भूतेषु मद् भक्ति लभते पराम्।' ब्रह्मभूत होने का अर्थ है सर्वत्र ब्रह्म दर्शन करना। इसी की संज्ञा विज्ञान है। 'दुर्लभ ब्रह्मलीन विज्ञानी।' विज्ञान से समता की प्राप्ति 'बिनु बिज्ञान की समता आवै' और समता की अभिव्यक्ति, प्रसन्नता में होती हैं। समता को गीता में योग भी कहा गया है 'समत्वं योगउच्यते'। समत्व आने पर सम्पूर्ण जगत सीयराममय हो जाता है और 'मैं सेवक सचराचर रूप स्वामि भगवंत' की भावना दृढ़ हो जाती है। ऐसे ही नित्य युक्त भक्त के सम्बन्ध में शिव जी ने पार्वती जी से कहा है—

'उमा जे राम चरन रत बिगत काम मद क्रोध।
निज प्रभुमय देखहिं जगत केहि सन करहिं बिरोध॥'

कृतयुग का प्रभाव होने पर अर्थात समता आने पर हृदय शुद्ध रहता है। इसीलिए इस युग में प्रधान साधन ध्यान है। शुद्ध हृदय में भगवान का ध्यान करके उनके स्वरूप को स्थायी रखा जा सकता है। 'करि हरि ध्यान तरहिं भव प्रानी'। सतयुग में गीता में वर्णित अकर्मावस्था रहती है। सूर्य की तरह सतत कार्यशील रहते भी कर्तापन का भान नहीं रहता। परम भागवत श्री कागभुशुंडि जी इस युग का प्रभाव होने पर पीपल के वृक्ष के नीचे ध्यान करते थे 'पीपर तरु तर ध्यान सो करई" पीपल साक्षात् भगवान वासुदेव का स्वरूप ही है। 'अश्वत्थः सर्व वृक्षाणाम्'। भगवान वासुदेव की छाया में बैठकर मनुष्य इन्द्रियजन्य दोषों से प्रभावित नहीं हो सकता। 'सीम कि चापि सकइ कोइ तासू। बड़ रखवार रमापति जासू ॥'

त्रेतायुग : लक्षण और प्रभाव :

सत्व बहुत रज कछु रति कर्मा। सब विधि सुख त्रेता कर धर्मा ॥

साधन : त्रेता विविध यज्ञ नर करहीं।
प्रभुहि समर्पि कर्म भव तरहीं ॥

त्रेता में मध्यम सत्व, अधम सत्व का कुछ अंश (सत्व बहुत) तथा उत्तम रजोगुण (रज कछु) का सामंजस्य रहता है। उत्तम सत्व के अभाव के कारण इस युग में कर्मों में रति रहती है क्योंकि उत्तम रजोगुण इस युग में वर्तमान रहता है। सत्वांश अधिक होने से ये कर्म निष्काम होते हैं। जैसे सतयुग में समता से विज्ञान की प्राप्ति होती है, वैसे ही त्रेता में निष्काम कर्म द्वारा ज्ञान की प्राप्ति होती है। विज्ञान का मूलभूत उपकरण समता और ज्ञान का निष्काम कर्म है। कर्म होने से कर्तापन का भान रहता है, इसलिये विज्ञान की प्राप्ति तब तक संभव नहीं जब तक रजोगुण पूर्ण समाप्त न हो जाय। निष्काम कर्म का अर्थ है लोक कल्याण के लिए किये गये कर्म। यही कर्म यज्ञ कहलाते हैं। त्रेता का प्रभाव है 'सुख।' लोक कल्याणार्थ कर्म करने पर हृदय में जो सन्तोष और आनन्द का भाव होता है, उसी का नाम सुख है। यह सुख सतयुग में प्राप्त प्रसन्नता से भिन्न है। अकर्मावस्था में प्रसन्नता मन की स्वाभाविक वृत्ति है। दूसरों के लिए कर्तव्य रूप में किये गये कर्मों के अनुष्ठान द्वारा कर्तापन के ज्ञान के साथ जो आत्मतृप्ति होती है, उसकी अभिव्यक्ति सुख में होती है। इस युग में यज्ञ स्वार्थ सिद्धि के लिए नहीं होते इसलिए कर्मों का फल भगवान को समर्पित कर लोग संसार सागर से पार होते हैं। भागवत शिरोमणि श्री काग जी इस युग का प्रभाव जानकर 'जापयज्ञ पाकरि तर' करते थे। यज्ञों में जप यज्ञ सर्वश्रेष्ठ माना गया है 'यज्ञानां जप यज्ञोऽस्मि' ऐसा भगवान कृष्ण का वचन है।

द्वापर : लक्षण और प्रभाव :

बहुरज स्वल्प सत्व कछु तामस। द्वापर धर्म हरष भय मानस ॥

साधन : द्वापर करि रघुपति पद पूजा।
नर भव तरहिं उपाय न दूजा ॥

द्वापर में मध्यम रज, अधम रज का कुछ अंश (बहु रज) अधम सत्व का शेषांश (स्वल्प

सत्व) और उत्तम तामस (कछु तामस) इन गुणों का मिश्रण रहता है। सत्व का बहुत कम अंश रहने के कारण ध्यान संभव नहीं, उत्तम रज के अभाव में यज्ञ भी इस युग में संभव नहीं है। इसलिए इस युग में एकमात्र आधार प्रभुचरणों की पूजा है। इस युग में सकाम कर्म होते हैं। अतः अपनी कामनाओं की पूर्ति के लिए भगवान से ही प्रार्थना करना उनकी अर्चना करना इस युग के लिए उपयुक्त साधन है। गुणों के संघर्ष के कारण इस युग का प्रभाव हर्ष और भय है। त्रेता में निष्काम वृत्ति के कारण चक्रवर्ती राज्यपद श्रीराम और श्री भरत द्वारा ठुकराया जाता है पर द्वापर में सकाम भाव की प्रधानता के कारण पांच गांव के लिए महाभारत का घमासान युद्ध होता है। श्री काग भुशुंडि जी इस युग में 'आंव छांह करि मानस पूजा' युग के प्रभाव से निर्लिप्त हो जाते थे।

कलियुग : लक्षण और प्रभाव :

तामस बहुत रजोगुन थोरा। कलि प्रभाव विरोध चहुं ओरा॥

साधन : कलियुग केवल हरि गुन गाहा।
गावत नर पावहिं भव थाहा॥
कलियुग जोग न जग्य न ज्ञाना।
एक अधार राम गुन गाना॥
सब भरोस तजि जो भज रामहि।
प्रेम समेत गाव गुन ग्रामहि॥
सोइ भवतर कछु संसय नाहीं।
नाम प्रताप प्रगट कलि माहीं॥

कलियूग म मध्यम और अधम तामस (तामस बहुत) के साथ अधम रज के शेषांश (रजोगुन थोरा) का मिश्रण रहता है। इस युग का धर्म तामस की अधिकता के कारण चारो ओर विरोध है। सत्व और उत्तम रज के अभाव में इस युग में ध्यान धारणा, योग, यज्ञ कुछ भी संभव नहीं। तम प्रधान इस युग में मोह और अभिमान की प्रबलता होती है जिससे परस्पर विरोध और कलह की उत्पत्ति होती है। मोह "सकल व्याधिन कर मूला" है। इस प्रबल शत्रु को विनष्ट करने का एक मात्र साधन है हरि नाम स्मरण और भगवत् चरित्र का गुणगान। "सेवक सुमिरत नाम सप्रीती। विनु श्रम प्रबल मोह दल जीती॥" केवल राम नाम के प्रभाव से कलि के समस्त दोष ध्वस्त हो जाते हैं।

राम नाम नर केसरी कनक कसिपु कलिकाल।
जापक जन प्रहलाद जिमि पालिहि दलि सुरसाल॥
कालनेमि कलि कपट निधानू।
नाम सुमति समरथ हनुमानू॥

कलि का साधन 'राम नाम जप' बड़ा ही सुगम है और इस दृष्टि से इसके समान दूसरा कोई युग नहीं है। आवश्यकता है केवल भगवन्नाम के प्रभाव में पूर्ण विश्वास की।

'कलियुग समयुग आन नहिं जो नर कर विस्वास।
गाइ राम गुन गन विमल भव तर विनहि प्रयास॥

कलि का प्रभाव होने पर महात्मा श्री काग जी वट वृक्ष के नीचे भगवान की पवित्र कथा अनेक पक्षियों के बीच कह कर इस युग के प्रभाव का निराकरण करते हुए, श्रोताओं का कल्याण करते थे।

वट तर कह हरि कथा प्रसंगा। आवहिं सुनहिं अनेक विहंगा ॥

चारों युगों के धर्म सबके हृदय में नित्य भगवान की प्रेरणा से हुआ करते हैं। परम भागवत श्री कांगभुशुंडि जी की तरह बुद्धिमान लोग युगधर्म पहचान कर भगवन्नाम का आश्रय लेते हुए धर्माचरण करते हैं और कालधर्म के प्रभाव से निर्लिप्त रहते हैं।

नित युग धर्म होंहि सब केरे। हृदय राम माया के प्रेरे ॥
बुध युग धर्म जानि मनमाहीं। तजि अधर्म रति धर्म कराहीं ॥
कालधर्म नहिं व्यापहिं ताही। रघुपति चरन प्रीति अति जाही ॥

कलियुग की साधना का उल्लेख करते हुए मानसकार ने इसकी विधि की भी सुस्पष्ट व्याख्या की है। वे कहते हैं कि नाम जप भगवान के गुण ग्राम के साथ ही होना चाहिए अन्यथा वह अधूरा ही रहेगा। नाम प्रताप अर्थात् भव सागर संतरण तभी सम्भव होगा जब प्रेम पूर्वक भगवान के नाम के साथ उनके पवित्र गुण ग्राम का भी स्मरण होता रहे। अवध पुरवासियों से कहा हुआ भगवान का वाक्य है :

"मम गुन ग्राम नाम रत, गत ममता मद मोह।
ताकर सुख सोइ जानै, परानन्द संदोह ॥"

गोस्वामी जी स्वयं कहते हैं :

"सुमिरि सो नाम राम गुन गाथा। करउं नाइ रघुनाथहिं माथा ॥"

राम के अनन्य निष्काम सेवक श्री भरत जी जिनके हृदय में नित्य शुद्ध सत्व का विकास है, इसी साधन गुण ग्राम युक्त नाम जाप—का आश्रय लेते हैं "राम राम रघुपति जपत।" "रटहु निरन्तर गुन गन पाती।" वस्तुतः राम नाम और रामचरित दोनों ही सभी युग के लिए भिन्न-भिन्न रूप से साधन रूप में ग्रहण किये जा सकते हैं : कलि में औषधि रूप में, द्वापर में मन्त्र रूप में, त्रेता में मणि रूप में और सतयुग में अमृत रूप में। इसके प्रमाण में 'मानस' के कुछ उद्धरण द्रष्टव्य हैं :

१—औषधि (रामनाम) "जपहिं नामु जन आरत भारी।
मिटहि कुसंकट होंहि सुखारी ॥"
"भव भय भंजन नाम प्रतापू"
"सहित दोष दुख दास दुरासा। दलइ नामु जिमि रवि निसि नासा ॥"
"नाम प्रसाद सोच नहिं सपने।"
"जासु नाम भवभेषज, हरन घोर त्रयसूल"
"संसारामयभेषजम्, जासु नाम त्रय ताप नसावन"

(रामचरित) "संसृति रोग सजीवन मूरी, सुजन सजीवन मूरि सुहाई"
"भव भेषज रघुनाथ जस," "विबुध वेद भव भीम रोग के"

"रामचन्द्र गुन बरनै लागा। सुनतहिं सीता कर दुख भागा ॥
"जाइ सुनहु तहँ हरि गुन भूरी। होइहि मोह जनित दुख दूरी ॥

२—मंत्र (राम नाम) "महामंत्र जोइ जपत महेसू"
"मंत्रराजु नित जपहिं तुम्हारा"
(रामचरित) "मंत्र महामनि विषय व्याल के"

३—मणि (रामनाम) "राम नाम मनि दीप धरु"
"एकु छत्रु एक मुकुट मनि"
(रामचरित) "रामचरित चिन्तामनि चारु,
"मंत्र महामनि विषय व्याल के ॥

४—अमृत (रामनाम) "नाम सुप्रेम पियूष ह्रद ॥
"धन्यास्ते कृतिनः पिबन्ति सततं श्री रामनामामृतम्"
(रामचरित) "सोइ बसुधातल सुधा तरंगिनि"
"नाथ तवानन ससि श्रवत कथा सुधा रघुवीर"
"कथा सुधा मथि काढ़हिं भगति मधुरता जाहि"
"चरित किये श्रुति सुधा समाना"
"श्रवनामृत जेहि कथा सुहाई"

नाम साधना में विशेषता इस वात की है कि यदि नाम का औषधि रूप में सेवन किया जाय तो यही कुछ काल के अभ्यास के उपरान्त मंत्र हो जाता है, मन्त्र फिर मणि रूप में वदल जाता है और मणि का पर्यवसान अन्त में अमृत के रूप मे हो जाता है। कलि का प्रभाव आने पर नाम का अभ्यास औषधि रूप में मन न लगने पर भी होना चाहिए। जैसे दवा कड़वी होन पर भी रोगनाश में समर्थ होती है, वैसे ही राम नाम का औषधि रूप में सेवन होने से "भाव कुभाव अनख आलसहू" वाले की भी भव रोगों से निवृत्ति होती है। प्रथम तो वाह्यकरण पवित्र होंगे, आँखें अवैध रूप नहीं देखेंगी, कान अवैध शब्द नही श्रवण करेंगे पैरों की अवैध गति नहीं होगी। इस स्थिति के आने पर यह समझ लेना चाहिए कि अब कलियुग का प्रभाव समाप्त हो रहा है। यही औषधि अव द्वापर के आगमन में मन्त्र रूप में बदल जायगी। मन्त्र रूप में नाम जप का अर्थ है अनायास नाभे स्मरण। इसके फलस्वरूप अन्त:करण पवित्र, निर्मल तथा विकार रहित होने लगेगा और द्वापर के स्थान पर अब त्रेता का प्रादुर्भाव हो जायगा। इस स्थिति में हृदय विकार शून्य होने के कारण भीतर ईश्वर दर्शन और बाह्य सृष्टि परमेश्वरमय मालूम होने लगेगी। "हिय निर्गुन, नयननि सगुन"। अन्त: और वाह्य दोनों के निर्मल होने पर जिह्वा के देहली द्वार पर रखे गये नाम मणि के सुप्रकाश में भीतर और बाहर सर्वत्र भगवान का दर्शन होने लगता है और जीवन राममय हो जाता है। ऐसी अवस्था में मणि का सुधा रूप में परिवर्तन हो जाता है और नाम "राम भगत जन जीवन सोऊ" हो जाता है। यही कृतयुग का प्रभाव समझना चाहिए।

नाम और यशगान दोनों ही के द्वारा भगवान का रूप भक्त के हृदय में प्रगट होता है। "देखियहि रूप नाम आधीना" सुमिरिय नाम रुप बिनु देखे। आवत हृदयं

सनेह विसेषे। "हर हियं रामचरित सब आये" का प्रभाव हुआ "श्री रघुनाथ रूप उर आवा"। हृदय में भगवान का रूप आने के बाद शरीर में सात्विक विकारों का उदय होता हैं। "प्रेम पुलकि लोचन जल छावा" की स्थिति से उत्तरोत्तर बढ़ते-बढ़ते प्रेमलक्षणा भक्ति की प्राप्ति होती है जिसमे "परमानन्द अमित सुख पावा" तथा "मगन ध्यान रस दंड युग" का अनुभव होता है यही भक्ति का परमलक्ष्य है

गोस्वामी जी का परमसिद्धान्त गुणग्राम युक्त अनन्य नामोपासना है। इसे उन्होंने मानस के एक दोहे में स्पष्ट किया है :

"वर्षा ऋतु रघुपति भगति, तुलसी सालि सुदास।
राम नाम बर बरन जुग, सावन भादव मास।।"

सालिनाम का धान सावन भादो के महीने की वर्षा से ही पनपता, बढ़ता और पुष्ट होता है। अन्य महीनों में चाहे कितनी भी अनुकूल वर्षा क्यों न हो, सालि उससे नहीं बढ़ सकता। "र" और "म" ये दोनों मनोहर वर्ण सावन और भादों के महीने हैं। जब इनकी वर्षा होती है, तभी सालिरूपी सुदास अर्थात् अनन्य सेवक की भक्ति परिपुष्ट होती है। भगवान के मंगलमय चरित्र का स्मरण करने से जब अनुराग उमड़ता है और हृदय द्रवीभूत होता है तो इस स्थिति मे "र" और "म" का उच्चारण करना ही सावन भादों का महीना ला देना है। भक्त शिरोमणि श्री भरत जी का उदाहरण अवलोकनीय है "कहत राम सिय राम सिय, उमगि उमगि अनुराग। यही सालि सुदास का जीवन है जिसको पाकर वह धन्य और कृतार्थ हो जाता है। नामोपासना की विधि बतलाते हुए विनयपत्रिका में गोस्वामी जी लिखते हैं :

राम राम रटु, राम राम रमु राम राम जपु जीहा।
राम नाम नव नेह मेह को मन हठि होहि पपीहा।।

आवश्यकता इस बात की है कि अनन्य प्रेमी पपीहे के समान अपने प्रियतम राम नाम रूपी मेघ के साथ मन को जोड़ दिया जाय। भगवान के मंगलमय उदात्त गुणग्रामों के स्मरण से नित्य नवीन अनुराग का आविर्भाव होगा जो हृदय को द्रवित करेगा। प्राकृत मेघ में तो सीमित जल रहता है पर इस अलौकिक मेघ में जल का अक्षय भंडार है जो नित्य नवीन बना रहेगा और भक्त के राम प्रेम का पोषण करेगा।

"राम सुप्रेमहि पोषत पानी।
हरत सकल कलि कलुष गलानी।।

"मल अवगुन आगार" होते हुए भी कलियुग की विशेषता इसीलिए है कि इसमें एक मात्र साधन हरि नाम है जो सर्व सुलभ है और जिसके औषधि रूप में सेवन करने से ही धीरे धीरे सतयुग की स्थिति प्राप्त हो जाती है। इसका संकेत देते हुए गोस्वामी जी कहते हैं :

"कृत जुग त्रेता द्वापर पूजा मख अरु जोग।
जो गति होइ सो कलि हरि नाम तेंपावहिं लोग।।"

सामाजिक जीवन में भरत के त्याग का महत्व

रामानन्द दुबे
एम० ए० उत्तरार्ध (गणित)

विस्व भरन पोषन कर जोई। ताकर नाम भरत अस होई॥ (श्रीरामचरितमानस)

भरणाद् भरतो नाम लक्ष्मणं लक्षणान्वितम्। शत्रुघ्नं शत्रुहन्तारमेव गुरुरभाषत॥
(अध्यात्मरामायण)

पशु-पक्षियों में भी सामाजिक जीवन के दर्शन होते हैं। मधुमक्खियों और चीटियों के संगठितप्राय जीवन को हम देखते हैं। किन्तु, पशु-पक्षियों के सामाजिक जीवन में प्रगतिक्रम नहीं है। कोई पशु अपने समान अवस्था के पशु को प्रशिक्षण नहीं देता।

मनुष्य में प्रगतिशीलता होती है। यह मानव की मननशीलता का परिणाम है। पशु सामाजिकता पहचानता नहीं वल्कि मूल प्रवृत्ति से कार्य करता है। मनुष्य में सामाजिकता को पहचानने की शक्ति है। वह उसे पहचान कर आगे वढ़ता है। मनुष्य में सहज क्रियाओं एवं मूल प्रवृत्तियों के अतिरिक्त अभ्यासजन्य एवं विचारात्मक क्रियाएँ होती हैं। मनुष्य अन्योन्याश्रितता का अनुभव करता है। वह सहकारिता की उपयोगिता समझता है। वह एक दूसरे को समझता है। विचारों और जीवन में समरूपता लाता है।

मनुष्य अनेक प्रकार के समुदाय (associations) बनाता है। वह एक व्यक्ति के रूप में अपने साथियों से मिलकर विशेष एवं सामान्य उद्देश्य की पूर्ति करता है। इस प्रकार समुदाय बनता है।

मनुष्य एक नागरिक के रूप में अपने देश, अपने समाज के लिए अपने निजी स्वार्थ का एक सीमा तक बलिदान करता है। बलिदान से मानव का मानव रूप निखरता है और सामाजिकता की प्रगति होती है। सामाजिकता का मूल स्वरूप इस बलिदान पर आधारित है। बिना इस बलिदान को समझे और ग्रहण किये वास्तविक सामाजिकता हाथ नहीं लगती।

इस प्रकार हम सामाजिक जीवन में भरतजी के त्याग के महत्व का अनुभव करते हैं। भगवान् श्रीरामचन्द्र जी ने स्वयं इस बात पर मुहर लगायी है :—

कहउँ सुभाउ सत्य सिव साखी। भरत भूमि रह राउरि राखी॥ (मानस)

भरतजी ने इन्द्र, कुबेर आदि लोकपालों से भी अत्यन्त दुर्लभ महान् सुखप्रद साम्राज्य से मुख मोड़ लिया।

अभिषेको भवतु अद्य मुनिभिर्मन्त्रपूर्वकम्। तच्छ्रुत्वा भरतोऽप्याह मम राज्येन किं मुने॥
(अध्यात्मरामायण)

"मुनिजनों द्वारा मन्त्रोच्चारपूर्वक आज तुम्हारा अभिषेक होना चाहिए।" वशिष्ठ मुनि से यह सुनकर भरत जी बोले—"हे मुनिनाथ! राज्य से मेरा क्या प्रयोजन है?"

भरतजी निष्कपट भक्तिभाव के अधीन होकर प्रिय भाई राम के लिए चित्रकूट पर्वत पर पैदल गये। यह महान् त्याग है। और सामाजिक जीवन में इसकी आवश्यकता है। किन्तु यह त्याग भी भरतजी के हृदय में स्थूल बनकर रह गया। वे इसके भी आगे बढ़े। उन्होंने राम से सुना :—

वृतो राजा हि कैकेय्या मया तद्वचनं कृतम् ।
अनृतात् मोचयानेन पितरं तं महीपतिम् ॥
(वाल्मीकिरामायण)

"कैकेयी ने राजा से वर माँगा, मैंने उनकी आज्ञा को स्वीकार कर लिया। इसलिए भाई भरत! अब तुम मेरा कहना मानकर उन पृथ्वी पति राजाधिराज पिताजी को असत्य के बन्धन से मुक्त करो।"

राखेउ राय सत्य मोहि त्यागी। तनु परिहरेउ पेम पन लागी ॥
तासु वचन मेटत मन सोचू। तेहि ते अधिक तुम्हार सँकोचू ॥ ('मानस')

उन्होंने देखा कि पूर्व त्याग में इस स्वार्थ का संस्कार शेष है कि मैं भाई का हक लेने की अपकीर्ति से बचूँ। ऐसा त्याग तो अन्ततः विचारने पर अपने स्वार्थ के लिए ही हुआ। अतः इस त्याग की पूर्ण उपलब्धि हो जाने के बाद उन्होंने इस त्याग के अन्तस्तल में स्थित स्वार्थ का त्याग किया अर्थात् इस त्याग का त्याग किया और त्याग की वास्तविक परिपूर्णता तक पहुँचे। यही तो श्रुति कहती है :—

"येन त्यजसि तत् त्यज।"

श्रीरामचन्द्रजी तैयार हो गये भरत का कहना करने के लिए :—

मन प्रसन्न करि सकुच तजि, कहहु करउँ सोइ आज ॥ ('मानस')

तब भरत जी त्याग की पराकाष्ठा पर पहुँच कर कह उठते हैं :—

जो सेवकु साहिबहि सँकोची। निज हित चहइ तासु मति पोची ॥
स्वारथु नाथ फिरे सबही का। किएँ रजाइ कोटि विधि नीका ॥ ('मानस')

उन्होंने श्रीरामचन्द्रजी से अयोध्या लौटने का आग्रह छोड़ दिया। भरतजी बोले :—

पादुके देहि राजेन्द्र राज्याय तव पूजिते। तयोः सेवां करोम्येव यावदागमनं तव ॥
(अध्यात्म रामायण)

"हे राजेन्द्र! आप मुझे राज्य शासन के लिए अपने जगत्पूज्य चरण पादुकाएँ दीजिए। जब तक आप लौटेंगे तब तक मैं उन्हीं की सेवा करूँगा।" भरतजी श्रीरामचन्द्रजी की पादुकारूपी राजा के मन्त्री बनकर पृथ्वी का पालन करते रहे :—

राज्यकार्याणि सर्वाणि यावन्ति पृथिवीतले। तानि पादुकयोः सम्यङ् निवेदयति राघवः ॥
गणयन् दिवसानेव रामागमनकाङ्क्षया। स्थितो रामार्पितमनाः साक्षाद्ब्रह्ममुनिर्यथा ॥
(अध्यात्म रामायण)

पृथ्वी के जितने राजकार्य होते उन सबको वे रघुश्रेष्ठ (भरतजी) पादुकाओं के सम्मुख निवेदन कर दिया करते थे। इस प्रकार रामचन्द्रजी के आगमन की प्रतीक्षा में अवधि के दिन गिनते हुए वे राम में ही मन लगाकर साक्षात् ब्रह्मर्षि के समान रहने लगे।

समाज के लिए वे सब लोग उपयोगी सदस्य हैं जो अपने को सद्गुण सम्पन्न बनाने में लगे रहते हैं। किन्तु इनसे आगे वे हैं जो अपने को सद्गुणी बनाने के साथ दूसरों को भी सद्गुण सम्पन्न करते चलते हैं। सद्गुण बहुमूल्य हैं, उन्हें हीरा कहें, सोना कहें। किन्तु भरत का स्मरण कर दूसरे लोग पवित्र होते हैं। भरत पुण्यश्लोक हैं। क्यों ? इनको सद्गुणरूपी सोना नहीं मिला था। सोना दरिद्रता दूर कर सकता है किन्तु दूसरे को सोना नहीं बना सकता। भरतजी को सोना नहीं बल्कि पारस मिला था, जो दूसरे धातु को भी सोना बना देता है। भरद्वाजमुनि भरतजी से कहते हैं :—"तात ? आप व्यर्थ ग्लानि करते हैं, क्या पारस पाकर भी दरिद्रता से डरते हैं ?"

तात गलानि करहु जियँ जाएँ। डरहु दरिद्रहि पारसु पाएँ॥ ('मानस')

यहाँ दरिद्रता से अभिप्राय सांसारिक द्वन्द्व से है जिससे दुर्गति का भय होता है। जहाँ स्वयं श्री राम चन्द्र ने अनुरागी बनकर पारस सुयोग प्रदान कर दिया वहाँ क्या भय ?

दूसरी बात। समाज में दो प्रकार के व्यक्ति होते हैं—प्रवृत्तिमार्गी एवं निवृत्तिमार्गी। भेद प्रस्थानमात्र का है। दोनों श्रेयस् के भागी हैं। भरत के चरित्र से हमें दोनों मार्गवालों के लिए एक ही स्थान पर आदर्श मिल जाता है। नारद, सनकादिक निवृत्तिमार्ग के उदाहरण हैं। प्रह्लाद एवं अम्बरीष आदि प्रवृत्तिमार्ग के उदाहरण हैं।

भरत जी का यशरूपी चन्द्र दोनों के लिए मार्गप्रदर्शक है। तभी तो भरद्वाज मुनि भरतजी से कहते हैं—

नव बिधु बिमल तात जसु तोरा। रघुबर किंकर कुमुद चकोरा॥ ('मानस')

"तात, आपका यश नवीन निर्मल चन्द्ररूप है और रघुनाथ के भक्त उसके लिए कुमुद और चकोररूप हैं।" कुमुद निवृत्तिमार्गी भक्तों का प्रतिनिधित्व करता है और चकोर प्रवृत्तिमार्गी भक्तों का। निवृत्तिमार्गी भक्तों का प्रतिनिधिकुमुद का जीवन जल पर निर्भर होते हुए भी वह जल से निर्लिप्त—अनासक्त रहता है एकमात्रचन्द्र की ओर आसक्त रह कर उसके दर्शन से प्रफुल्लित होता है। इसीप्रकार विरक्त पुरुषों की शरीर रक्षा संसार से होती है किन्तु वे निर्लिप्त रहकर भगवान् के अनन्य प्रेम में आसक्त रहते हैं। श्रीमद्भगवद्गीता में कहा हैं :—

"पद्मपत्रमिवाम्भसा।"

प्रवृत्तिमार्ग का प्रतिनिधि चकोर दाम्पत्यजीवन में रहते हुए भी चन्द्र में ही निश्चल प्रेम रखता है। इसी प्रकार प्रवृत्तिमार्गी पुरुष गृहधर्मों से सम्बन्ध रखते हुए भी भगवद्-प्रेम में अचल एवं दृढ़ रहकर जीवन व्यतीत करते हैं। इस प्रकार भरतजी का त्यागपूर्ण जीवन संसार के किसी एक वर्ग के लिए नहीं अपितु समस्त वर्गों के लिए आदर्श है। तभी तो तुलसी दास जी कहते हैं :—

होत न भूतल भाउ भरत को। अचर सचर चर अचर करत को॥ 'मानस'

पुनः दूसरी बात ! समाज में गुणी बनकर रहने का महत्व है किन्तु अपने सदगुणों का अहंकार छोड़ना उससे भी महत्वपूर्ण है। अन्यथा सद्गुण फिर कभी दुर्गुण में बदल

जाते हैं। इसकी साधना की बात लें। हमें समाज अपना प्रतीत हो, यह बात साधना के योग्य है। किन्तु इससे बढ़कर साधना के योग्य बात यह है कि हम समाज के बनकर रह जायें। "समाज हमारा" यह पहली साधना हुई, "हम समाज के" यह हुई अन्तिम साधना। भरत का त्याग हमें गुरु से लेकर इस अंतिम स्थल तक पहुँचाता है। भरत जी के त्याग की कीर्ति में सुधा है और वह वसुधा को सुलभ होती है। यह पहली बात हुई।

रामभगत अब अमियँ अघाहू। किन्हेहु सुलभ सुधा वसुधाहू ।। 'मानस'

इससे "समाज हमारा" की उक्ति सिद्ध हुई। पर बात यहीं नहीं रुकती। भरत जी के त्याग के यश में "हम समाज के" यह भी अनुभव करना है इसीलिए यह कहा है :—

कीरति विधु तुम्ह कीन्ह अनूपा। तहँ बस राम प्रेम मृग रूपा ।। 'मानस'

भरतजी ने जो यश-चन्द्र प्रगट किया उसमें श्रीरामचन्द्र जी द्वारा किया गया प्रेम मृग रूप में जा बसा। श्रीमद्भगवद्गीता में कहा है :—

"ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम् ।।"

श्रीरामचन्द्र जी स्वयं भरत जी को भजते हैं। यह प्रपत्ति का रहस्य है। प्रपत्ति के सहायक भाव हैं :—(१) अनुकूल बनाने का संकल्प (आनुकूल्यस्य संकल्पः) (२) प्रति-कूलता का अभाव (प्रतिकूल्यस्य वर्जनम्), (३) रक्षा प्राप्ति में विश्वास (रक्षिष्यति इति विश्वासः), (४) रक्षक के रूप में 'विराट' का वरण करना (गोप्तृत्व वरणम्), (५) दैन्य-मर्यादा (कार्पण्यम्) और (६) 'विराट' के प्रति पूर्ण आत्मसमर्पण (आत्मनिक्षेपः)

———

'विनय पत्रिका : तात्विक भक्ति दर्शन'

नकछेद राम, शोधछात्र, हिन्दी विभाग

विश्व कवि गोस्वामी तुलसीदास ने भक्ति-सिद्धान्त के विविध पुष्प-रत्नों को निचोड़ कर 'विनय पत्रिका' में उड़ेल दिया है। 'विनय पत्रिका' विश्व-साहित्य में आत्म परक कविता का अप्रतिम उदाहरण है। यह भक्ति, प्रपत्तिका कालजयी एवं सर्वोत्कृष्ट मुक्तक काव्य है। हिन्दी साहित्य का कोई भी ग्रंथ 'रामचरित मानस' और 'सूरसागर' के अतिरिक्त इसकी समता नहीं कर सकता। कवि ने इस ग्रंथ के माध्यम से भक्ति सिद्धान्त के लिए सीमा रेखा ही खींच डाली है। इस ग्रंथ में तुलसी का भक्त्यात्मक वेग गत्वर होते हुए राम के स्वरूप सिन्धु में मिलकर दर्शन का रूप धारण कर लेता है। यह भारतीय संस्कृति का संक्षिप्त विश्वकोष है। विनय पत्रिका तुलसी के 'अहं' विलयन का उज्ज्वल परिणाम है। दर्शन की गूढ़ता एवं अस्पष्टता को कवि ने जीवन एवं जगत के धरातल पर लाकर उपस्थित कर दिया है। गोस्वामी जी के इस काव्य में स्वर्ग धरती पर उतर आया है। उन्होंनें अपने 'अहं' तत्व का 'इदम' में पर्यवसान करने के लिए ही विनय पत्रिका का सृजन किया है। उक्त 'इदम्' अखिल सृष्टि का स्रष्टा और कर्ता है। विनय पत्रिका में संदर्भों की ऐसी घुड़दौड़ है कि जिसमें वड़े-बड़े वलगानियंत्रकों एवं महारथियों की वुद्धि एवं अन्तर्शक्ति काँप कर फिसल जाती है। तुलसी ने आत्मशान्ति एवं आत्मसाक्षात्कार के लिए ही इस ग्रंथ का प्रणयन किया है। यहाँ कवि की अन्तर्दृष्टि व्यापक दृष्टि में परिणित हो गयी है। इस काव्य में कवि की अन्त: चेतना पंक्तियों में मणि-बद्ध होकर, अपने ज्योति से विश्व दर्शन के लिए सात्विक एवं भास्वर पथ का निर्देशन करती है। विनय पत्रिका' तो दार्शनिक वादों का मह र्णव है, इसमें वेद, उपनिषद, पुराण आदि का दुग्ध-दोहन कर उन्हें विशुद्ध एवं सूक्ष्म घृत दशा तक पहुँचाया गया है। वियोगी हरि की उक्तियाँ अक्षरश: सत्य हैं— "जिन्होंने चिर-पिपासाकुल संसार-संतप्त पथिकों के लिए सुशीतल, सुधासार, पुण्यसलिला रागमन्दाकिनी की अविरल धारा बहा दी है; जिन्होंने भक्त भ्रमरों के लिए अपनी कृति-कुंज में भाव-कंज-कलिकाओं से भक्ति मकरन्द प्रस्रावित किया है; जिन्होंने साहित्य सेवियों के सम्मुख भगवती सरस्वती की अप्रतिम प्रतिभा प्रत्यक्ष करा दी है; भला उनका प्रातः स्मरणीय पुनीत नाम किस अभागे के हृदय-पटल पर अंकित न होगा।"

'विनय पत्रिका' एक आवेदन पत्र है, अर्जी है। कवि समाज एवं युग का अगुआ होता है। इसलिए गोस्वामी जी ने चिट्ठी के माध्यम से कलियुग से संत्रस्त जनजीवन को उबारने के लिए विश्वकर्त्ता 'राम' के प्रति सर्वात्मसमर्पण किया है। विश्वसाहित्य में जब हम आत्मपरक ग्रंथों पर दृष्टिपात करते हैं तो विश्व कवि शेक्सपीयर के आत्म परक 'सानेट्स' का नाम लेते हैं। इनकी संख्या एक सौ चौवन है। इसमें भक्ति दर्शन नहीं प्रत्युत जीवन के गूढ़तर एवं मार्मिक उदगारों का पृष्ठपोषण मिलता है। इसलिए 'विनय पत्रिका' से इसकी तुलना ही नहीं की जा सकती। इसके अतिरिक्त उर्दू अदब के मरकज़

और अजीम शायर गालिब द्वारा बहादुर शाह के प्रति भेजी गयी अर्जी का नाम आता है। लेकिन यह अर्जी तो साधारण जगत के ढ़हते हुए सल्तनत में रहने वाले टूटे हुए वादशाह के यहाँ भेजी गयी है। इसलिए यह अर्जी भी 'विनय पत्रिका' की समता नहीं कर सकती। क्योंकि तुलसी की अर्जी तो विश्व के स्वामी के यहाँ भेजी गयी है। तुलसी ने जिस राम के प्रति अपनी पत्रिका प्रस्तुत किया है; वह राम अखिल संसार के नियामक हैं। तुलसी के ये राम 'विधि हरि, संभु नचावन हारें' हैं। 'रमन्ते योगिनः यस्मिन् स रामः'। अर्थात् योगी लोग जिस राम में रमण करते हैं वहीं राम चराचर जगत के कारण हैं। राम परं ब्रह्म परमेश्वर जगदीश्वर हैं।

पर यहाँ राम दरवार में राम सर्व प्रमुख न्यायाधीश के प्रतीक हैं। तुलसी ने पत्रिका सम्प्रेषित करने में शुष्क साधुता को नहीं वल्कि व्यवहारिकता को आधार बनाया हैं। वे सीधे प्रभु के यहाँ पत्रिका नहीं भेजते वल्कि पहले खुशामदी मजबून पेश करते हैं। ग्रंथ के आरम्भ में उन्होंने गणेश, सूर्य, गंगा, काशी, भरत, लक्ष्मण, शत्रुघ्न सीता आदि की स्तुति की है। देवी देवताओं की स्तुति करने से लगता है कि तुलसी दासजी एक महान स्तोत्रकार भी हैं। हनुमान ही तुलसी के वकील हैं। यह कवि की वहुत करीगरी है, क्योंकि वे जानते हैं कि हनुमान राम के सर्वोच्च किंकर हैं। भरत, लक्ष्मण, गणेश आदि तो राम दरवार के मुसाहिव हैं ही। तुलसी जिनसे बहुत हिले मिले हैं; उनसे ही अपने प्रयोजन को कहते हैं। आरंभ के बयालिस पदों में केवल स्तुति गान हैं। विनय के आवेदन पत्र का स्वरूप तिरसठ पदों के वाद ही दिखलाई पड़ता है। यद्यपि इसके पदों की संख्या दो सौ छिहत्तर हैं। वह सीता से अपनी गरज पेश करते हैं —

'कबहुँक अम्ब अवसर पाइ।
मेरियौ सुधि द्याइवी कछु करून कथा चलाइ ॥

× × × ×

सुनत राम कृपालु के मेरी विगरिऔ बनिजाई ॥'

इस पद में करूणा का जीवन्त चित्र उपस्थित किया गया है। यहाँ पर भवभूति की करूणा ही मूर्तित हो उठी है। आधुनिकतम संदर्भ में मुअक्किलों के अवसर वादिता की जो हालत है ठीक वही स्थिति तुलसीदास जी की भी है वह भी मौके से चूकने वाले जीव नहीं हैं। अन्त में लक्ष्मण जी रामचन्द्र जी के समक्ष अर्जी प्रस्तुत करते हैं क्योंकि लक्ष्मण जी पर श्री रामचन्द्र जी का वात्सल्य स्नेह है। पत्रिका सम्प्रेषण का पद यथार्थ है—

'मारूति मन रूचि भरत की लखि लखन कही है।
कलिकालहु नाथ नाम सो परतीति प्रीति के करकी निबही है ॥
सकल सभा सुनि लै उठी जानी रीति रही है।
कृपा गरीब नेवाज की देखत गरीब का साहब बाँह गही है ॥
विहँसि राम कह्यो सत्य है, सुधि मैं हूँ लही है।
मुदित माथ नावत बनी तुलसी अनाथ की परी रघुनाथ हाथ सही है ॥'

इस पद को देखने से लगता है कि उचित समय पर सबकी वाणी एक ही लक्ष्य को सम्बोधित करती है—कलियुग त्राण से जीवन जगत का कल्याण।

'विनय पत्रिका' में तेईस रागिनियों का प्रयोग हुआ है। जैसे—विलावल, घनाश्री, रामकली, कान्हरा दण्डक, मारू, भैरवी, वसन्त, गौरी, केदारा, जैतश्री, ललित, सूहो, टोड़ी, विहागनट, मलार भैरवी, विभास, सारंग नट, सोरठ तथा कल्याण आदि आदि।

इस मुक्तक काव्य में प्रपत्ति का चरम निदर्शन हुआ है। विनय का शाब्दिक अर्थ है 'विशेषेण नयः (नम्रः)' वि+नयः। इसमें वि उपसर्ग है जो विशेष के अर्थ में प्रयुक्त है। कवि की विनयशीलता काव्य के रग-रग में भरी हुई है। यह विनम्रता ही साधना का, उपासना का, भक्ति का तथा साक्षात्कार का मौलिक सत्य है। कवि ने अपने विनय प्रदर्शन में ही भक्ति दर्शन का सर्वजनीन ढाँचा प्रस्तुत किया है। टीकाकार व्रजनाथ ने तो विनय की सात भूमिकाओं का भी संकेत किया है। जिनका क्रमिक विवेचन निम्नलिखित है—

१. दीनता—तुलसीदासजी ने अपने दैन्य को सदैव खोलने का प्रयास किया है। वह तो दीन बनकर ईश्वर को प्राप्त करना चाहते हैं—यथा

(क) 'तू दयालु, दीन हौं, तू दानि हौं भिखारी।

× × ×

ब्रह्म तू, हौं जीव, तू ठाकुर, हौं चेरो।।'

(ख) 'राम सो बड़ो है कौन, मोसों कौन छोटो।
राम सो खरो है कौन, मोसो कौंन खोटो।।'

२. मानमर्षता—गोस्वामी जी के मानमर्षता परक चित्रण भी विनय पत्रिका में भरे पड़े हैं। यथा

'काहे ते हरि मोहि विसार्‌यो'।

३. भयदर्शन—तुलसी दास पग-पग पर भय का संकेत करते दिखलाई पड़ते हैं। क्योंकि वे कोई ऐसा कार्य नही करना चाहते हैं जो असत्य एवं मिथ्यापूर्ण हो जिससे भगवान के असंतुष्ट होंने की संभावना हो। जैसे—

'राम कहत चलु, राम कहत चलु भाई रे।

४. भर्त्संना—तुलसी दास जी ने भौतिक संसार में भटकने वाले मन को बराबर कोसा हैं जिसका चित्रण यथार्थ हैं -

'ऐसी मूढ़ता या मन की'।

५. आश्वासन—तुलसीदास आत्म संतुष्टि के लिए अपने आप को ही आश्वासन देते रहते हैं कि भगवान परम कृपालु हैं भक्त वत्सल हैं—

'ऐसे राम दीन हितकारी'।

६. मनोराज्य—गोस्वामी जी ने मन को बराबर उद्‌बुद्ध करना चाहा है यथा—

'कबहु कहौं ईहि रहनि रहौंगो'।

७. विचारणा—दार्शनिक तथा गूढ़ विषयों के प्रतिपादन में विचारणा का स्वर दिखलाई पड़ता है जैसे—

'केशव कहि न जाइ का कहिये'।
'देखत तव रचना विचित्र अति समुझि मनहिमन रहिये।

दर्शन शब्द दृश् (देखनां) धातु से बना है जिसका अर्थ होता है देखा हुआ अर्थात् परखा हुआ समझा हुआ तथा साक्षात्कार किया हुआ। कवि जिस सत्य का अनुभव करता हैं उसे सर्वग्राह्य बनाने के लिए काव्य में सँवारता है। गोस्वामी जी ने भगवद् तत्व को पहचाना है; इसलिए उसे सर्वतोमुखी बनाने के लिए उसका स्थायित्व चाहते हैं। उनके आत्म परिष्कार करने की जो क्रियाएं हैं वही दार्शनिक क्रियाएं हैं तथा जिस सिद्धान्त से सत्+चिद्+आनन्द तक पहुँचा जाता हैं वही दार्शनिक सिद्धान्त है। इस ग्रन्थ के अन्तर्गत तुलसीदास ने गहन एवं ज्ञानात्मक स्वरों को पहचानते हुए उन्हें सरलता एवं सर्वगाह्यता के छोर पर लाकर खड़ा किया है। इस ग्रन्थ के अन्तर्गत तुलसी का पांण्डित्यवाद नहीं वल्कि व्यवहारिक दर्शन मुखरित हुआ है। गोस्वामी जी ने ब्रह्मतत्व के निरूपण में दर्शन की गुत्थियों को साफ कर जन जीवन में उतारना चाहा है।

'विनय पत्रिका' पण्डित, ज्ञानी, ऋषि द्रष्टा एवं सामान्य जन सभी के लिए आनन्द दायक हैं। वियोगी हरि ने तो इसके विषय में यहाँ तक कहा हैं कि—"विनय पत्रिका कृति ज्ञानियों की सिद्धान्त मंजूषा है, पंण्डितों की कसौटी हैं; योगियों की समाधि-स्थली है तथा प्रेमियों एवं भक्तों की मानस तरंगिणी है।" 'विनय पत्रिका' में भक्ति का स्वरूप मनोरम वन पड़ा है। इसमें कवि ने आत्मबोध को प्रमुख माना है। डॉ० माता प्रसाद गुप्त का यह कथन यथार्थ है—"विनय पत्रिका का संसार के आत्म निवेदन साहित्य में अत्युच्च स्थान है।" यह ऐसा ग्रंथ है जो अपना कोंई उपमान नहीं रखता। इस ग्रंथ के प्रत्येक पद आत्मा के संवेदनात्मक एवं अनुभूतिपूर्ण उद्घोष है। इसमें ही गोस्वामी जी की विशुद्ध अन्तश्चेतना हँसती सी दिखाई पड़ती है। इस ग्रंथ में तो तुलसीदास ने भक्ति तत्व का एक्सरे करके रख दिया है। आत्म निवेदन परक पहलू तुलसी की दृष्टि से कतराकर कहीं जा नहीं सकते। डॉ० राम प्रसाद मिश्र ने अपने ग्रंथ 'विश्वकवि तुलसी और उनके काव्य' में 'विनय पत्रिका को संसार साहित्य में आत्मपरक कविता का चरम निदर्शन' कहा है।

इसमें भक्ति का उदात्त वेग भागीरथी की सुशीतल तरंगों की तरह आह्लादकारी है। इसमें परम पावनता है, जन समूह को सराबोर करने की शक्ति अन्तर्निहित है। विनय पत्रिका के पदों में भक्ति का शीतल रस लबालब भरा हुआ है जिसका एक छीटा भी परितप्त जन-मानस को सिक्त कर उन्हें आनंद लोक में पहुँचा देता है। भक्ति में निरन्तरता रहती है। प्रश्न उठता है कि भक्ति क्या है? ईश्वर में अतिशय अनुरक्त रहना ही भक्ति है 'परानुरक्तिरीश्वरे नारद सूत्र में भक्ति को प्रेमरूपा कहा गया है 'सा त्वस्मिन प्रेम रूपा' गीता में श्री कृष्ण जी यह स्वीकार करते हैं कि सामान्य रूप से प्रेम के सकाम और निष्काम दो भेद होते हैं निष्काम प्रेम की जननी प्रेमाभक्ति ही है। प्रेम की अनन्यता

निष्काम प्रेम में ही देखी जाती है। अनन्य भक्ति का उल्लेख नारद सूत्र में है 'अन्याश्रया-णांत्यागोऽनन्यता'। नारद सूत्र में अनन्य भक्ति को 'अमृतस्वरूपा च' कहा गया है। भक्ति के लिए श्रद्धा और विश्वास की नितान्त अपेक्षा रहती है। यथा—

'प्रीति प्रतीति रामपदपंकज सकलसुमंगल खानी।' (विनय)
बिनु बिस्वास न हरिकथा तेहि बिनु द्रवहिं न राम।' (मानस)
'प्रीति प्रतीति बढ़ी पद पंकज तब ते सब पाहन पूजन लागे।' (कवितावली)

'गीता' में सभी योगियों में भक्तियोगी को उत्कृष्ट माना गया है यथा—

योगिनामपि सर्वेषाम मदगतेनान्तरात्मना।
श्रद्धावान भजते यो मां स मे युक्ततमोमता॥ (गीता)

नारद सूत्र में भक्ति का प्रम रूपा और गोणी दो भेद किया गया है। भागवत में नवधा भक्ति का विधान है।

'श्रवणं कीर्तनं चास्य स्मरणं महतां गतेः।
सेवेज्यावनतिर्दास्यं सख्यमात्मसमर्पणम्॥ (भागवत)

'विनय पत्रिका' के अन्तर्गत् 'अनन्य प्रेमाभक्ति की निष्कामता' का स्वरूप दिखलाई पड़ता है। आचार्य पं० रामचन्द्र शुक्ल जी का यह कथन स्पष्ट है—'भक्ति रस का पूर्ण परिपाक जैसा विनय पत्रिका में देखा जाता है वैसा अन्यत्र नहीं।' तुलसी की भक्ति में अजस्र गति है, भक्ति में लेन देन का भाव नहीं रहता है सच्चे भक्त के लिए तो भक्ति ही फल है मोक्ष नहीं। जैसे—

'इहै परमफल, परम बड़ाई।
नख सिष रूचिर बिन्दु माधव छबि निरखहिं नयन अघाई।'

तुलसी और सूर कोरे उपदेशक नहीं है, दोनों भावुक हैं। इनकी भक्ति में अनुभूति की तीव्रता है। भक्त अपने पापों की भगवान को सूचना देकर अपना बोझ हल्का कर देता है। तुलसी के लिए तो ज्ञानयोग की चरमावस्था के सदृश ही भक्ति योग की चरमावस्था भी है। यथा—

'रघुपति भगति करत कठिनई।
'कहत सुगम करनी अपार, जानै सो जेहि बनि आई।'

विशुद्ध भक्त निरन्तर भक्ति ही करना चाहता है; तुलसी को तो राम नाम का चसका लग गया है—

'राम राम रटु, राम राम रटु, राम राम जपु जीहा।
रामनाम नवनेह मेह को, मन हठि होहिं पपीहा।'

तुलसी ने अपने को कभी चकोर कभी चातक और कभी पपीहा से उपमित किया है जैसे—

'रामचंद्र चन्द्र तू चकोर मोहि कीजै।'

अनन्य प्रेमी के लिए परम लोक (स्वर्ग) का कोई मूल्य ही नहीं रहता है। क्योंकि वह निष्काम भक्ति करता है—

'चहौं न सुगति सुमति सम्पति कछु रिधि सिधि विपुल बड़ाई ।
हेतु रहित अनुराग राम पद बढ़ै अनुदिन अधिकाई ।।'

भक्ति प्रेम का ही एक स्वरुप है दोनों में एक निष्ठता होती है, लेकिन अन्तर यह है कि प्रेमी अपने प्रिय पर अधिकार चाहता है तथा भक्त अधिकार नहीं चाहता। प्रेम में ईर्ष्या हो सकती है लेकिन भक्ति में ईर्ष्या नहीं रहती हैं। एक ही ईश्वर की उपसना करने वाले अनेक लोग होते हैं। भक्ति में भी रस की सृष्टि प्रेम की ही तरह होती है। भगवत्प्रेम के दृष्टान्त के लिए मीनवृत्ति सजीव है--

'मीन ते न लाभलेस पानी पुन्य पीन को ।
जल बिनु थल कहा मीचु बिनु मीन को ।'

भक्ति तो सर्वसुखद और सुलभ होती है—

'रघुपति भगति सुलभ सुखकारी ।'

भक्ति को धर्म, अर्थ काम मोक्ष के अलावा पाँचवा पुरुवार्थ भी कहा जा सकता है। चतुर्वर्ग की सिद्धि के लिए कर्म योग और ज्ञान की अपेक्षा रहती है वैसे ही भक्ति में भी इनकी अपेक्षा रहती है। कर्म सत्+भक्ति चित्+ज्ञान आनंद इन तीनों से सच्चिदानन्द की प्राप्ति होती है। भक्ति ही मोक्ष के लिए सरल मार्ग है। भक्ति की सर्वश्रष्ठता मानस में भी पग-पग पर विद्यम.न है—

'भगति सुतंत्र सकल गुन खानी' (मानस-अरण्यकांड)

तुलसी अपने को हमेशा दीन और मलीन कहते रहते हैं—

'राम को गुलाम नाम राम बोला राख्यो राम ।
काम यहै नाम द्वै हौं कबहूं कहत हौं ।।'

भगवत्कृपा ही भक्ति का परमोत्कृष्ट साधन हैं—भगवान तो कृपालु हैं इसीलिए तुलसी अपने को गिरा हुआ दिखाकर अपना उद्धार चाहते हैं। यथा --

'ज्ञान भगति साधन अनेक सब सत्य झूठ कछु नाहीं ।
तुलसिदास हरिकृपा मिटै भ्रम, यह भरोस मन माहीं ।।'

करुणार्द्र दृष्टि को जानते हुए ही तुलसीदास जी परम ब्रह्म की ही शरण में ज.ना चाहते हैं। तुलसी का यही प्रपत्तिव.दी दर्शन है। प्रपत्ति का अर्थ होता है शरणागति। जैसे—

जाऊँ कहाँ तजि चरन तिहारे ?
काको नाम पतित पावन जग ? केहि अतिदीन पिआरे ?

तुलसी को तो केवल राम नाम में ही विश्वास है—

'विश्वास एक राम नाम को ।'

तुलसीदास के लिए तो केवल राम का ही भरोसा है—

'एक भरोसो एक बल एक आस विस्वास ।
एक रामघनस्याम हित, चातक तुलसीदास ।।

विश्व को आनंदित करने वाले एक राम ही तुलसी को अभीष्ट हैं इसलिए वह उनकी विराटता को मंगलकारी मानते हैं—

जाऊँ कहाँ को, विपति निवारक, भव तारक जगमाहीं ।'

साथ ही 'हरिंहि हरिता विधिहि विधिता शिवहि शिवता जेहि दई ।
सोई जानकीपति मधुरमूरति मोदमय मंगलमयी ।।'

विना सत्संग के भक्ति की परिकल्पना ही नहीं की जा सकती —

'रघुपति भगति सतसंगति विनु, को भव त्रास नसावै ।'

तुलसीदास को वरावर यही आकांक्षा रहती है कि —

"माँगत तुलसिदास कर जोरे वसंहि राम सिय मानस मोरे ।"

उनके लिए श्री रामचंद्र जीही परम पावन हैं वह तो अपने को पतित कह कर अपना कल्यान चाहते हैं । अन्त में उनका कल्याण हो भी जाता है । यथा—

"पतित पावन राम नाम सों न दूसरों ।
सुमिरि सुभूमिभयो तुलसी सो ऊसरो ।।"

तुलसी में कुछ नहीं है जो कुछ भी है वह राम के नाम स्मरण का ही परिणाम है ।

अव जीव तथा मन पर विचार कर लेना समीचीन प्रतीत होता है । तुलसी की दृष्टि में तो सारा संसार क्षणिक नश्वर और भौतिक है । संसार की असारता को कवि सिद्ध करता रहता है । विषय भोग वासनाओं में मन निरन्तर डूवा रहना चाहता है और क्षणिक सुख को ही परम सुख समझता है । यह तो मन की भ्रान्ति ही है—

'विषय वारि मन मीन भिन्न नहिं होत कवहु पल एक ।

वह संसार की विनाशशीलता के संदर्भ में कहते हैं—

'मैं अव तोहि जान्यो संसार ।
देखत ही कमनीय कछू नाहिन पुनि किए विचार ।।'

जीव मोह की जंजीर में वधा पड़ा है इसका उद्धार व्रह्म साक्षात्कार से ही संभव है—

'तुलसीदास प्रभु तव प्रकाश विनु संसय टरै न टारी ।'

तुलसीदास जी जीव को कोसते रहते हैं और रामचरण में उसे अनुरक्त कर परहित करने की आकांक्षा रखते हैं । जगन्मिथ्यावादियों को तो निम्नलिखित उद्धरण से नसीहत लेनी चाहिए—

'कबहुँक हौं इहिं रहनि रहौंगो ?
श्री रघुनाथ कृपालु कृपा ते संत सुभाव गहौंगो ।
जथा लाभ संतोष सदा काहुँ सो कछु न चहौंगो ।
परहित निरतनिरन्तर मन क्रम वचन नेम निवहौंगो ।।

देहजनित दुखों से छूट जाने के बाद जीव पर हितैषी हो जाता है । तुलसी दास कहते हैं कि यदि जगत से नाता ही जोड़ना है तो राम के नाते ही जोड़ना ठीक होगा ।

"नाते नेह राम के मनियत सुहृद सुसेव्य जहाँ लौं ।"

जीव और ब्रह्म के सम्बन्ध का चित्रण स्पष्ट है—

ईस्वर अंस जीव अविनासी चेतन अमल सहज सुखरासी ।
सो माया बस भयउ गोसाई बँधेउ कीर मरकट की नाई ।।

× × ×

माया वस्य जीव अभिमानी ईसवस्य माया गुन खानी ।
परवस जीव स्ववस भगवन्ता जीव अनेक एक श्रीकंता ।। (मानस)

कर्म योगियों के 'जगत सत्राई सार' के सिद्धान्त को तुलसी भी मानते हैं मूलतः तुलसी विशिष्टाद्वैत वादी हैं ।

विनय पत्रिका में भी—

"हौं जड़ जीव ईस रघुराया, तुम माया पति हौं वस माया ।"

तुलसीदास जी जीव ब्रह्मैक्य की बात नहीं करते हैं लेकिन मानस के उत्तरकांड में 'सोऽस्मस्मि इति वृत्तिअखण्डा' की बात अवश्य करते हैं। वह अद्वैतवादियों की तरह मोक्ष की आकांक्षा नहीं करते हैं। वे अपने आप को जानने में ही सर्व कल्याण देखते हैं; यहीं तुलसी का आत्मवादी दर्शन है। मन की विषय लिप्सा पर तुलसी को रोष होता है—

"माधव मोह फाँस क्यों टूटै ।
बाहरि कोटि उपाय करिय अभियंतर ग्रंथि न छूटै ।"

तुलसी को मन की मूढ़ता पर क्षोभ होता है—

ऐसी मूढ़ता या मन की ।
परि हरि राम भगति सुरसरिता आस करत ओस कन की ।

सांसारिक सौन्दर्य ओस कण का प्रतीक है इसके साथ ही तुलसी ने मन की चंचलता पर भी दृष्टिपात किया है—

'कबहूँ मन विश्राम न मान्यो
निसि दिन भ्रमत बिसारि सहज सुख जँह तँह इन्द्रिन्ह तान्यो ।'

माया के स्वरूप पर भी विचार कर लेना आवश्यक है—माया के दो भेद होते हैं (१) विद्या (२) अविद्या। विद्या माया से कल्याण होता है तथा अविद्या माया से विनाश होता है। अविद्या माया का चित्र स्पष्ट है—

'माधव अस तुम्हारि यह माया ।'
"माया वस स्वरूप विसारयो ।
तेहि भ्रम ते दारून दुख पायो ।।"

ईश्वर की माया का ही यह परिणाम है कि—

"जाकी माया वस विरंचि सिव नाचत पार न पायो ।
करतल ताल बजाय ग्वाल जुवतिन्ह सोइ नाच नचायो ।।"

भक्ति में अविद्या माया अवरोध डालती है ।

तुलसीदास जी सुषुप्त जड़ जीव को उदबुद्ध करना चाहते हैं—

'जागु जागु जड़ जीव जो है जग जामिनी' ।
'जानकीश की कृपा जगावती सुजान जीव' ।

साधना करने के लिए भगवान ने महती कृपा करके मानव शरीर प्रदान किया है—

'हरि तुम बहुत अनुग्रह कीन्हो ।
साधन धाम विबुध दुर्लभ तनु मोहि कृपा करि दीन्हों' ।

जब तक जीव माया से बँधा रहता है तब तक ईश्वर से मिल नहीं सकता । तुलसी दास जी 'जीवो ब्रह्मैवनापरः' के मत से पृथक हैं वह तो कहते हैं—

"राम कबहुँ प्रिय लागिहौं जैसे नीर मीन को"

यह निरन्तर भक्ति में ही डूबे रहना चाहते हैं इसलिए वह मोक्ष की आकांक्षा भी नहीं करते हैं । वह 'तत् त्वमसि' के वेदान्ती सिद्धान्त को भी नहीं मानते हैं । 'विनय पत्रिका' और 'मानस' दोनों में भगवदैश्वर्य का चित्रण हुआ है तथा 'गीतावली' में भगवद् माधुर्य का चित्रण हुआ है । वह तो अनन्य भक्त हैं वह सभी देवी देवताओं को ईश्वर का ही रूप समझते हैं । तुलसी के राम सच्चिदानन्द परमधाम विश्वरूप भगवान हैं—

"अकथ अद्वैत अनवद्य अव्यक्त अज
अमित अविकार आनन्द सिन्धो"

विनय पत्रिका में ब्रजभाषा अवधी, बुंदेलखण्डी तथा संस्कृत भाषा का सामंजस्य है । प्रसाद और माधुर्य इसके प्रत्येक पद में विद्यमान हैं तथा इसकी भाषा में बोलचाल के ग्रामीण शब्दों एवं मुहावरों का प्रयोग मिलता है । अर्थात् 'तुलसीदासी भाषा' में ही 'विनय पत्रिका' का शृंगार हुआ है ।

विनय पत्रिका को देखने से लगता है कि गोस्वामी जी का दर्शन आत्मबोध का दर्शन है । इनके इस दर्शन को हम 'श्वेताश्वरोपनिषद' के उद्धरण से मिला सकते हैं जिसमें आत्मतत्वरूपी दीप से ही ब्रह्म का प्रत्यक्षीकरण होता है यथा—

"यदाऽऽत्मतत्वेन तु ब्रह्मतत्वं दीपोपमेनेह युक्तः प्रपश्येत ।
अजं ध्रुवं सर्व तत्वं विशुद्धं ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः ।।"

'विनय पत्रिका' के सम्बंध में डॉ० ग्रियर्सन का कथन है कि—"भाषा की क्लिष्टता के कारण बहुत से पढ़ने वाले इसको पढ़ने का साहस नहीं करते ।" स्व० पं० सोमेश्वर भट्ट का कथन है कि "कहने को तो विनय पत्रिका भाषा में है पर बड़े-बड़े वेदान्तियों की बुद्धि चकरा जाती है । इन दोनों विद्वानों ने विनय पत्रिका की सरलता में गहनता का अन्वेषण किया है । वियोगी हरि ने तो विनय पत्रिका को भक्ति काण्ड का परमोत्कृष्ट ग्रंथ और अनुराग महोदधि का एक दिव्य कान्तिमय अलौकिक रत्न कहा है । इसके महत्व के विषय में वियोगी हरि ने स्पष्ट लिखा है—"इसमें वह चर्चा की गयी है, वह रस बहाया गया है कि जिसके

अधिकारी स्वभावतः ही संसार में इने-गिने होते आये हैं। इसमें वह झलक है जिसे देखने को लाखों में एक आँख मिलेगी।" भगवान रस रूप है श्रुति भी कहती है 'रसो वै सः' इस रस को प्राप्त करने के लिए भक्ति की आवश्यकता होती है। इसके समक्ष तुलसी के लिए राज सुख भी व्यर्थ है। "गुरु कह्यो राम भजन नीको मोहि लगत राज डगरो सो" विनय पत्रिका तुलसी के सारे सिद्धान्तों का अनुपम रत्न है। विनय पत्रिका विश्व साहित्य की जाज्वल्यमान एवं अनोखी ज्योति है। इसके विषय में आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ने ठीक ही कहा है—"तुलसी साहित्य में ही नहीं हिन्दी साहित्य में; प्रत्युत उससे भी आगे बढ़कर भारतीय साहित्य मे यह विनय सम्बंधी विशिष्ट कृति है। ऐसी प्रौढ़ रचना संस्कृत साहित्य में जगद्धरभट्ट को 'स्तुति पुष्पांजलि' मानी जाती है। पर विनय पत्रिका में जिस प्रकार प्रच्छन्न बन्ध है वैसा उसमें नहीं।" दर्शन के स्वर्ग से जीवन के धरातल पर भक्ति की सुरसरि को अपने भगीरथ प्रयत्न से लाने का श्रेय तुलसी को है। विनय पत्रिका का कई भाषाओं में अनुवाद भी किया गया है निष्कर्षतः यही कहा जा सकता है कि 'विनय पत्रिका, दर्शन, उपासना, भक्ति, ज्ञान, योग तथा कर्म की अनेकमुखी रचना होकर भी निराली और मतवाली रचना है।

———

मानस की तात्त्विक भाव-भूमि

डा० के० पी० सिंह
गणित विभाग, का० हि ०वि० वि०

गीता को उपनिषदों का सारभूत अंश कहा गया है और ज्ञान मार्ग उपनिषत् का मुख्य प्रतिपाद्य विषय है। ज्ञान का ध्येय निर्गुण निराकार आत्मतत्व है और गीता के मतानुसार :

अव्यक्ता हि गतिर्दुःखं देहवद्भिरवाप्यते।

देहधारियों के लिये निर्गुण-निराकार गति अत्यन्त कठिन है।

भगवान का सगुण-साकार स्वरूप एवं उनकी लीला श्री रामचरित मानस का वर्ण्य विषय है। सगुणोपासना ही तुलसी का मूल उपदेश है किन्तु मानस में कहा गया है कि—

निर्गुण रूप सुलभ अति, सगुण जान नहि कोय

सगुण को जानना कठिन है, निर्गुण गति अति सरल है जिसे गीता ने 'क्लेशो अधिक तरस्तेषां' कहकर निरूपित किया। अपने अपने सौदे को सब लोग महंगा वता रहे हैं, ग्राहक किधर जाय ? सगुण तथा निर्गुण का यह सुलभ और दुर्लभ पक्ष विचारणीय विषय है।

जो वस्तु बुद्धि का विषय नहीं है—बुद्धयापरसस्तु उसे स्वीकारना अथवा नकार जाना दोनों ही सहज है। वहां विचार के लिये कोई स्थ.न नहीं है। स्वीकार लेने पर जिस विश्वास का उदय होता है उसे कोई इन्द्रियाभूति नहीं स्खलित कर सकती क्योंकि इस प्रकार की सभी अनुभूतियों का निषेध करके ही उसकी प्रस्थापना होती है। निर्गुण निराकार में विरोधाभास की भी सम्भावना नहीं इसलिए कि विरोधाभास तर्क अथवा विचार की उपज है जो विश्वास के लिए घातक होता है। किन्तु इस प्रकार के तत्व की स्वीकृति सहज होते हुए भी देहात्मबुद्धि के कारण उसकी अनुभूति अत्यन्त कठिन है एवं कठोर साधना के द्वारा ही शक्य है। वुद्धि तत्व का लोप हुए बिना उसकी अनुभूति सम्भव नहीं। बुद्धि का अभाव हो जाने पर मूर्खता का जन्म नहीं होता क्योंकि मूर्खता बुद्धि का ही एक गुण है। बुद्धि के तिरोहित हो जाने पर उस निर्गुण तत्व का ज्ञान स्वयं उसी को होता है और वह ज्ञान भी स्वयं वही है। ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय का भेद बुद्धि की ही सृष्टि है और तत्व.नुभूति में अन्ततोगत्वा वह स्वयं ही बाधक है। श्रीमद्भागवत में वर्णित लम्वा 'पुरंजनोपाख्यान' इसी तथ्य को विस्तृत व्याख्या है। अतएव निर्गुण की स्वीकृति तो कठिन नहीं, किन्तु अनुभूति अत्यन्त श्रम-साध्य है। 'ज्ञान अगम प्रत्यूह अनेका, साधत कठिन न मन कहाँ टेका'। ज्ञान की साधना में मन के लिए कोई स्थूल आधार नहीं है। मन की स्वाभाविक चंचलता के कारण इस मार्ग की कठिनाई की चर्चा जब अर्जुन ने भगवान श्रीकृष्ण से की तो उन्होंने स्वीकार किया कि मन की एकाग्रता अत्यन्त कठिन है और अथक अभ्यास से ही सम्भव है। इस प्रकार के ज्ञान-अभ्यास के लिये उच्चस्तरीय

वैराग्य आवश्यक पूर्व भूमिका है जिसके विना ज्ञान मार्ग की साधना वैसे ही हस्यास्पद है 'जैसे विनु विराग सन्यासी'। वैराग्य का उदय होने पर भी यह साधना कंटकाकीर्ण है।

ज्ञान पंथ कृपान के धारा, परत खगेस होहि नहि वारा।

उत्तर कांड के अन्त में ज्ञान मार्ग की जटिलता एवं उनमें उपस्थित होने वाले विघ्नों की चर्चा तुलसी ने विस्तार से की है।

भगवान की सगुण लीला मन-बुद्धि-वाणी सभी का विषय है। संशय, भ्रम विरोधाभास के लिये उसमें प्रर्याप्त स्थान है। श्रीराम कृष्ण परमहंस ने कहा है कि राम को केवल वारह ऋषियों ने ही पहचाना कि वे परब्रह्म परमात्मा के अवतार हैं, औरों ने नहीं। भगवत तत्व का अवतार में जब एकान्त मानवीकरण हो जाता है तव उसे पहचान लेना साधारण व्यक्ति के लिए ही नहीं वल्कि सिद्धेश्वरों के लिए भी कठिन हो जाता है। सती ने जब राम को स्त्री के लिए विलाप करते देखा तो उन्हें संशय उत्पन्न हो गया और परम गुरु शिव के उपदेश से भी दूर नहीं हुआ। उन्होंने राम की परीक्षा भी ली, उनका प्रभुत्व भी देख लिया फिर भी जब पार्वती के रूप में जन्म लिया तो भी संशय वना ही रहा और शंकर जी से उसके निराकरण के लिये प्रश्न किया कि 'राम सो अवध नृपति सुन सोई, की अज अगुण अलख गति कोई।

जो नृप तनयतं ब्रह्म किमि नारि विरह मति भोरि।
देखि चरित महिमा सुनत भ्रमित बुद्धि अति मोरि।।

साधारण व्यक्तियों में अज्ञान की हीं प्रधानता होती है जिसके वशीभूत हुए वे सांसारिक सुख दुख से आक्रान्त होते रहते हैं। सिद्ध पुरुष ज्ञान में अवस्थित होने से सभी द्वन्द्वों से सर्वथा मुक्त रहते हैं। किन्तु इन दोनों पक्षों का एक साथ समावेश अवतार में ही होता है। माया को अंगीकार करके ही ब्रह्म लीला-संपादन करता है और जीव की तरह ही माया-विमोहित दीख पड़ता है। ज़ीव और ईश में अन्तर केवल यह है कि जहां जीव सर्वथा माया के अधीन है वहीं ईश्वर लीला करते हुएं भी माया को सदैव अधीन् रखता है—

माया बस्य जीव अभिमानी, ईस बस्य माया गुन खानी।

भगवान राम शवरी को अपनी नवधा भक्ति का उपदेश कर रहे थे। उपदेश के उपसंहार में उन्होंने कहा—

मम दरसन फल परम अनूपा, जीव पाव निज सहज सरूपा।

और फिर तुरंत पूछ बैठे,

जनक सुता कइ सुधि भामिनी, जानहि कहु करिवरगामिनी।

यहां पर यह वहुत स्पष्ट नहीं है कि उस विरह-व्यथित अवस्था में भगवान् ने 'करिवर गामिनी' विशेषण श्री सीता जी के लिये प्रयुक्त किया अथवा भूल से शवरी के लिए[1]। शवरी थोड़ा झेप गई किन्तु झांसे में नहीं आई। वोली 'जानतहूँ पूछहु मति धीरा' और

[1] टीकाकारों ने दोनों प्रकार के अर्थ किये हैं।

इसके बावजूद शबरी ने भगवान की लीला में योगदान करने के लिए सारी कथा कह सुनाई और पंपासर जाकर सुग्रीव से मित्रता करने का निर्देश किया। शबरी ने भगवान के ज्ञान स्वरुप एवं लीला स्वरुप दोनों को स्वीकार किया।

गरुड़ जब भगवान राम को नागपाश से मुक्त करके लौटे तो मोह ग्रस्त हो उठे।

सो अवतार सुनेउँ जग माहीं, देखेउ सो प्रभाव कछु नाही।

अतएव सीधे नारद के पास गये जिन्होंने उन्हें नागपाश से भगवान को मुक्त करने के लिए भेजा था और राम के संबंध में भारी शंका व्यक्त की। नारद जी को सुनकर बहुत दया आई और फिर बोले -

जेहि बहुबार नचावा मोहि, सोइ व्यापी विहंगपति तोही
महामोह उपजा उर तोरे, बेगि न मिटिहि कहें खग मोरे।

नारद जी ने कहा-भाई, यह संशय मेरे मान का नहीं है। मेरे पिता ब्रह्मा जी के पास जावो। वे शायद इसका निराकरण कर सकें।

गरुड़ व्यग्र थे। जल्दी ब्रह्मा के पास पहुंचे और अपना सारा संशय कह सुनाया। ब्रह्मा सोचने लगे कि कृष्ण की लीला देख कर तो में स्वयं ही संशय में पड़ गया था। पहले स्वीकार भी कर चुके हैं—

अध्यात्म राम माहात्मयम् कृत्स्नं जानाति शंकर :
तदर्ध गिरिजा वेत्ति तदर्ध वेद्म्यहं मुने।

रामचरित का माहात्म्य तो संपूर्ण रुप से शंकर ही जानते है। उसका आधा पार्वती जीं जानती है और उसका भी आधा मैं (ब्रह्मा) जानता हूं। अतएव गरुण से बोले, भाई, चतुर्थांश ज्ञान वाले गुरु से आपका काम नहीं चलेगा। आपको तो पूरा गुरु घंटाल चाहिए। अतएव आप शंकर जी के पास जाइये, अन्यत्र पूछने से कोई लाभ नहीं। शंकर जी ने भी उन्हें टरकाया कि 'खगजाने खग ही कर भाषा' और कागभुशुंडि के पास भेज दिया। वहां जाकर गरुण का भ्रम दूर हुआ। भुशुंडि ने गुरुण से कहा कि आपको तो रण क्रीड़ा देख कर मोह उत्पन्न हो गया, मुझे भगवान की बाल लीला ने चक्कर में डाल दिया था।

प्राकृत सिसु इव लीला देखि भयउ मोहि मोह
कवन चरित्र करत प्रभु चिदानन्द संदोह।

प्रश्न यह उठता है कि भगवता का ऐसा मानवीकरंण क्यों होता है जिससे बड़े-बड़े ज्ञानी और भक्त भी कभी कभी संशय मे पड़ जाते हैं।

अर्जुन को जब भगवान श्रीकृष्ण ने अपना परम ऐश्वर्यमय विराट स्वरुप दिखलाया तो अर्जुन भयभीत हो उठे, बोले—

अदृष्ट पूर्वं हृषितोस्मि दृष्ट्वा भयेन च प्रव्यथितं मनो मे।
तदेव में दर्शय देव रुपं प्रसीद देवेश जगन्निवास।

अर्जुन का सारा सख्यभाव भूल गया। अनेक प्रकार से क्षमा याचना करने लगे कि मैंने सखा समझ कर आपसे परिहास भी किया है, आपका उपहास भी किया है, आपकी उपेक्षा भी की है। उन्हें अपने और भगवान के बीच भारी अन्तर दीख पड़ने लगा। सारा सान्निध्य भाव जाता रहा। फिर जब भगवान ने अपना मानवी रुप धारण कर लिया तो वे स्वस्थ हुए और उनके साथ सामीप्य का अनुभव करन लगे। कोशल्या को भी जब राम ने अपना 'अद्‌भुत रुप अखंड' दिखलाया तो वे भी अत्यन्त भयभीत हो उठीं। अस्तुति करि न जाय भय माना, जगत पिता मैं सुत करि जाना। बिसमयवंत देखि महतारी, भये बहुरि सिसु रुप खरारी। कोशल्या का वात्सल्य भाव हवा हो गया। स्तुति करने की भी सामर्थ्य नहीं रह गई।

नृसिंह के विकराल स्वरुप को देख कर लक्ष्मी भी डर कर भाग गईं, देवताओं और ऋषियों की तो बात ही अलग रही। केवल प्रहलाद ऐसे थे जो भक्ति के उस स्तर पर पहुंच चुके थे जहां भगवान के किसी स्वरुप से भय नहीं लगता। अतएव प्रहलाद ने ही जाकर भगवान नृसिंह की स्तुति की और उनके प्रलयंकर क्रोध को शान्त किया। भक्तों के साथ नाना प्रकार के भाव-संबंध स्थापित करने के लिये ही भगवत तत्व का मानवीकरण होता है। लंका में बहुतेरे राक्षस राम को भगवान समझ कर नहीं लड़े थे। किन्तु—

कहइ बिभीषण तिनके नामा, देहिं राम तिनहूं निज धामा।
उमा राम मृदु चित करुणाकर, बैर भाव सुमिरित मोहि निसिचर।
देहि परम गति सो जिय जानी, अस कृपालु को कहहु भवानी।

पारस पत्थर से जाने अथवा अनजाने लोहे का संपर्क हो जाने पर वह स्वर्ण बन ही जाता है। वस्तु गुण को ज्ञान की अपेक्षा नहीं। जीव के बैर भाव को भी भगवान स्वीकार करते हैं। भय, द्वेष अथवा वैर प्रबल मनोविकार हैं और उनके द्वारा प्रतिद्वन्द्वी से एक तीव्र संबंध स्थापित हो जाता है।

मारीच राम से अत्यंत भयभीत रहता था। राम से उसकी पहली मुठभेड़ विश्वामित्र के यज्ञ में हुई थी। दूसरी बार पंचवटी में उसने राम पर छद्म वेष में आक्रमण किया। इस बार भी राम ने उसकी प्रतारणा करके छोड़ दिया था। तब से वह इतना भयग्रस्त था कि रकार के श्रवण मात्र से उसे चारो ओर राम दिखाई पड़ने लगते थे -

दृष्ट्वा स्वप्नगतं राममुद्भ्रमामि विचेतनः।
रकारादीनि नामानि राम त्रस्तस्य रावण ।।
रत्नानि च रथांश्चैव वित्रासं जनयन्ति में।
अहं तस्य प्रधावज्ञो न युद्धं तेन ते क्षमम् ।। वा० रा० ।।
भई मम कीट भृंग की नाईं, जह तह मैं देखऊं दोऊ भाई।

इस भयोद्‌भूत चिन्तन के द्वारा ही मारीच का भय राम-प्रेम में परिणत हो गया था—

अस जिय जानि दसानन संगा। चला राम पद प्रेम अभंगा॥
अन्तर प्रेम तासु पहिचाना। मुनि दुर्लभ गति दीन्ह सुजाना॥

रावण का भी यह दृढ़ निश्चय था कि—

भव भंजन गंजन महि भारा, जौ रघुवंस लीन्ह अवतारा।
तो मैं जाय वैर हठि करऊं, प्रभु सर प्रान तजे भवतरउं।
होइहि भजन न तामस देहा, मन क्रम वचन मंत्र दृढ़ एहा।

रावण का यह निश्चय अध्यात्म रामायण में और भी स्पष्ट है। युद्ध के अत्यंत नाजुक दौर में जब रावण का प्रधान सेनापति प्रहस्त मारा गया तो रावण को एक अत्यन्त प्राचीन घटना का स्मरण हो आया जिसका उल्लेख उसने अपनी युद्ध समिति की एक आपात वैठक में किया। घटना इस प्रकार है (वाल्मीक)—

एक वार रावण घूमते घूमते हिमालय के एक निर्जन वन में पहुंच गया। वहां एक छोटी सी कुटिया में एक अनिन्द्य सुन्दरी वाला को तपस्या-रत देखा। उसका विश्व-विमोहन रुप देखकर ठिठक गया, फिर पूछा-सुन्दरी तुम कौन हो? और ऐसी उग्र तपस्या से तुम्हारा क्या अभिप्राय है? उसने उत्तर दिया-मेरा नाम वेदवती ह। महाविष्णु को पतिरुप में प्राप्त करने के लिए तपस्या कर रही हूं। रावण वोला-ओ, हो, तुम्हारी तपस्या के फल स्वरुप ही मैं इधर आ निकला हूं। भला, रावण से वढ़ कर इस संसार में कौन है जिसके लिये तपस्या की जाय। अव मैं प्रसन्न हूं। तुम मुझे निःसंकोच वरण करो। उस सुन्दरी ने मुंह फेर लिया और वोली-लम्पट कहीं के, भाग जावो यहां सें। रावण ने पीछे से उस वाला के केशपाश पकड़ लिया। इस पर उसने तनिक मुड़कर अपना दाहिना हाथ उठाया, हाथ उठाते ही एक देदीप्यमान खड्ग वन गया। उसी खड्ग से उसने अपनी केशराशि काट दी और वोली, तुमने इस शरीर को छू दिया। अव यह भगवान के योग्य नहीं रहा अतएव इसे मैं छोड़ रही हूं। किन्तु याद रखो, एक दिन मैं ही तुम्हारी मृत्यु का कारण बनूंगी। यह कहते कहते वह वाला धक् से योगाग्नि में जल उठी।

रावण ने कहा कि यह सीता वही वेदवती है। उसकी वात मिथ्या नहीं हो सकती। राक्षस सेना का मेरुदण्ड जो कुम्भकर्ण है, उसे जगावो। मुक्ति के लिये रावण को विभीषण की तरह भगवान के सामने घिघियाना पसंद नहीं था। वाहुवल से जैसे साम्राज्य पर अधिकार किया था उसी तरह संग्राम में लड़कर भगवान के हाथ से मोक्ष छीन लेने के लिए कृतसंकल्प था जिसमें वह सफल मनोरथ रहा-ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।

गोपियों ने श्रीकृष्ण को परब्रह्म का अवतार मानकर नहीं प्रेम किया था। किन्तु आध्यात्मिक जगत में गोपियों का अन्यतम स्थान समझा जाता है। द्वारिका के विशाल वैभव के वोच श्रीकृष्ण व्रज का ग्राम्य जीवन कभी भूल न पाये-ऊधो, मोहि व्रज विसरत नाही (सूरदास)।

भगवान के विराट स्वरुप से न तो प्रेम ही करते बनता है और न वैर ही। दुर्योधन की सभा में भगवान ने जब क्रुद्ध होकर विराट रुप धारण किया तो सभी योद्धा मूर्छित होकर गिर पड़े। किन्तु जरासंघ से सत्रहवीं बार के युद्ध में भगवान श्रीकृष्ण मैदान छोड़कर भाग भी गये। और जब वाणासुर की कन्या उषा के लिये शंकर जी से उनका युद्ध हुआ तो पीछे नहीं हटे।

अस रघुपति लीला उरगारी, दनुज विमोहनि जन सुखकारी।

मनोविकार जब तक संसार में आसक्त रहते है तब तक क्लेश का अन्त नहीं, किन्तु जाने, अनजाने जब भगवदोन्मुख हो जाते है तो उनकी परिणति भक्ति में होती है। ज्ञान मार्ग में समस्त मनोविकारों को समूल नष्ट कर देना ही ध्येय है जो अत्यन्त कठिन हैं, भक्ति मार्ग में उनका रुपान्तरण अभीष्ठ है।

काम क्रोध भय नेह सुहृदता, काहू विधि करि कोई।
धरै ध्यान जो हरि को दृढ़ करि, सूर सो हरि सम होई॥

तुलसीदास और मिल्टन

डा० रामस्वरुप शर्मा
रीडर, अँग्रेजी विभाग, का० हि० वि० वि०

महाकवि तुलसीदास और अँग्रेजी के प्रख्यात कवि जान मिल्टन (John Milton) में इतनी समानतायें है कि उनका निरूपण अत्यधिक उपयुक्त प्रतीत होता है। यह आश्चर्य का विषय हैं कि सर्वथा भिन्न सामाजिक सांस्कृतिक और साहित्यिक परिवेशों में पनपे इन दो व्यक्तित्वों के काव्य-संवेदन में इतना तादात्म्य है। पर ऐसा समझना सर्वथा भ्रामक है कि इन दो कवियों में सर्वत्र समानता ही है। वास्तव म जव हम इनकी काव्यानुभूति की गहराई में पैठते हैं तो सूक्ष्म विषमतायें भी दृष्टिगोचर होती हैं। यहां हम इन दो महाकवियों का संक्षिप्त तुलनात्मक अध्ययन श्री रामचरित मानस तथा पैराडाइज लास्ट (Paradise Lost) के आधार पर करने का प्रयत्न करेंगे।

तुलसी तथा मिल्टन दोनों ही धार्मिक कवि हैं। उनका मुख्य उद्देश्य ईश्वर के गुणों का गायन है। दोनों ने काव्य के माध्यम से गूढ़ धार्मिक एवं दार्शनिक तथ्यों का विवेचन किया है तथा नैतिकता एवं मर्यादा का प्रतिपादन किया है।

ध्यान देने की वात यह है कि तुलसी तथा मिल्टन दोनों ही रूढ़ परम्पराओं की दासता से मुक्त है तथा अपने चिन्तन में मौलिकता का परिचय देते हैं। मिल्टन एक सच्चे प्रोटेस्टन्ट (Protestant) क्रिस्चियन थे तथा वाइविल में उनकी पूर्ण आस्था थी और उसी को वह अन्तिम प्रमाण मानते थे। उनके महाकाव्यों की कथावस्तु वाइविल पर आधारित हैं जिसे वे पूर्णतः सत्य मानते थे। इसके वावजूद वे संकुचित रुढ़ियों से परे थे तथा अन्धविश्वास के विरोधी थे। उदाहरण के लिये वे केवल उन्हीं कार्यों को असंगत (अधार्मिक) मानते थे जो न्यू टेस्टामेन्ट (New Testament) में कहे गये वचनों के विपरीत हैं।

गोस्वामी तुलसीदास भगवान राम के उपासक थे तथा उनका 'रामचरित मानस हमारे धर्मग्रन्थों पर आधारित है। उन्होंने राम का जो चरित्र चित्रित किया हैं वह न केवल वाल्मीकि अपितु अन्य समस्त राम विषयक ग्रन्थों में वर्णित चरित्रों से भिन्न, कवि की समन्वयवादी मौलिकता का द्योतक है। उसी प्रकार भक्ति को धर्म का आधार वनाकर तुलसी ने उसका जो दार्शनिक एवं लौकिक रूप प्रस्तुत किया है वह अपने आप में एक महत्वपूर्ण योगदान है।

तुलसी तथा मिल्टन में एक विशेष भिन्नता भी है। तुलसी का मार्ग सीधा 'राज-डगर' है तथा उनका समूचा व्यक्तित्व उसी ओर उन्मुख हैं। उनमें शंका तथा अन्तर्द्वन्द्व का लेश भी नही है। उनकी भक्ति मार्ग में पूरी आस्था है। रामभक्ति ही उनका धर्म, नैतिकता व राजनीति है। विना किसी को परवाह किये वह उसमें लीन हैं:

धूत कहो अवधूत कहो, रजपूत कहो, जोलहा कहो कोउ।
काहू की बेटी सो बेटा न व्याहब काहू की जाति बिगार न सोउ ॥
तुलसी सरनाम गुलाम है राम को, जाके रुचे सो कहे कछु कोउ।
मागि के खैबो मसीत को सोइबो, लेवे को एक न देवे को दोउ ॥

तथा—

सुलभ सुखद मारग यह भाई। भगति मोर पुरान श्रुति गाई ॥

उधर मिल्टन का काव्य अन्तर्द्वन्द्व से अछूता नहीं रह पाया। उनके धर्म तथा राजनीति में विरोध था। वे कट्टर रिपब्लिकन थे तथा एकाधिकार एवं राजसत्ता के घोर विरोधी।

"Authority usurped, from God not given
He gave us only over beast, fish, fowl,
Dominion absolute : that right we hold
By his donation : but man over men
He made not lord-such title to himself
Reserving, human left from human free"

(Paradise Lost, XII, 67–71).

अपहृत प्रभुत्व, ईश्वर द्वारा अप्रदत्त।
हमें उसने केवल पशु, जलचर, और पक्षी पर
पूर्ण स्वामित्व दिया : वह अधिकार हमारा है
उसके दान से : पर मनुष्यों के ऊपर मनुष्य को
उसने स्वामी नहीं बनाया - ऐसा अधिकार अपने पास
सुरक्षित किया और मानव मानव से मुक्त रहा।

मनुष्यों के ऊपर ईश्वर का सम्पूर्ण अधिकार है पर एक मनुष्य को दूसरों का स्वामी नहीं बनाया और मनुष्य को मनुष्य से स्वतन्त्र रक्खा गया है। मिल्टन के ये विचार कभी-कभी लेखक को वहा ले जाते हैं तथा भाव निष्पत्ति में वाधक सिद्ध होते हैं। उदाहरण के लिए मिल्टन के गणतंत्रवादी विचार पैराडाइज लास्ट के प्रतिनायक शैतान (Satan) पर केन्द्रित होकर उसमें ऐसी गरिमा भर देते हैं जो अनौचित्य की सीमा तक पहुँच जाता हैं, ईश्वर एक आततायी तानाशाह तथा शैतान जनसमर्थक विद्रोही के रूप में परिलक्षित होते हैं और शैतान के वचन उदात्त भावनाओं के प्रतीक वन जाते हैं :

But I should ill-become this throne, O Peers,
And this imperial sovranty, adorned
With splendour, armed with power, if aught proposed
And judged of public moment, in the shape
Of difficulty or danger, could deter
Me from attempting.

(Paradise Lost II, 445–50)

"परन्तु हे साथियों, मैं इस गद्दी के अयोग्य होऊंगा तथा इस शाही प्रभु सत्ता के, जो वैभव से सुशोभित और शक्ति से सशस्त्र है : यदि जो कुछ भी सार्वजनिक महत्व का सोचा या समझा गया उसने कठिनाई या ख़तरे का रूप लेकर, मुझे भयभीत बना प्रयास से विरत कर दिया।" इसी प्रकार शैतान के एक सहयोगी के शब्द :

Let us not then pursue,
By force impossible, by leave obtained
Unacceptable, though in Heaven, our state
Of splendid vassalage; but rather seek
Our own good from ourselves, and from our own
Live to ourselves, though in this vast recess,
Free, and to non accountable, preferring
Of servile pamp Hard liberty before the easy yoke
(Pararise Lost II 249–59)

"तो हम अपनी शानदार दासता की स्थिति के लिए हालांकि स्वर्ग में, प्रयास न करें, जो शक्ति द्वारा असम्भव तथा कृपा से प्राप्त होकर अस्वीकार्य है; अपितु अपना भला अपने में ही खोजें, और अपने बल पर जियें, इस विशाल गड्ढे में, स्वतन्त्र, विना किसी के दवाव में, दासता पूर्ण ठाट-वाट के सरल जुयें के मुकावले कष्ट साध्य स्वतन्त्रता का चयन कर।"

तुलसी तथा मिल्टन दोनों ही उच्च कोटि के महाकाव्य रचयिता हैं तथा दोनों ने अपनी-अपनी परम्पराओं का निर्वाह किया है। कई वातों में इन दोनों में गहरी समानता है : दोनों दैवी शक्तियों के आह्वान तथा वस्तु निर्देश से कथा प्रारम्भ करते हैं, दोनों ही उदात्त व्यक्तियों तथा देवताओं के कृत्यों का वर्णन करते हैं, दोनों ही गंभीरता से विषय का प्रतिपादन करते हैं तथा धर्म और नैतिकता के मार्मिक रहस्यों का उद्घाटन करते हैं, दोनों की काव्य रचना अलंकारपूर्ण तथा उच्चकोटि की है। डा० रामलाल सिंह ने अपनी पुस्तक **तुलसी काव्य-दर्शन** में इस विषय का निरूपण किया है। उनके अनुसार 'तुलसी के मानस रूपक से व्यंजित महाकाव्य के लक्षणों में अग्निपुराण कार, दण्डी, भामह, विद्यानाथ, हेमचन्द्र, साहित्य दर्पणकार आदि संस्कृत आचार्यों द्वारा निरूपित महाकाव्य लक्षणों का सन्निवेश दिखाई पड़ता है।' आचार्यों की सम्मत्ति के अनुसार रामचरित मानस सर्गवद्ध है तथा मंगलाचरण और वस्तु निर्देश के साथ संस्कृत भाषा से प्रारम्भ होता है। उसका कथानक इतिहास प्रसिद्ध है तथा उसके नायक श्रीराम लौकिक और पारलौकिक दोनों दृष्टियों से सर्वोच्च कोटि के है तथा खलनायक भी कुलीन और पराक्रमी है। मानस में सभी रसों की निष्पत्ति है तथा भाषा अलंकार एवं उक्ति वैचित्र्य से परिपूर्ण है।

पश्चिमी साहित्य में महाकाव्य की परम्परायें मुख्यतः होमर के इलियड (Iliad) तथा वर्जिल (Virgil) कृत एनियड के उदाहरणों पर आधारित है। मिल्टन इन परम्पराओं का निर्वाह करते हैं। पैराडाइज लास्ट की कथा वस्तु महत्वपूर्ण घटना से सम्बन्धित है

तथा उसका प्रारम्भ वाग्देवी तथा परम शक्ति के आह्वान और कथा वस्तु निर्देश से होता है। उसमें मानवीय और अति मानवीय दोनों प्रकार के पात्र हैं तथा वे पराक्रमी और साहसी भी हैं। महाकाव्य कथानक के मध्यत: (in medias res) प्रारम्भ होता है और घटना स्वर्ग तथा पृथ्वी दोनों लोकों में घटित होती है। इसके अतिरिक्त आतिथ्य-कृत्य, वीरों की तालिका सरदारों की सभा आदि का भी समावेश है। मिल्टन की भाषा भी अलंकारपूर्ण महाकाव्योपम तुलनाओं से युक्त तथा भव्य है।

ध्यान देने की बात यह है कि महाकाव्य के दायरे में रहते हुए भी दोनों रचनाकार अपनी मौलिक छाप महाकाव्य पर अमिट रूप से डालते हैं। दोनों ने कुछ प्रमुख परम्पराओं की अवहेलना की है तथा नवीनता का सन्निवेश किया है। तुलसीदास ने राम कथा को अपना प्रतिपाद्य विषय माना तथा लोक कल्याण तथा भगवद् भक्ति को काव्य का अनिवार्य उद्देश्य घोषित किया। उन्होंने तत्कालीन राजपुरुष-गुणगान पर प्रहार करते हुए कहा :

कीन्हें प्राकृत जन गुणगाना। सिर धुनि गिरा लागि पछिताना।

भाषा की दृष्टि से भी तुलसी ने एक नया कदम उठाया। उन्होंनें अपनी लोक कल्याणकारी कथा को जनसाधारण की अवधी में पद्यवद्ध किया।

पश्चिमी साहित्य में महाकाव्य का उदेय राष्ट्रीय काव्य के रुप में हुआ। प्रत्येक देश ने अपने समाज के इतिहास प्रणेता राजपुरुषों की कथायें पद्यवद्ध की। होमर ने प्रारंभ में ही कहा :

"देवी, पीलियस के पुत्र, एखिलीज का गान करो।" और वर्जिल ने लिखा : "अस्त्र-शस्त्र और पुरुष के सम्बन्ध में गाता हूं।" मिल्टन ने विषय निर्देश तथा वन्दना द्वारा पेराडाइज लास्ट के आदि में ही यह इंगित किया है कि वह परम्परागत महाकाव्य से ऊपर की बात करना चाहते है। कवि परम्परागत वाग्देवी का आवाहन न करके हेवेनली म्यूज (Heauevly Muse), यूरेनिया (Urania) तथा ईश्वर-शक्ति (Holy Ghost) से प्रार्थना करते हैं। उनकी कथावस्तु किसी राष्ट्र विशेष की ऐतिहासिक घटना या राजपुरुष अथवा वीर से सम्बद्ध नहीं है अपितु ईसाई मतानुसार मानव जाति के जीवन में घटित सबसे महत्त्वपूर्ण घटना है जिसके माध्यम से कवि मानव के प्रति ईश्वरी विधान का औचित्य प्रतिपादित करना चाहता है :

Of man's first disobedience, and the fruit
Of that forbidden Tree, whose mortal taste
Broght death into the world, and all over woe
With loss of Eden, till one greater Man
Restore us, and regain the blissfull seat;
Sing, Heavenly Muse..................
And chiefly thou, O Spirit, that dost prefer
Before all temples the upright heart and pure,
Instruct me.................

What in me is dark
Illumine, what is low raise and support;
That to the highth of this great argument
I may assert Eternal providence
And justify the ways of God to man

"मानव की प्रथम अवज्ञा और उस निषिद्ध तरु जन्य फल के सम्बन्ध में जिसका मारक स्वाद पृथ्वी पर मृत्यु ल.या और ईडन की हानि के साथ हमारा समस्त विषाद, तब तक के लिये जब तक ए: महत्तर मानव, हमें पुनरासीन कर अपना आनन्द मय आसन पुनर्ग्रहण करें, गाओ, स्वर्गिक कलादेवी—

और मुख्यत: तुम, हे ईश्वर शक्ति, जिसे सभी मन्दिरों की अपेक्षा पसन्द है सीधा और शुद्ध हृदय, मुझे सिखाओ।

मुझमें जो अन्धकार मय है उसे प्रकाशित करो, जो निम्न है उसे उठाओ और बल दो ? ताकि मैं इस महान विषय की ऊंचाई तक ईश्वरीय सद्विधान का समर्थन कर सकूं और मानवों के प्रति ईश्वर के 'आचरण' का औचित्य कह सकूं।"

मिल्टन अपने साहसपूर्ण गान में यूनानी तथा रोमन महाकाव्यों से ऊपर की बात करना चाहते हैं तथा उन विषयों का प्रतिपादन करना चाहते हैं जिन पर गद्य या पद्य में अभी तक कोई प्रयास नहीं किया गया :

I thence
Invoke thy aid to my adventurous song,
That with no middle flight intends to soar
Above the Aonian mount, while it pursues
Things unattempted yet in prose or rhyme.

"मैं वहाँ से अपने साहस पूर्ण गान के लिये तुम्हारी सहायता का आह्वान करता हूं, जो गान अद्यावधि गद्य या गद्य में अवर्णित विषयों के प्रतिपादन में आयोनिया के शिखर के ऊपर मध्यक्षेत्रीय उड़ान से नहीं उड़ना चाहता।"

हालांकि तुलसी तथा मिल्टन इस बात में समान हैं कि दोनों ने अपने-अपने धार्मिक ग्रन्थों में वर्णित सुप्रसिद्ध घटनाओं को लिया है फिर भी जब हम दोनो के कथानकों के स्वरुप का विश्लेषण करते हैं तो आन्तरिक भिन्नता पाते हैं। 'मानस में श्रीराम की नरलीला है—राम ही पर ब्रह्म परमेश्वर हैं जो प्राकृत जनों की तरह आचरण करके लोक में आदर्श स्थापित करते हैं। अस्तु मानस की घटनायें, भाव तथा वर्णन दोनों ही दृष्टियों से जनसाधारण के लिये इन्द्रिय ग्राह्य हैं और हमें चारों और से परिवेष्ठित कर लेती हैं। इसके विपरीत पाराडाइज लास्ट में मानव के नाम पर केवल दो व्यक्ति हैं और वह भी असाधारण स्थिति में, जब पाप जन्य संताप तथा मृत्यु एवं लज्जा का सर्वथा अभाव था। ग्रन्थ का प्राय: आधा से अधिक भाग पारलौकिक पात्रों और परिवेशोंसे भरा है—पर

मेश्वर इशु, फरिश्ते, शैतान, नारकी, स्वर्गिक तथा केआस (Chaos) की प्रकृति और दृश्य—ऐसे जिनके मनोभावों एवं कार्यकलापों की हम केवल कल्पना कर सकते हैं वह भी महती कठिनाई से – तथा ऐसा दृश्य जिसे हम जादू के देश में ही पा सकते हैं। कमाल की बात यह है कि महाकवि मिल्टन ने इस दुरुह सामग्री से सशक्त काव्य का सृजन किया है जिसे पढ़ते ही बनता है। नीचे एक उदाहरण दिया जा रहा है :

(a) नरक का एक दृश्य :

Beyond this flood a frozen continent
Lies dark and wild, beat with perpetual storms
Of whirlwind and dire hail, which on firmland
Thaws not, but gathers heap, and ruin seems
Of ancient pile; all else deep snow and ice,
A gulf profound as that serbonian bog
Betwixt Damiata and Mount Cassius old,
Where armies whole have sunk : the parching air
Burns frore, and Cold performs tne effect of fire.

(Paradise Lost II, 587–95)

"इस नदी के आगे पड़ा है अन्धकारमय और वीहड़ एक शीत से जमा महाद्वीप, जिसे निरन्तर तूफान और चक्रवात पीटते है तथा ऐसा ओलापात जो कड़ी भूमि पर पिघलता नहीं वल्कि ढेरी भूत होता है और प्राचीन उच्च भवन का खण्डहर लगता है, वाकी सव गहरी हिम और जमी वर्फ, एक गम्भीर गर्त जैसा कि दमयिता और प्राचीन केशियस चोटी के वीच वह सर्बानी दलदल जहां पूरी की पूरी सेनायें डूव गईं : झुलसाने वाली हवा तुषारमय जलती है, और शीत अग्नि का असर देती है।"

इस प्रकार की रचना जनसाधारण के लिए नहीं है। इसका आनन्द उठाने के लिए पाठक में भी कल्पना शक्ति अपेक्षित है। वास्तव में मिल्टन 'कवियों के कवि' हैं। फिर भी यह कहना पड़ता है कि मिल्टन का महाकाव्य सहज ग्राह्य नहीं है और हमारे जाने पहचाने जीवन से वहुत दूर है। मिल्टन हमें एक दूर की विलक्षण दुनियां का दर्शन कराते हैं। इसके विपरीत तुलसी ने हमारी अपनी ठोस धरती पर स्वर्ग वसाया है और मानव जीवन के प्रत्येक पहलू की अंतरंग जानकारी तथा शास्त्रों में वर्णित ज्ञान से एक ऐसा सम्मिश्रण तैयार किया है जो सीधे हमारे हृदय पर प्रभाव डालता है। मिल्टन गृहस्थ होकर भी सन्यासी थे तथा तुलसी को सन्यासी होने के वावजूद संसार का चप्पा-चप्पा करतल गत था। आदमी के जन्म से लेकर मृत्यु तक का कौन सा ऐसा अनुभव है जिसका मार्मिक दिग्दर्शन रामचरित मानस मे न हुआ हो। उदाहरण के लिए हम मिल्टन तथा तुलसी द्वारा किया गया पुरुष सौन्दय का वर्णन आमने-सामने रखते हैं। मिल्टन आदमी का वर्णन इन शब्दों में करते है :

For cantemplation he and valour formed,

For softness she and sweet attractive grace,
He for God only, she for God in him.
His fair large front and eye sublime declared
Absolute rule; and hyacinthine locks
Round from his parted forelock manly hang
Clustering, but not beneath his shoulders broad.

(Paradiece Lost IV, 297–303)

"वह चिन्तन तथा वीरता के लिए रचा गया और वह सुकुमारता तथा मधुर आकर्षी लावण्य के लिये। वह केवल ईश्वर के लिए, वह उसमें व्याप्त ईश्वर के लिये। उसका विशाल ललाट और उदात्त दृष्टि निर्बाध शासन का उद्घोष कर रहे थे, और उसके सुनहरे लट उसके विलग अलक से पुरुषोचित ढंग से चारों ओर सगुच्छ लटक रहे थे पर उसके विशाल स्कन्धों के नीचे तक नहीं।"

पुष्प वाटिका में राम-लक्ष्मण इस प्रकार प्रकट होते हैं:

लता भवन तें प्रगट भे तेहि अवसर दोउ भाइ।
निकसे जनु जुग विमल बिधु जलद पटल बिलगाइ॥
सोभा सींव सुभग दोउ बीरा। नील पीत जल जाभ सरीरा॥
मोर पंख सिर सोहत नीके। गुच्छ बीच बिच कुसुम कली के॥
भाल तिलक श्रम बिन्दु सुहाये। श्रवण सुभग भूषन छवि छाये॥
बिकट भृकुटि कच घूँघरवारे। नव सरोज लोचन रतनारे॥
चारु चिबुक नासिका कपोला। हास विलास लेत मनु मोला॥
मुख छवि कहि न जाय मोहि पाही। जो बिलोकि बहु काम लजाही॥
उर मनि माल कंबु कल ग्रीवा। काम कलभ करि भुज बलसींवा॥
सुमन सनेत वाम कर दोना। सांवर कुवर सखी सुठि लोना॥
केहरि कटि पट पीत धर सुषमा सील निधान।
देखि भानुकुल भूषनहि बिसरा सखिन्ह अपान॥

(बालकाण्ड)

तुलसीदास ने राजकुमारों के अंग-प्रत्यंग की शोभा का वर्णन ही नहीं किया अपितु स्त्रियों पर उसके प्रभाव को भी जताया है।

इसी संदर्भ में एक और भिन्नता की ओर ध्यान देना आवश्यक है। मिल्टन घोर अध्ययनशील कवि थे तथा प्राचीन यूनान तथा रोम का साहित्य उनके व्यक्तित्व में भर गया था। परन्तु वास्तविक संसार के दैनिक जीवन की व्यापकता उनमें नहीं थी। अस्तु, उनके काव्य में 'साहित्यिकता' की महक सर्वत्र मिलती है। उनके बहुत से प्राकृतिक वर्णन और प्रसंग जो हमें अत्यन्त मौलिक जान पड़ते हैं प्राचीन साहित्य पर आधारित हैं न कि स्वयं के अवलोकन या परिकल्पना पर। दूसरी ओर तुलसी हैं जिन्होंने सभी ग्रन्थों से प्राप्त ज्ञान को पूर्णतः आत्मसात कर लिया और फिर उसे जीवन के विशद एवं गम्भीर अनुभव के साथ

संपृक्त कर रामचरित मानस में प्रस्तुत किया। एक-एक वाक्य कवि के सूक्ष्म जीवन-दर्शन का परिचायक है। मानस में ज्ञान की गन्ध नहीं सुगन्धि है।

कलात्मक दृष्टि से मिल्टन और तुलसी में कोई एक दूसरे से पीछे नहीं। दोनों में सर्वोच्च कोटि की कला विद्यमान है। दोनों के लिए कला एक साधन है। फिर भी कथानक की संरचना, चरित्र चित्रण, रस एवं भाव की सिद्धि, भाषा की शक्ति, अलंकार-सौन्दर्य, और संगीत में दोनों ही वेजोड़ है। यहां इन महाकवियों की कला के सभी पहलुओं को लेना संभव नहीं है। हम केवल एक अलंकार के ही उदाहरणों का अध्ययन करेंगे।

परम्परागत पाश्चात्य महाकाव्यों में महाकाव्यीय उपमा (Epic Simile) का विशिष्ट स्थान है। इस काव्यालंकार की रचना आसान काम नहीं और इसमें सफलता कुछ ही कवियों को मिली है। अंग्रेजी साहित्य में मिल्टन इसके सबसे सफल प्रयोक्त है। विशेषकर पाराडाइज लास्ट में इस अलंकार की छटा देखते ही बनती है जैसे सरोवर में छोटे फूल-पतों के बीच एक अतिव्याप्त प्रस्फुटित कमल। कुछ आलोचकों का मत है कि मिल्टन की महाकाव्यीय उपमायें होमर तथा वर्जिल से भी अधिक भव्य ह। पेराडाइज लास्ट के द्वितीय सर्ग में मिल्टन ने अत्यन्त प्रभावी उपमायें प्रयुक्त की है। निशाचरों की सभा में मेमन के भाषण के बाद जो हर्षध्वनि हुई उसकी उपमा हैं :

He scarce had finished, when such murmur filled
The assembly, as when hollow rocks retain,
The sound of blustering winds, which all night long
Had roused the sea, now with hoarse cadence lull
Seafaring men overwatched, whose bark by chance,
Or Pinnace, anchors in a craggy bay
After the tempest : such applause was heard
As Mamman ended.
(Paradise Lost II, 285–91).

"उसने समाप्त ही किया था कि सभा में ऐसी मरमराहट भर गई जैसी तब होती है जब खोखली चट्टानें प्रचण्ड हवाओं की ध्वनि को गुंजित करती है, जिन हवाओं ने समुद्र को मथा हो और अब कर्कश लय से ऐसे समुद्रगामी जनों का उपशमन कर रही हों जिनकी बजड़ा या नांव तूफान के बाद संयोग से चट्टानी खाड़ी में लंगर डाले है : ऐसी हर्ष ध्वनि सुनाई दी जैसे ही मेमन ने समाप्त किया।"

तुलसी में इस प्रकार की 'महाकाव्यीय' उपमाओं का अभाव है क्योंकि उनकी अपने यहां परम्परा नहीं रही फिर भी किष्किन्धाकाण्ड के कुछ दोहों में ऐसी उपमायें बीज रुप में विद्यमान मानी जा सकती है। यथा

लछिमन देखु मोर गन नाचत बारिद पेखि।
गृही बिरति रत हरष जस बिष्णु भगत कहुं देखि॥

हरित भूमि तृन संकुल समुझि परहि नहिं पंथ।
जिमि पाखण्ड विवाद ते लुप्त होहिं सदग्रन्थ ।।

जहां तक साधारण और सांग रूपकों का प्रश्न है तुलसी सटीक उपमान खोजने में उतने ही कुशल हैं जितने कि कालिदास। रामचरित मानस उत्कृष्ट एवं सटीक उपमाओं का भण्डार है। तुलसीदास ने उपमान, शास्त्र तथा जनजीवन दोनों क्षेत्रों से चुने हैं। अरण्य और किष्किन्धा काण्ड से कुछ उदाहरण नीचे दिये जा रहे हैं :

मुनि मग माझ अचल होइ वैसा। पुलक सरीर पनस फल जैसा ।।

× × ×

परेउ लकुट इव चरनन्हि लागी।

× × ×

सो दससीस स्वान की नाई। इत उत चितइ चला भड़ियाई ।।

× × ×

जानि सरद रितु खंजन आये। पाइ समय जिमि सुकृत सुहाये ।।

× × ×

कहुं कहुं वृष्टि सारदी थोरी। कोउ एक पाव भगति जिमि मोरी ।।

उपर्युक्त वातें 'महाकाव्यीय उपमा' के संबंध में कही गई हैं। सामान्यतया जहां तक अलंकार प्रयोग का प्रश्न है तुलसी और मिल्टन दोनों समान रुप से सर्वोच्च श्रेणी के कलाकार हैं। परन्तु भाषा-प्रारुप में दोनों में बड़ा अन्तर है। मिल्टन पांडित्यपूर्ण, क्लिष्ट सांकेतिक भाषा का प्रयोग करते हैं जिसमें लम्वे तथा जटिल वाक्य और लक्छेदार ग्रीक और लेटिन से लिये गये शव्द हैं जो साधारण वोलचाल की भाषा से पर्याप्त भिन्नता रखते हैं। इसके विपरीत तुलसीदास बोलचाल की अवधी का वह रुप प्रयोग करते हैं जो भोंडेपन व भद्देपन को वचाते हुये सर्वग्राह्य तथा सरल है।

जव हम मिल्टन और तुलसी की तुलना करते हैं तो पता चलता है कि मिल्टन की अपेक्षा तुलसी धर्मवद्धता के बावजूद मानव जीवन के मूल भावों के समीप हैं। उन्होंने राम की पूजा-उपासना के अतिरिक्त राम चरित में और भी बहुत कुछ दिया है। वह है राम का प्राकृत नर के रूप में वर्णन तथा जीवन के हृदय स्पर्शी स्थलों का चित्रण मानव के चिरन्तन दु:ख-सुरव, उसके हृदय में सतत स्फुरित प्रेम, विरह क्रोध, घृणा, दया, परोपकार एवं अन्तर्वेदना का भाव तथा सहज मानव धर्म का पूर्णतया प्रति फलन उनकी कृतियों में परिलक्षित होता है।

———

मानस में योगविज्ञानगत प्रत्यक्ष की झलक

स्वामी आत्मानन्द परमहंस
शोधछात्र गणित विभाग,

हम लोगों की आँख निकट रखे हुए व्यवधानरहित घटपदादि स्थूल पदार्थों को प्रकाश के रहने पर देख सकती हैं। बिडाल निविडान्धकारस्थित घटपदादि पदार्थों को सम्यक्रूप से देख सकता है। मानस पाठकों को सम्पाति नामक गृद्धराज की घटना विदित ही होगी कि उसने सौ योजन व्यवहित रहने पर भी श्री सीता जी को देखा था—

"मैं देखउँ तुम्ह नाहीं गीधहि दृष्टि अपार।"[१]

अभी भी गीधों का दर्शनातिशय प्रसिद्ध है।

जिस प्रकार साधारण लोगों में दर्शन शक्ति तारतम्य-समन्वित है उसी प्रकार यह दर्शनातिशय भी तारतम्य समन्वित है। योगियों में इस दर्शनातिशय का परप्रकर्ष होता है। इस परप्रकर्षता का आशय यह है कि योगी परमाण्वादि सूक्ष्म वस्तुओं का, व्यवहित (आँखों से ओझल किये हुए पदार्थों जैसे कि भूमि के अन्दर की खानों, या दीवाल के ओट की वस्तुओं) का, दूरस्थ वस्तुओं का तथा भूत भविष्यदादिकालीन वस्तुओं का भी ज्ञान कर सकता है एवं धर्माधर्मादि जो अतीन्द्रियार्थ हैं उनका भी ज्ञान कर सकता है।

यहाँ एक बड़ा प्रश्न उठता है कि दर्शनातिशय कल्पना को यथा कथंचित् सम्भव मान भी लिया जाय तो भी धर्माधर्मादि जो कि कभी चक्षुरादीन्द्रिय ग्राह्य होते ही नहीं वे किस प्रकार प्रत्यक्ष किये जा सकते हैं? जैसा कि भट्टपादजी ने कहा है—

"यत्राप्यतिशयो दृष्टः स स्वार्थानतिलंघनात्।[२]
दूरसूक्ष्मादि दृष्टौ स्यान्न रूपेश्रोत्रवृत्तिता॥

अर्थात् जहाँ किसी (वस्तु या गुण का) अतिशय होता है वहाँ उस अतिशय की एक सीमा विशेष होती है। उस सीमा विशेष का उल्लंघन वह नहीं कर सकता। दूर की वस्तुओं या सूक्ष्म वस्तुओं को (अथवा व्यवहित वस्तुओं को) दर्शन का विषय मान भी लिया जाय तो भी रूप जो चक्षुग्राह्य है वह श्रोत्र का विषय नहीं बन सकता। तात्पर्य यह है कि दर्शन शक्ति में अलौकिकता होने पर भी, कान से देखने का कार्य कोई नहीं कर सकता। तो फिर धर्माधर्म (अर्थात् पुण्यपापादि) जो किसी के प्रत्यक्ष विषय नहीं हैं कैसे योगी को प्रत्यक्ष हो सकते हैं? अब इस सम्बन्ध में इस बात पर ध्यान देने की आवश्यकता है कि परप्रकर्ष दो प्रकार का है—

१—बाह्येन्द्रियजन्यज्ञान का परप्रकर्ष।
२—अन्तरिन्द्रियजन्यज्ञान का परप्रकर्ष।

---

१ रामचरितमानस ॥४।२८॥

२ मीमांसासूत्र ॥१।१।२॥ का श्लोक वार्तिक। श्लोक ११४॥

इन दोनों में पहला केवल वहिरिन्द्रिय (श्रवण, त्वचा, चक्षु, रसना तथा घ्राण) जन्यज्ञान में अभिप्रेत है एवं दूसरा अन्तरिन्द्रियजन्यज्ञान में विवक्षित है। धर्माधर्म का अन्तरिन्द्रियजन्य प्रत्यक्ष अर्थात् मानस प्रत्यक्ष हो जाने में योगी को कोई वाधा नहीं है। अव सहज में ही यहाँ एक प्रश्न यह उठता है कि यदि इस रीति से पुण्यापुण्य भी मनोगम्य हैं तो सवको उनका प्रत्यक्ष होना चाहिए, पर ऐसा नहीं होता। किसी आदमी के पूर्वकृत पापपुण्य किसी अन्य को नहीं दीखते। यहाँ तक कि पूर्वजन्मों में किये हुए पापपुण्य उस आदमी को भी नहीं दीखते। इस सन्दर्भ में ज्ञातव्य यह है कि अयोगी के लिए पापपुण्य भले प्रत्यक्ष न हों पर अनुमानादि प्रणाली से वे उसके भी ज्ञान के विषय होते हैं।[1] प्रसिद्ध है कि—

जिमि सुखसम्पति विनहिं बोलायें। धरमसील पहिं जाहिं सुभायें॥[2]

पुण्यपाप को योगी के प्रत्यक्ष विषय मान लेने पर एक और वात विचारकों के मन को आन्दोलित करती है। वह यह कि—"स्वर्गकामो यजेत" इस वेद वाक्य से यह प्रतीत होता है कि यागस्वर्ग का साधन है। याग में स्वर्ग की साधना वेदमात्रगम्य है (अन्य प्रमाणों से गम्य नहीं)। अतः उसका (याग में स्वर्गसाधनता का) प्रत्यक्ष कैसे सम्भव है? इस विषय में यह जान लेना चाहिए कि याग मे स्वर्गसाधनता अयोगियों के लिये ही वेदमात्रगम्य है। योगियों के लिये तो जैसे वह शब्दगम्य है उसी प्रकार प्रत्यक्षगम्य होने में भी कोई वाधा नहीं है। अयोगियों के लिये ताराव्यूह, चतुर्दशभुवन एवं शरीर की आन्तरिक रचना-इत्यादि विषयों का विशेषज्ञान यद्यपि शास्त्र या यन्त्रों द्वारा ही सम्भव है तथापि योगी को वह प्रत्यक्षतया भी सम्भव है। यह वात मानस में बाल्मीकि एवं वसिष्ठ आदि योगियों के विषय में—

'तुम्ह त्रिकाल दरसी मुनिनाथा। बिस्व वदर जिमि तुम्हरें हाथा॥'[3]
'जिन्हहिं बिस्व कर बदर समाना॥'[4]

इत्यादि वचनों से अभिव्यक्त की गयी है। महर्षिपतंजलि प्रणीत सूत्रों से स्पष्ट है कि—

चन्द्रे ताराव्यूह ज्ञानम॥[5]

अर्थात् चन्द्रमा पर संयम करने से ताराव्यूह विषयक (प्रत्यक्ष) ज्ञान हो जाता है।

भुवनज्ञानं सूर्ये संयमात[6]

अर्थात् सूर्य पर संयम करने से लोक-लोकान्तरों का ज्ञान हो जाता है।

एवं—

नाभिचक्रे कायव्यूह ज्ञानम्[7]

---

[1] लौकिक लोग भी वाह्य सुविधाओं और प्रवृत्तियों को देखकर पूर्वसुकृत आदि का अनुमान करते हैं।
[2] रामचरितमानस॥ १।२९२।३॥
[3] रामचरितमानस॥२।१२४।७॥
[4] रामचरितमानस॥२।१८१।१॥
[5] योगसूत्र॥३।२७॥
[6] योगसूत्र॥३।२६॥
[7] „ ॥३।२९॥

अर्थात् नाभिचक्र पर संयम करने से सम्पूर्ण कायव्यूह (शरीर) का (प्रत्यक्षात्मक) ज्ञान हो जाता है। इतना ही नहीं [1]प्रातिभाद्वा सर्वम्—इस सूत्र में तो महर्षि का कहना है कि प्रातिभज्ञान से योगी सब कुछ जान लेता है।

इस प्रकार तथ्य यह निकलता है कि परमाण्वादिसूक्ष्म, व्यवहित एवं अतिदूरस्थ वस्तुओं का प्रत्यक्ष ज्ञान साधारण लोगों को नहीं होता परन्तु योगी को हो सकता है। जैसा कि महर्षि पतंजलि के वचन से स्पष्ट है—

'प्रवृत्त्यालोकन्यासात् सूक्ष्मव्यवहितविप्रकृष्टज्ञानम्'[2]

अर्थात् (योगसूत्र में बतलायी हुई) ज्योतिष्मतीप्रवृत्ति के प्रकाश को जब योगी संयम द्वारा परमाण्वादि किसी सूक्ष्म, व्यवहित या अतिदूरस्थ वस्तुओं पर डालता है तब उनका उसको प्रत्यक्ष हो जाता है। इसीलिये मानस में सती जी के—

'[3]कछु न परीछा लीन्हि गोसाईं। कीन्ह प्रनामु तुम्हारिहि नाईं॥'

कहने पर शंकर जी ने जब तथ्य जानना चाहा—

'[4]तब संकर देखेउ धरि ध्याना। सतीं जो कीन्ह चरित सबु जाना॥'

अर्थात् तब शंकर जी ने सती के कार्य पर मनः संयम किया और सम्पूर्ण चरित्र जान लिया। यहाँ तात्पर्य यह है कि कार्य के विषय में मनः संयम करने पर सम्पूर्ण घटनायें ज्यों की त्यों घटते हुए प्रत्यक्ष हो गयीं।

दर्शन वैचित्र्य का कुछ आभास लोक में भी (विकृत रूप में) देखा जाता है (जो कि वस्तुगत्या दोष के कारण हैं)। जैसा कि प्रसिद्ध है—

'कामशोकभयोन्मादचौरस्वप्नाद्युपद्रुता।
अभूतानपि पश्यन्तिपुरतोऽवस्थितानिव॥'

'अर्थात् काम, शोक, भय, उन्माद, चोर एवं कुस्वप्नादि से जिनका चित्त अशान्त है वे वस्तुओं के सामने न रहने पर भी उनको समक्ष वर्तमान जैसे देखते हैं।' अन्तर इतना है कि कामशोकादिभावनाओं के अभ्यास के कारण जो प्रत्यक्ष होता है वह बाधितार्थक होने से प्रमाण नहीं है किन्तु योगियों के चित्त को जो प्रत्यक्ष होता है वह बाधितार्थक न होने से प्रमाणभूत होता है। प्रत्यक्षरूपता तो दोनों में है।

एक और विचारणीय तथ्य यह है कि—

"[5]अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोधः॥"

इस योगसूत्र से योग में अभ्याससाध्यता प्रतीत होती है एवं किसी विषय में यदि कोई अभ्यास करता है तो अभ्यास के फल की सींमा होती है। जैसे कि यदि कोई कूदने का अभ्यास करे तो देखा यह जाता है कि अभ्यास करने वाला कुछ दिनों में कुछ अधिक

---

[1] योगसूत्र ॥३।३३॥
[2] योगसूत्र ॥३।२५॥
[3] रामचरितमानस ॥१।५५।२॥
[4] रामचरितमानस ॥१।५५।४॥
[5] योगसूत्र ॥१।१२॥

कूदने में समर्थ हो जाता है न कि पर्वत या समुद्र को लांघने में। इसी प्रकार योगाभ्याससे कुछ अधिक स्फुटावभास तो सम्भव प्रतीत होता है किन्तु परमाण्वादि या भूमि से ढकी वस्तुयें या अतिदूरस्थ वस्तु अथवा पुण्यपाप का प्रत्यक्ष कैसे सम्भव है ? इस विषय में ज्ञातव्य एक बड़ी महत्वपूर्ण बात यह है कि दोनों अभ्यासों में अन्तर है। लंघन के अभ्यास से कफादिक्षय द्वारा शरीर में लाघवमात्र आ जाता है। पर किसी अतिशय का आधान शरीर में नहीं होता अर्थात् कोई संस्कार नहीं बनता। किन्तु योगाभ्यास से संस्कार बनते हैं। क्रम से संस्कार बनते-बनते परातिशय भी हो सकता है। संस्काराधान का तात्पर्य केवल पढ़ने से सुस्पष्ट नहीं होता। योगविज्ञान केवल सुनने और मनन करने से नहीं समझा जा सकता। अभ्यास आवश्यक है। बिना अभ्यास के बहुत सी बातों का लेशमात्र भी प्रत्यक्ष नहीं हो सकता। अभ्यास से संस्काराधान का तात्पर्य इस ढंग से कुछ समय में आ सकता है - नासिका के अग्रभाग में चित्त का संयम दीर्घकाल तक कीजिये (चित्त वहीं स्थिर रखिये)। थोड़े दिनों तक अभ्यास करने के बाद अपने आप कुछ दिव्य सुगन्ध का अनुभव होगा। तब समझ में आ जायगा कि बाह्य वस्तुओं से इन्द्रियों का सम्पर्क न होने पर भी उनका प्रत्यक्षानुभव सम्भव है। ऊपर बताया हुआ प्रयोग तो एक उदाहरणमात्र है। इसी ढंग का प्रयोग श्रवणेन्द्रिय (कान), भ्रूमध्य एवं कुछ अन्य शरीरावयवों पर भी कर सकते हैं।

कूदना आदि क्रियाओं के अभ्यास का सम्बन्ध प्रायः स्थूल शरीर (Gross body) से है जब कि योगाभ्यास का सम्बन्ध सूक्ष्म शरीर (Subtle body) से ही अधिक है। स्थूल शरीर से किये गये यमनियमासनादि सूक्ष्म शरीर की व्यवस्थाओं में सहायक पड़ते हैं। इसीलिये उनको योगांगता प्राप्त है। यहाँ स्थूल शरीर और सूक्ष्म शरीर में अन्तर बता देना अत्यावश्यक प्रतीत हो रहा है। जाग्रदवस्था में जो शरीर अनुभूत होता और व्यवहार में आता है वह स्थूल शरीर कहलाता है। यह बाह्य इन्द्रियों की सहायता से अर्थानुभूति करता है और पंचीकृत पंचभूतों से बना होता है (पंचीकरण के विषय में पाठक 'वेदान्तसार' या 'पंचीकरण' नामक ग्रन्थ देखें)। आपका जो शरीर स्वप्नावस्था में अनुभव में आता है उसे सूक्ष्म शरीर कहते हैं। यह बाह्येन्द्रियों के बिना ही जाग्रदवस्था में पड़े हुए संस्कारों के कारण मन से ही अर्थानुभूति तथा सुखदुःखानुभूति भी करता है। यह अपंचीकृत पंचभूतों से बना होता है तथा सत्रह अवयवों वाला है—पांच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच कर्मेन्द्रियाँ, पाँच प्राण मन तथा बुद्धि इसके अवयव हैं। कुछ लोग चित्त और अहंकार सहित उन्नीस अवयव मानते हैं। यह जब स्थूल शरीर को छोड़ देता है तो व्यक्ति मृत घोषित कर दिया जाता है। अतएव लौकिक भाषा में प्राण निकलने का तात्पर्य वस्तुतः स्थूल शरीर से सूक्ष्म शरीर का अलग होना ही है। यह स्थूल शरीर का चालक है—यह कहने में भी विशेष अत्युक्ति न होगी। स्थूल शरीर पर संयम करते-करते इस सूक्ष्म शरीर पर संयम करने को मनुष्य अग्रसर होता है। इसीलिये स्थूलशरीर से सम्बन्धित यमनियमासनप्राणायाम-प्रत्याहार-इन पाँच अंगों को योग के बहिरंग[१] कहते हैं। इनको पहले करना होता है तभी धारणादिक अन्तरंगों में उन्नति होती है। इसीकारण से दम की आवश्यकता शमादि साधनों के पहले

[१] योग सूत्र ॥३।७॥ के अनुसार।

ही पड़ती है। शम (अर्थात् मनोनिग्रह) दम (अर्थात् इन्द्रिय निग्रह) के बिना नहीं होता। जैसा कि स्वामी श्री शंकराचार्य जी ने सर्ववेदान्तसिद्धान्तसारसंग्रह नामक ग्रन्थ में कहा है—

पूर्वोत्तरांगसद्भावे शमः सिद्ध्यति नान्यथा।[1]
तीव्राविरक्तिः प्राच्यांगमुदीच्यांगंदमादयः॥

अर्थात् शम तभी सिद्ध होता है जब कि उसके पूर्वांग और उत्तरांग सिद्ध हो जायें। तीव्र वैराग्य पूर्वांग है दमादि उत्तरांग हैं। इसीलिये अध्यात्मगुफाओं में यात्रा करने वाले साधक पथिकों के लिये मानसकार की निम्नलिखित पंक्तियां मसाल का कार्य करती हैं --

मुदितांमथै विचार मथानी। दम अधार रजु सत्य सुबानी॥[2]
तब मथिकाढ़ि लेइ नवनीता। बिमल बिराग सुभग सुपुनीता॥
जोग अगिनि करि प्रगट तब कर्म सुभासुभ लाइ।[3]
बुद्धिसिरावै ग्यानघृत ममता मल जरि जाइ॥

अतएव यह सिद्ध हो गया कि साधक स्थूल शरीर के संयम के सहारे सूक्ष्म शरीर के संयम करने को तत्पर होते हैं। पर दोनों शरीरों का संयम अलग-अलग हैं। अतः कूर्दनाभ्यास या स्थूल शरीर सम्बन्धी अन्य भौतिक अभ्यासों की भाँति ही योगांगों का फल है—यह सोचना भूल है। आजकल देखने में आता है कि कुछ चिकित्सक स्थूल शरीर की चीरफाड़ करके सूक्ष्म शरीर का अवलोकन करना चाहते हैं। यह भारी भ्रम है क्योंकि इनके सभीयन्त्र पंचीकृत पंचभूतों (Complex elements) से बने हैं। वह बना है अपंचीकृत पंचभूतों (Simple elements) से। दूसरी एक और बात देखने में आती है कि यौगिक प्रयोगशालाओं में कुछ योगांगो को जानवरों पर प्रयोग करके उन पर प्रभाव देखा जा रहा है। इस विषय में यह अविस्मरणीय है कि यौगिकसंस्थान जिस रूप में मनुष्य शरीर में है उस रूप में अन्य जानवरों के शरीर में नहीं है (विषयान्तर होने के कारण इस प्रसंग को एवं सूक्ष्म शरीर की रचना को विस्तार भय से यहाँ नहीं दिया गया। सूक्ष्म शरीर की रचना के लिये पाठक पूर्वोक्त 'वेदान्तसार' या पंचीकरण एवं यौगिक संस्थान के लिये स्वामीं योगेश्वरानन्द सरस्वती का अन्तरंग योग एवं अन्य उनके ग्रन्थ, स्वामीविवेकानन्द जी का राजयोग, शिवसंहिता, हठयोग प्रदीपिकाआदि ग्रन्थों को देखें।)

अतः यह बात निर्विवाद सिद्ध है कि योगविज्ञान द्वारा प्रत्यक्ष करने की शक्ति का परातिशय सम्भव है। पर्याप्त अभ्यास कर लेने पर सभी ज्ञेय वस्तुओं को जान लेना भी सम्भव है। महर्षिवचन है कि—

'तदा सर्वावरणमलापेतस्य ज्ञानस्यानन्त्याज्ज्ञेयमल्पम्[4]

अर्थात् उस समय (धर्ममेघसमाधि प्राप्त हो जाने से विवेकज्ञान सर्वथा प्रकाशमान रहने पर) ज्ञान सब प्रकार के आवरण और अशुद्धि से रहित होने के कारण अनन्त हो

---

[1] सर्ववेदान्तसिद्धान्तसारसंग्रह श्लोक १००।
[2] रामचरितमानस ॥७।११६।१५,१६॥ [3] रामचरितमानस ॥७।११७॥
[4] योगसूत्र ॥४।३१॥

जाता है। अतः ज्ञेय अल्प हो जाता है। रहस्य यहां पर यह है कि अयोगियों का मन रागादिमलावरण से आवृत रहता है। इसीलिये ज्ञानप्रकर्ष नहीं हो पाता। योगियों का मन रजोगुण एवं तमोगुण न रहने से सकलविज्ञेयसाक्षात्कारक्षम होता है जैसा कि पूर्वोक्त 'जोग अगिनि—' दोहे में मानसकार ने कहा है। इसी कारण भगवत्पाद स्वामी शंकराचार्य जी ने कहा है कि प्राणायाम के द्वारा जिसके मन की अशुद्धि क्षीण हो गई है उसी का चित्त ब्रह्म में स्थिर होता है—

प्राणायामक्षपितमनोमलस्य चित्तं ब्रह्मणि स्थितं भवतीति प्राणायामो निर्दिश्यते।[१]

यहां यह चर्चा कर देना आवश्यक है कि सूक्ष्म या ढकी हुई अथवा अतिदूरस्थ वस्तुओं का प्रत्यक्ष कर लेना ही योगविज्ञान का लक्ष्य नहीं है। महर्षि पतंजलि का वचन है कि—

ते समाधावुपसर्गा व्युत्थाने सिद्धयः।[२]

अर्थात् ये (दूरश्रवणदर्शनादि सिद्धियां) समाधि में विघ्न हैं पर संसारावस्था (बाह्य व्यवहार) में सिद्धिरूप हैं। और भी—

स्थान्युपनिमन्त्रणे संगस्मयाकरणं पुनरनिष्टप्रसंगात्।[३]

अर्थात् देवताओं द्वारा प्रलोभित किये जाने पर उसमें आसक्त होना या आनन्दानुभव करना उचित नहीं क्योंकि उससे पुनः अनिष्ट होना सम्भव है। मानस में इस बात का संकेत —

रिद्धि सिद्धि प्रेरइ बहु भाई।[४] 'तौ बहोरि सुर करहिं उपाधी'॥[५]

इत्यादि वचनों से किया गया है। किन्तु मोक्ष या स्वरूपावस्थिति परम लक्ष्य है। यह स्वरूपावस्थिति आत्मसाक्षात्कार साध्य है। आत्मानुभव के सम्बन्ध में महर्षि ने बताया है कि प्रणव के जप और चिन्तन से प्रत्यक्चेतन का ज्ञान और योगविघ्नों का नाश होता है—

'तज्जपस्तदर्थभावनम्'[६], 'ततः प्रत्यक्चेतनाधिगमोऽप्यन्तरायाभावश्च'॥[७]

मानसकार ने भी ज्ञान के प्रसंग में यह बताया कि 'सोहमस्मि' ('मैं वह हूं' अर्थात् मेरा (जीव का) स्वरूप वस्तुतः ईश्वर से अतिरिक्त नहीं है) इस प्रकार की अनवरत अन्तःकरण वृत्ति से आत्मानुभव होता है और उससे भेदभ्रम, जो कि संसृति का कारणीभूत है, मिट जाता है। निर्देश है कि—

'सोहमस्मि'········भेदभ्रम नासा।[८]

(आत्मानुभव न रहने पर ही भेदभ्रम और संसरण है। उसके होने पर ये दोनों मिट जाते हैं)। यहां यह ज्ञातव्य है कि षट्टीकासंवलितपंचीकरण की [९]भूमिका के अनुसार

---

१ श्वेताश्वतरोपनिषद् ॥२।८,९॥ का शांकरभाष्य।
२ योगसूत्र ॥३।३८॥
३ योगसूत्र ॥३।५२॥
४ रामचरितमानस ॥७।११७।७॥
५ रामचरितमानस ॥७।११७।१०॥
६ योगसूत्र ॥१।२८॥
७ योगसूत्र ॥१।२९॥
८ रामचरितमानस ७।११७।१,२।

मानसकारोक्त 'सोहम्'—वृत्ति में परिपक्वता होने पर 'स'कार और हकार लुप्त होकर वह जप प्रणव जप में ही पर्यवसित हो जाता है—

The synthetic unity revealed by this mystic proposition was further condensed by the elemination of two consonants "Sa" and "Ha" etc.

इस विषय में मानसकार की विशेषता यह है कि उसने लोमसोपदेश द्वारा ज्ञान की चरमलक्ष्यता बताने में एवं गरुडकाकभुशुण्डिसंवाद द्वारा संसृतिमोक्ष के प्रति ज्ञान और भक्ति—इन दोनों की स्वतन्त्र तथा समान कारणता बताने में सतर्क रहते हुए भी, सगुण-भक्तों के द्वारा भक्तिरहितज्ञानपक्ष का निरादर दिखाकर यह बताता है कि भक्तिपथ पर स्थित रहने से ज्ञान अथवा आत्मसाक्षात्कारादि हो जाता है। जैसा कि निम्न पंक्तियों से स्पष्ट है।

'सो सुतंत्र अवलम्ब न आना। तेहि आधीन ग्यान बिग्याना ॥'[1]
एवं 'तथामोच्छ सुख सुनु खगराई। रहि न सकइ हरिभगति बिहाई ॥'[2]

केवल आत्मसाक्षात्कार को उद्देश्य बनाकर चलने से अनेकानेक विघ्नों की एवं पथ से विचलन की सम्भावनायें अधिक रहती हैं। उस पथ को मानसकार ने अगम भी कहा है। भक्तिपथ सरल है एवं इष्टदेव की छाया में चलने से साधक की रक्षा भी रहती है। पूर्वोदाहृत पंक्तियों के अनुसार ज्ञान (अर्थात् आत्मसाक्षात्कार) और मोक्ष भी अनिवार्यरूप से प्राप्त होता है। यहाँ यह द्रष्टव्य है कि

'सेवकसेव्यभाव बिनु भव न तरिय उरगारि।'[3]

इस वचन के अनुसार संसारसागर से पार जाने के लिये भक्ति यद्यपि अनिवार्य है तथापि यदि वह भेदभक्ति तक ही सीमित रह जाय तो मोक्ष के लिये पर्याप्त नहीं। जैसा कि—

'ताते उमा मोच्छ नहिं पायो। दशरथ भेद भगति मन लायो ॥'[4]

इस वचन से स्पष्ट है। निष्कर्ष यह निकलता है कि भक्ति मोक्ष के लिए अनिवार्य है और वह परिपक्व होकर अभेदभक्तिरूप में आ जाने पर (जब साधक अपने सहित समस्त ब्राह्माण्ड में सेव्य की ही दर्शन करता है ऐसी स्थिति आ जाने पर) पर्याप्त भी है। इस विषय में मानसकार अध्यात्मरामायण की रामगीता के—

यावन्नपश्येदखिलं मदात्मकं, तावन्मदाराधनतत्परो भवेत्।[5]

इस वचन के साथ चलते प्रतीत हो रहे हैं।

मानसकार की अनुपम एवं अमूल्य देन है (राम) नामजपयोग। सच्चिदानन्दघन के साकारविग्रहों के अनन्त नाम हैं। उन सभी का माहात्म्य है। किन्तु 'राम' नाम का

---

[1] रामचरितमानस ३।१५।३।
[2] रामचरितमानस ७।११८।६।
[3] रामचरितमानस ।।७।११९ क।।
[4] रामचरितमानस ।।६।१११।५।।
[5] अध्यात्मरामायण-उत्तरकाण्ड ।।५।५८।।

माहात्म्य अतुलनीय और अवर्णनीय है। जहां तक पूर्ववर्णित लौकिक सिद्धियों (दूर दर्शनादि) की बात है उनको वे नामजपसाध्य मानते ही हैं जैसा कि—

[१]साधक नाम जपहिं लयलायें। होहिं सिद्ध अनिमादिक पायें ॥१।२१।४॥

पंक्ति के 'आदि' पद से स्पष्ट है। रह गयी प्रत्यवचेतनतत्वज्ञान की बात। मानसकार उसे भी नामजपसाध्य मानते हैं—

[२]नाम जीहं जपि जागहिं जोगी। बिरति बिरंचि प्रपंच बियोगी ॥
[३]ब्रह्मसुखहिं अनुभवहिं अनूपा। अकथ अनामय नाम न रूपा ॥

यह मानसकार की अतिशयोक्ति नहीं है। ज्ञातव्य है कि समर्थगुरु रामदास (अपने समय में हिन्दुत्व के एकमात्र रक्षक छत्रपति शिवाजी के गुरु जी) 'श्रीराम जय राम जय जय राम' इसको १३ करोड़ बार जपने से [४]सिद्ध हुए थे एक और महत्वपूर्ण बात यह है कि शास्त्रप्रसिद्धि के अनुसार तत्वसाक्षात्कार में प्रारब्ध प्रतिबन्धक माना जाता है। पूर्वोदाहृत ततः[५] प्रत्यक्चेतनाधिगमोऽप्यन्तरायाभावश्च'—इस सूत्र के अनुसार प्रणवजप एवं उसका चिन्तन प्रारब्धाधीन योगविघ्नों का प्रतिबन्धक है। रामगुणग्राम से मानसकार ने इस फल को निश्चिय ही सुलभ बताया है—

[६]मन्त्रमहामनि बिषय ब्याल के। मेटत कठिन कुअंक भाल के ॥

अब एक छोटा सा प्रश्न यह रह जाता है कि भूत, भविष्य और अतिदूरस्थ वस्तुओं को भी प्रत्यक्ष देखने वाले योगी और जगन्नियन्ता ईश्वर में क्या अन्तर रह जाता है? तो इस विषय में इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि योगी का सर्वविषयकप्रत्यक्ष योगाभ्यास से हुआ है और जगन्नियन्ता ईश्वर का सदातन अर्थात् नित्य है। जैसा कि मानस का संकेत है—

[७]जौ सबकें रह ग्यान एक रस। ईश्वर जीवहि भेद कहहु कस ॥

---

१ रामचरितमानस ॥१।२१।४॥
२ रामचरितमानस ॥१।२१।१॥
३ रामचरितमानस ॥१।२१।२॥
४ द्रष्टव्य—Japa koga by Sivanand, page 110.
५ योगमूत्र ॥१।२९॥
६ रामचरितमानस ॥१।३१।९॥
७ रामचरितमानस ॥७।७७।५॥

रामचरित मानस का प्रतिपाद्य रस

कु० आभा बिसारिया
एम० ए० प्रथम वर्ष (संस्कृत)

राम नाम मणिदीप को जन मानस के द्वार पर पतिष्ठित करने वाले युग द्रष्टा भक्त शिरोमणि कविवर तुलसी की लेखनी से प्रसूत रामचरित मानस सात्विक रति मंजूषा है। इसमें विविध भावों से युक्त नव रसों का सहज उद्रेक बड़ी सहजता एवं सफलता के साथ हुआ है।

राम चरित मानस के प्रतिपाद्य रस के विषय में विभेद न होते हुए भी बौद्धिकता के धरातल पर इसे विवाद ग्रस्त बना दिया गया है। बहुधा लोग इसे भक्ति प्रधान होने के कारण शान्ति रस प्रधान बताते हैं। परन्तु मानस का प्रतिपाद्य रस भगवद् विषयक रति ही हैं। अलौकित्व को अर्पित शृंगार। मानस तो वस्तुतः अनुराग मंजूषा है वह भक्ति कमल सम्पुट है जिसके हर एक पटल पर अनुराग के ही सीकर दीप्तिमान हैं। अतः इसकी रस धारा को निर्वेद युक्त शान्त रस का ओर मोड़ना मति भ्रम ही है। रामचरित मानस का प्रतिपाद्य रस भगवद् विषयक रति है।

शास्त्रीयता की कसौटी पर आचार्य भरत मुनि ने शृंगार रस के स्थायी भाव रति के तीन भेद निरूपित किये हैं—

१—दाम्पत्य विषयक रति।

२—सन्तति विषयक रति।

३ – भगवद् विषयक रति।

सम्पूर्ण रामचरित मानस में आश्रय और आलम्बन के विषय भेद से रति के रूपों में परिवर्तन आया है। किन्तु हर परिवर्तन धारा भगवद् विषयक रत्योन्मुखी ही है। वालकाण्ड से उत्तर काण्ड तक रति की ही अभिव्यञ्जना हुई है। वाल काण्ड में तुलसीदास ने लिखा है—

"राम नाम मणि दीप धरू जीह देहरी द्वार।
तुलसी भीतर बाहरेहु जो चाहसि उजियार।।"

तथा—

सकल कामना हीन जे राम भगति रस लीन।
नाम सुप्रेम पीयूष हृद तिन्हहु किए मन मीन।।

इसकी आत्मा भगवद् विषयक रति ही है। अपने इष्ट के प्रति एकान्तिक समर्पण ही लक्ष्य है—

अरथ न धरम न काम रूचि गति न चहौ निर्वाण।
जनम जनम रति राम पद यह वरदान न आन।।

जीवन के चरम लक्ष्य मोक्ष का परित्याग कर जन्म जन्मान्तरों में राम भक्ति की याचना की गई है। सम्पूर्ण मानस में तुलसीदास ने अपने इष्ट देव के प्रति अनन्य प्रेम ही अभिव्यक्त किया है—

सूधे मन सूधे बचन सूधी सब करतूत ।
तुलसी सूधी सकल विधि रघुवर प्रेम प्रसूति ।

तुलसी तो तृषित चातक की भांति उसी घनश्याम के प्रेमामृत को प्राप्त करने के लिए उत्कंठित हैं—

एक भरोसो एक बल एक आस विस्वास ।
एक राम घनस्याम हित चातक तुलसीदास ॥

सर्वत्र भगवद् विषयक रति की ही तो अभिव्यंजना हुई है जो शृंगार का ही भेद है। उत्तर काण्ड में तुलसी दास ने लिखा है—

कामिहि नारि पिआर जिमि लोभिहि प्रिय जिमि दाम ।
तिमि रघुनाथ निरन्तर प्रिय लागहु मोहि राम ॥

प्रेम इस सीमा तक पहुँचा हुआ है 'राम चरन रति जो चहैं' उसके लिए एक ही सन्देश है—

रामहि सुमरिय गाइय रामहिं, सन्तत सुनिय राम गुन ग्रामहि ॥

गति, मति, रति सभी राम के चरणों में, यही इस जग जीवन का फल है। मन की, जीवन की सम्पूर्ण अन्तरचेतना से उस राम से रति ही जीवन की चरम उपलब्धि है।

सम्पूर्ण रामचरित मानस में तीन श्रोता हैं और तीन वक्ता

१—पार्वती—शिव

२—भरद्वाज—याज्ञवल्क्य

३—कागभुशुण्डि —गरुड़

तीनों ही उदात्त रति के प्रवल प्रचारक हैं। एक ही जन्म में नहीं वरम् जन्म जन्मान्तरों में इन्हें राम रति ही अभीष्ट है। शिव पार्वती सम्वाद में पार्वती कहती हैं—

सुनि सब कथा हृदय अति भाई। गिरिजा बोली गिरा सुहाई ॥
नाथ कृपा मम गत सन्देहा। रामचरन उपजे नव नेहा ॥

गरूड़ कागभुशुण्डि सम्वाद में कागभुशुण्डि जैसे दार्शनिक भी शरीर की ही कामना करते हैं—

ताते यह तन मोहि प्रिय भयउ राम पद नेंह ।
निज प्रभु दरसन पायऊं गए सकल सन्देह ॥

याज्ञवल्क्य भरद्वाज सम्वाद में भी इसी भक्ति रति की ही प्रतिष्ठा की गई है—

"राम भगत तुम मन क्रम बानी। चतुराई तुम्हारि मैं जानी ॥"

मानस के तीनों ही वक्ता एवं श्रोता उसी भगवद् विषयक रति की ओर संकेत करते दृष्टिगत होते हैं।

रामचरित नानस की कथावस्तु की विवेचना करने पर सात्विक रति के ही विविध रूप प्रकाश में आते हैं। बालकाण्ड से उत्तर काण्ड तक रति के ही विभिन्न रूपों के दर्शन होते हैं। बालकाण्ड में सन्तति विषयक रति रत्न बिखरे पड़े हैं। ऐसी रति जो परम दार्शनिक कागभुशुण्डि के हृदय में

जब जब राम मनुज तनु धरहीं। भक्त हेतु लीला बहु करहीं ॥
तब तब अवध पुरी में जाऊँ। बालचरित बिलोकि हरषाऊँ ॥

की स्थिति में जन्म-जन्म में उसी शरीर से अयोध्या आकर उसी सगुण रूप को देखने की लालसा जागती है। कौशल्या एवं दशरथ के वात्सल्य का तो कहना ही क्या।

प्रेम मगन कौसल्या निसदिन जात न जान ॥
सुत सनेह बस माता बाल चरित कर गान ॥

उपरोक्त दोहे में मातृ हृदय के सहज उद्‌गारों के बीच सन्तति विषयक रति का ही प्रस्फुटन हुआ है।

अयोध्या से जनक पुरी तक आचार्य विषयक रति का उदात्त उदाहरण देखन को मिलता है। प्रभात से रात्रि तक राम एवं लक्ष्मण गुरू के प्रति श्रद्धा एवं विनम्रता से दिखाई पड़ते हैं।

समय सप्रेम विनीत अति सकुच सहित दोउ भाइ।
गुरू पद पंकज नाइ सिर बैठे आयसु पाइ ॥

सर्वज्ञ होते हुए भी गुरू आज्ञा की प्रतीक्षा उन्हें उत्सुक किये रहती है।

पुष्पवाटिका के प्रसंग में दाम्पत्य रति का प्रादुर्भाव एवं तुल्यानुराग की प्रतिष्ठा का विधान है। सीता के नुपुरों की मृदु झंकार के साथ ही राम को प्रतीत होता है—

मानहुं मदन दुंदुभी दीन्ही। मनसा विस्व विजय कहं कीन्हीं ॥

राम ही नहीं सीता भी आत्मविस्मृत हैं—

थके नयन रघुपति छवि देखे। पलकन्हिहु परिहरी निमेषें ॥
अधिक सनेह देह मै भोरी। सरद ससिह जनु चितव चकोरी ॥

इस दाम्पत्य रति का पल्लवन बन यात्रा के बीच हुआ है। जहां शृंगार की मर्यादित अनुभूतियों और चेष्टाओं का रम्य अंकन है—

एक बार चुनि कुसुम सुहाए। निज कर भूषन राम बनाए ॥
सीतहि पहिराए प्रभु सादर। बैठे फटिक सिला पर सुन्दर ॥

वहीं वियोग का उदात्त सात्विक अंकन भी किया है—

हे खग मृग हे मधुकर श्रेनी। तुम्ह देखी सीता मृग नैनी ॥

इस रति का विकास इस सीमा तक हुआ है कि यह रति ही दुष्ट दलन असुर उन्मूलन और धर्म स्थापना का कारण बनती है। लीलावपुधारी की समस्त लीलाएं रति के चतुर्दिक चक्कर काटती रही हैं।

सम्पूर्ण अयोध्या काण्ड में भी रति के इन्हीं तीन रूपों के दर्शन होते हैं। तुलसी ने सीता राम संवाद के माध्यम से दाम्पत्य रति पर प्रकाश डालते हुए लिखा है—

जिय बिनु देह नदी बिनु बारी। तैसेहि नाथ पुरूष बिनु नारी॥

राम वन गमन के अवसर पर सन्तति विषयक रति का मार्मिक अंकन है—

सीय सहित सुत सुभग दोउ देखि देखि अकुलाइ।
बारहि बार सनेह बस राउ लेइ उर लाइ॥

केवट संवाद के प्रसंग में केवट का वचन 'सुन केवट के वैन प्रेम लपेटे अटपटे, भगवद् विषयक रति से ही ओत-प्रोत है :

अरण्यकाण्ड में –

सीतहि चितइ कहीं प्रभुबाता। अहइ कुमार मोर लघु भ्राता॥

में दाम्पत्य रति जन्य परिहास का माधुर्य विखरा हुआ है।

शबरी के रूप में तो भगवत विषयक रति का मूर्तिमान रूप ही जीवित हो उठा है—

प्रेम मगन मुख वचन न आवा। पुनि पुनि पद सरोज सिरनावा॥

आत्म विस्मृति एकान्त आत्म समर्पण का ज्वलन्त चित्र है।

किष्किन्धा काण्ड में 'तेहिसन नाथ मयत्री कीजै' एवं 'कीन्हि प्रीति कछु बीच न राखा' में रति ही वह प्रधान सूत्र दिखाई देता है जो राम को वानर सेना से मैत्री करने के लिये वाध्य करता है।

घन घमण्ड गरजत चहुं ओरा। प्रिया हीन डरपत मन नोरा॥

में दाम्पत्य रति की ही अभिव्यक्ति हुई है। और—

राम चरन दृढ़ प्रीति करि बालि कीन्ह तनु त्याग।
सुमन माल जिमि कंठ ते गिरत न जानइ नाग॥

में भक्ति रति की ही तो अभिव्यक्ति है। सम्पूर्ण कथा घूम फिर कर रति के ही चतुर्दिक भाँवरियाँ लेती दिखाई पड़ती है।

सुन्दरकाण्ड में दाम्पत्य रति का सहज निदर्शन द्रष्टव्य है—

तत्व प्रेम कर मम अरुतोरा। जानत प्रिया एकु मन मोरा॥
सोमनु सदा रहत तोहि पाही। जानु प्रीति रसु एतनेंहि माही॥

इतना ही नहीं हनुमान से सीता की करुण गाथा सुनकर—

सुन सीता दुःख प्रभु सुख अयना। भरि आए जल राजिव नयना॥

में राम का स्वरूप रति की ही उदात्तता का द्योतक है दूसरी ओर—

चरन परेउ प्रेमाकुल त्राहि त्राहि भगवन्त।

भगवद् विषयक रति ही तो है। लंका काण्ड में—

जो मन वचक्रम मम उर माही। तजि रघुवीर आन गति नाहीं॥

में सीता के निश्छल सरल मन का प्रेम ही तो अभिव्यंजित हुआ है।

करि विनती सुरसिद्ध सब रहे जहं तह कर जोरि।
अति सप्रेम तन पुलकि विधि अस्तुति करत बहोरि॥

में शब्द-शब्द भगवत रति से ही स्नात् है। उत्तरकाण्ड में भी अन्ततः भगवत रति का ही संदेश है—

पाई न केहि गति पतित पावन राम भजि सुनु सठ मना।
गनिका अजामिल व्याघ गीध गजादि खल तारे घना॥

उपरोक्त विवेचन से स्पष्ट हो जाता है कि सम्पूर्ण रामचरितमानस आद्यन्त जिस रस से आर्द्र है वह है रति अलौकिक शृंगार। रामचरितमानस मानव मन को अनुराग का संदेश देने वाला है। यों देखा जाय तो वस्तुतः वैराग्य की स्वतंत्र सत्ता नहीं है क्योंकि अनुराग के केन्द्र का बदल जाना वैराग्य है। मानस में प्रवृत्ति मार्ग ही प्रकाशित हुआ है।

मानस-मानस का ही रूपक है एसीलिए इसमें सभी रसों का सम्यक समावेश हुआ है। पर प्रधानता शृंगार की ही हैं। जीवन में शृंगार की व्यापकता को देख कर ही आचार्यों ने इसे रसराज की संज्ञा से बिभूषित किया है। यह रस राज ही रामचरितमानस का परम प्रकाश है। जो बिना दियाघृत वाती के ही मनुष्य जीवन के पल-पल को अलौकिक प्रेम प्रकाश से जगमगाता रहता है।

———

/

'जगु जप राम रामु जप जेही'

डॉ० शिव नारायण लाल,
रीडर, गणित विभाग,

सम्पूर्ण जगत श्री राम का स्मरण करता है और श्री राम श्री भरत जी का स्मरण करते हैं। श्री भर । जी का चरित्र तो इतना पावन है कि

'जानहिं राम न सकहिं बखानी ।'

बाल्यकाल में सरयू तट पर च रो राजकुमार—श्री राम, श्री भरत, श्री लक्ष्मण तथा श्री शत्रुघ्न जी प्रायः चौगान खेलने जाते थे ।

राम लषन इक ओर, भरत-रिपुदवन लाल इक ओर भये ।
सरजूतीर सम सुखद भूमिथल, गनि-गनि गोइयाँ बाँटि लये ।।
कंदुक-केलि-कुसल हय चढ़ि-चढ़ि मन कसि कसि ठोंक ठोंक खये ।
कर कमलनि विचित्र चौगानें, खेलन लगे खेल रिझये ।।

श्री राम का श्री भरत पर इतना अधिक स्नेह है कि यदि इस खेल में श्री भरत जी हारने लगें तव श्री राम जी स्वंय प्रय न करके उन्हें विजयी वना देते थे । इसका उल्लेख करते हुये श्री भरत जी कहते हैं—

'मैं प्रभु कृपा रीति जियें जोही । हारेहुँ खेल जितावहि मोहीं ।।'

भगवान श्री राम ने श्री सीता तथा श्री लक्ष्मणजी के साथ वन गमन किया । श्री राम के वियोग में महाराज दशरथ ने शरीर त्याग दिया । श्री भरत जी उस समय ननिहाल में थे । श्री वशिष्ठ जी ने उनको बुलाने के लिये दूत भेजा । गुरू की आज्ञा सुनकर —

चले समीर बेग हय हाँके । नाघत सरित सैल बन बाँके ।
हृदय सोचु बड़ कछु न सोहाई । अस जानहि जियें जायें उड़ाई ।।
एक निमेष बरष सम जाई । एहि विधि भरत नगर निअराई ।।

श्री भरत जी मार्ग में यह सोच रहे थे कि या तो श्री राम का राज्याभिषेक होगा या महाराज कोई यज्ञ कर रहे होंगे । महल-प्रवेश के पश्चात् माता कैकेयी से ननिहाल के कुशल समाच।र कहने के उपरांत श्री भरत जी ने माता से कहा —

अभिषेक्ष्यति रामं तु राजा यज्ञं नु यक्ष्यते ।
इत्यहं कृत संकल्पो हृष्टो यात्रामया सिषम ।।
तदिदं ह्यन्ययाभूतं व्यदीर्णं मनो मम ।
पितरं यो न पश्यामि नित्यं प्रियहिते रतम् ।।

× × ×

यो ये भ्राता पिता बन्धुर्यस्य दासोऽस्मि सम्मतः ।
तस्य मां शीर्घमाख्याहि रामस्याक्लिष्ट कर्मणः ।।

पिता हि भवति ज्येष्ठो धर्मं मार्यस्य जानतः ।
तस्य पादौ प्रहृष्यामि स हीदानीं गतिर्मम ॥

माता से महाराज के स्वर्ग सिधारने की बात सुनकर –

सुनत भरत भये बिबस बिषादा । जनु सहमेउ करि केहरि नादा ।
तात तात हा तात पुकारी । परे भूमितल व्याकुल भारी ॥

परन्तु जब माता से श्री राम वन गमन की बात सुनी तो—

भरतहिं बिसरेउ पितु मरन सुनत राम बन गौनु ।
हेतु अपनपउ जानि जियँ थकित रहे धरि मौनु ॥

श्री भरत जी के स्थान पर यदि आज कोई साधारण व्यक्ति होता तो वह मन में बड़ा प्रसन्न होता कि उसे कितनी सरलता से इतना महान राज्य प्राप्त हो गया । अयोध्या के राज सिंहासन की प्रतिष्ठा एसो थी कि

आगे होइ जेहि सुरपति लेहीं । अरध सिंहासन आसन देहीं ॥

× × ×

अवध राजु सुर राज सिंहाई । दसरथ धनु सुनि धनदु लजाई ॥

यह सब होते हुये भी श्री भरत जी को राम वन गमन का समाचार सुनकर इतनी पीड़ा हुई कि उन्होंने अपनी माता से कहा—

जब तैं कुमति कुमत जिय ठयऊ । खंड खंड होइ हृदय न गयऊ ॥
बर मागत मन भइ नहिं पीरा । गरि न जीह मुहँ परेउ न कीरा ॥

ऐसे तैं क्यों कटु बचन कह्यो री !
राम जाहु कानन कठोर तेरो कैसे धौं हृदय रह्यो री ॥
दिनकर-बंस, पिता दसरथ से, रामलषन से भाई ।
जननीं ! तू जननी ! तौ कहा कहौं, विधि केहि खोरि न लाई ॥
हौं लहिहौं सुख राज मातु ह्वै, सुत सिर छत्र धरैगो ।
कुल कलंक मल-मूल, मनोरथ तव बिनु कौन करैगो ॥
ऐहैं राम, सुखी सब ह्वै हैं, ईस अजस मेरो हरि हैं ।
तुलसीदास मोको बड़ो सोच है, तू जनम कौन विधि भरि है ॥

× × ×

राम बिरोधी हृदय ते प्रगट कीन्ह बिधि मोहि ।
मो समान को पातकी बादि कहऊँ कछु तोहि ॥

फिर श्री भरत जी माता कौशल्या के यहाँ गये और कहा कि मेरे समान अभागा कौन है कि जिसके कारण पिता जी का सुरपुर गमन हुआ और श्री राम लक्ष्मण जैसे भाई इतना कष्ट सहन कर रहे हैं । यदि मैं अपनी माता के मत में सहमत होऊँ तो संसार में

महान से महान पापों के करने का जो फल होता है वह सब मुझे मिले। माता ने भरत के सरल स्वभाव से कहे हुये वचनों को सुनकर कहा—

× × ×

दिष्ट्या न चलितो धर्मादात्मा ते सहलक्षणः।
वत्स सत्य प्रतिज्ञो हि सतां लोकान वाप्स्यसि ॥

राम प्रानहु तें प्रान तुम्हारे। तुम्ह रघुपतिहि प्रानहु ते प्यारे।
बिधु बिष चवै स्रवै हिमु आगी। होइ बारिचर बारि बिरागी ॥
भयें ग्यानु बरू मिटै न मोहू। तुम्ह रामहि प्रतिकूल न होहू।
मत तुम्हार यहु जो जग कहहीं। सो सपनेहुँ सुख सुगति न लहहीं ॥

महाराज दशरथ के श्राद्ध इत्यादि से निवृत्ति के पश्चात् गुरू वशिष्ठ, श्री सुमंत्र जी तथा माता कौशल्या ने श्री भरत जी से राज्य ग्रहण के लिये प्रार्थना की। कैकेयी के विवाह के समय कैकेयी के पिता से महाराज दशरथ ने प्रतिज्ञा की थी कि कैकेयी का पुत्र ही राज्य का उत्तराधिकारी होगा। कैकेयी को महाराजा के दिये वरदान के अनुसार भी भरत को राज्य अधिकार प्राप्त हो चुका था। इस प्रकार श्री भरत जी सर्व सम्मति से राजा चुने जा चुके थे। परन्तु श्री भरत जी ने किसी की भी परवाह न करके अपना मन श्री राम प्रेम मे लगाया। राज्य ग्रहण की बात ठुकराते हुये उन्होंने कहा—

पितु सुरपुर सिय राम बन करन कहहु मोहि राजु।
एहि ते जानहु मोर हित कै आपन बड़ काजु ॥

श्री भरत जी को इस लोक में अपयश अथवा परलोक में दुख भोगने का भय नहीं है। इन्हे तो केवल इस बात का सोच है कि उनके कारण श्री सीता राम जी कष्ट में हैं।

डरू न मोहि जग कहिहि कि पोचू। परलोकहु कर नाहिन सोचू ॥
एकइ उर बस दुसह दवारी। मोहि लगि भे सिय राम दुखारी ॥
जीवन लाहु लखन भल पावा। सब तजि राम चरन मनु लावा ॥
मोर जनम रघुवर बन लागी। झूठ काह पछिताऊँ अभागी ॥

आपन दारून दीनता सबहि कहउँ सिरु नाइ।
देखे बिनु रघुनाथ पद जिय कै जरनि न जाइ ॥

आन उपाय मोहि नहिं सूझा। को जिय कै रघुवर बिनु बूझा ॥
एकहि आँक इहइ मन माहीं। प्रातकाल चलिहऊँ प्रभु पाहीं ॥
जद्यपि मैं अनभल अपराधी। भै मोहि कारन सकल उपाधी ॥
तदपि सरन सनमुख मोहि देखी। छमि सब करिहहिं कृपा बिसेषी ॥
सील सकुच सुठि सरल सुभाऊ। कृपा सनेह सदन रघुराऊ ॥
अरिहुक अनभल कीन्ह न रामा। मैं सिसु सेवक जद्यपि बामा ॥
तुम्ह पै पाँच मोर भल मानी। आयसु आसिष देहु सुबानी ॥
जेहि सुनि विनय मोहि जनु जानी। आवहिं बहुरि राम रजधानी ॥

इस प्रकार श्री भरत जी नें श्री राम से वन में मिलने की प्रतिज्ञा करने के उपरान्त 'संपति सब रघुपति कै आही' विचार कर राज्य की देख रेख के लिये उचित प्रबंध किया तथा फिर राज समाज और प्रजाजनों के साथ वन के लिये प्रस्थान किया। श्री राम के लिये उनका प्रेम इतना अगाध है कि –

रामु पयादेहि पायँ सिधाये। हम कहँ रथ गज बाजि बनाये ॥
सिर भर जाऊँ उचित असमोरा। सबते सेवक धरमु कठोरा ॥

प्रयाग में श्री भरत जी तो इतने व्याकुल हो गये थे कि —

मागउँ भीख त्यागि निज धरमू। आरत काह न करइ कुकरमू ॥
अस जियँ जानि सुजान सुदानी। सफल करहिं जग जाचक बानी ॥
अरथ न धरम न काम रुचि गति न चहउँ निरबान।
जनम जनम रति राम पद यह बरदानु न आन ॥

भरत जी की इस प्रार्थना पर त्रिवेणी के बीच से कोमल वाणी हुई –

तात भरत तुम्ह सब विधि साधू। राम चरन अनुराग अगाधू ॥
बादि गलानि करहु मन माहीं। तुम्ह सम रामहि कोउ प्रिय नाहीं ॥

प्रयाग में श्री भरद्वाज जी ने भी कहा--

सुनहु भरत रघुवर मन माहीं। प्रेम पात्र तुम्ह सम कोउ नाहीं ॥
लखन राम सीतहि अति प्रीती। निसि सब तुम्हहि सराहत बीती ॥
जाना मरम नहात प्रयागा। मगन होहिं तुम्हरे अनुरागा ॥
तुम्ह पर अस सनेहु रघुवर के। सुख जीवन जग जस जड़ नर के ॥

श्री भरद्वाज जी ने श्री भरत का दर्शन श्री राम के दर्शन से भी बढ़कर माना। श्री भरद्वाज जी के शब्दों में

सब साधन कर सुफल सुहावा। लखन राम सिय दरसन पावा ॥
तेहि फल-कर फल दरस तुम्हारा। सहित पयाग सुभाग हमरा ॥
भरत धन्य तुम्ह जसु जगु जयऊ। कहि अस प्रेम मगन मुनि भयऊ ॥

श्री भरत जी ने मुनि से कहा कि मुझे न तो माता के कुकृत्य का सोच है, न इस लोक में अपयश का और न परलोक में दुख का भय है, पिता जी के मरने का भी कोई शोक नहीं है। यदि किसी बात का दुख है तो वह यह कि मेरे कारण श्री राम, सीता तथा लक्ष्मण भूमि पर सयन करते हैं, कंद मूल फल भोजन करते हैं और अनेकों प्रकार के बन के कष्ट सहन करते हैं। इन बातों को सोंचकर मुझे नतो दिन में भूख लगती है और न रात्रि में नींद ही आती है। सब दुखों का नाश तभी हो सकता है जब श्री राम, सीता लक्ष्मण सहित अयोध्या वापस लौट आयें।

श्री भरद्वाज जी से बिदा लेकर श्री भरत जी अपने लक्ष्य की ओर आगे बढ़े। देवताओं के मन में बड़ा सोच हुआ कि यदि श्री राम वापस चले गये तो उनका सारा कार्य बिगड़ जायगा। देवताओं ने सोचा कि किसी प्रकार छल इत्यादि के द्वारा श्री भरत

को श्री राम से मिलने न दिया जाय। देवगुरु ने श्री भरत का प्रभाव समझाते हुये उन्हें ऐसा करने से मना किया तथा यह अश्वासन दिया कि श्री भरत सदा दूसरों के उपकार की ही बात सोंचते हैं तथा दूसरों के दुख के निवारण का ही प्रयत्न करते हैं। भरत जी श्री राम के स्वभाव का स्मरण करते हुये आगे बढ़ रहे थे। मार्ग में जितने तीर्थ, मंदिर तथा मुनि आश्रम इत्यादि मिलते, उन सभी स्थानों पर

मनही मन मागहिं बरु एहू। सीय राम पद पदुम सनेहू॥

श्री भरत जी के आने का समाचार सुनकर श्री रामचन्द्र जी तो इस संकोच में पड़ गये कि हम श्री भरत जी के वापस लौटने के अनुरोध को कैसे अस्वीकार करेंगें। परंतु श्री लक्ष्मण के संदेह का निवारण करते हुये श्री रामचन्द्र जी ने कहा --

कही तात तुम्ह नीति सुहाई। सबते कठिन राजमदु भाई॥
जो अचवँत नृप मातहिं तेई। नाहिन साधु सभा जेहि सेई॥
सुनहु लखन भल भरत सरीसा। विधि प्रपंच महँ सुना न दीखा॥

भरतहि होइ न राजमदु विधि हरि हर पद पाइ।
कबहुँ कि कांजी सीकरनि छीर सिंधु बिनसाइ॥

तिमिरु तरुन तरिनिहि मकु गिलई। गगनु मगन मकु मेघहिं मिलई॥
गोपद जल बूड़हि घट जोनी। सहज छमा बरु छाड़ै छोनी॥
मसक फूँक मकु मेरु उड़ाई। होइ न नृपमदु भरतहि भाई॥
लखन तुम्हार सपथ पितु आना। सुचि सुबंधु नहि भरत समाना॥
सुगुनु खीरु अवगुन जलु ताता। मिलइ रचइ परपंच विधाता॥
भरतु हंस रवि बंस तड़ागा। जनमि कीन्ह गुन दोष विभागा॥

× × ×

गहि गुन पय तजि अवगुन बारी। निज जस जगत कीन्ह उजियारी॥

श्री राम के ये शब्द, श्री भरत जी के पावन चरित्र पर पूर्ण प्रकाश डालते हैं। थोड़े ही समय के पश्चात् श्री भरत 'पाहि नाथ कहि पाहि गोंसाई' कहते हुये श्री राम जी के आश्रम पहुँचे तथा दण्ड प्रणाम करने लगे। श्री लक्ष्मण द्वारा ध्यान आकृष्ट होने पर श्री राम जी प्रेम में अधीर होकर उठे और उन्हें हृदय से लगा लिया। तुलसीदास जी के शब्दों में--

मिलन प्रीति किमि जाइ बखानी। कवि कुल अगम करम मन बानी॥
अगम सनेह भरत रघुवर को। जहँ न जाइ मन विधि हरि हर को॥

श्री भरत जी को केवल एक ही चिंता थी कि 'केहि विधि होई राम अभिषेकू।' श्री वशिष्ठ जी ने एक सभा का आयोजन कर यह प्रस्ताव रखा कि 'केहि विधि अवध चलहिं रघुराऊ, कहहु समुझि सोइ करिअ उपाऊ।' सारी सभा इस प्रश्न पर मौन रह गई और किसी को कोई उत्तर नहीं सूझ रहा था। तब मुनि ने कहा कि यद्यपि यह कहने में मुझे संकोच हो रहा है कि भरत तथा शत्रुघ्न जी वन में चले जाँय तथा श्री राम लक्ष्मण सीता

वापस लौट आयें, परन्तु फिर भी मैं यह इसलिए कह रहाँ हूँ कि बुद्धिमान लोग सर्वस्व जाते देखकर आधा छोड़ देते हैं। इस बात को सुनकर श्री भरत जी भाई समेत अत्यंत प्रसन्न हो गये और आजीवन वनवास में आनन्द व्यक्त करने लगे। भरत जी के वचनों से सारी सभा स्तब्ध रह गई।

भरत वचन सुनि देखि सनेहू। सभा सहित मुनि भये बिदेहू।।
भरत महा महिमा जल रासी। मुनि मत ठाढ़ि तीर अबला सी।।

इस सभा के सभी व्यक्तियों सहित मुनि श्री राम जी के पास आये और उन्होंने श्री भरत जी से अपनी बात कहने के लिये अनुरोध किया। श्री भरत जी से उनकी सब बात सुनकर श्री रामचन्द्र जी ने कहा—

तात जायँ जियँ करहु गलानी। ईस अधीन जीव गति जानी।।
तीन काल तिभुअन मत मोरे। पुन्यसिलोक तात तर तोरे।।
उर आनत तुम्ह पर कुटिलाई। जाइ लोक परलोक नसाई।।
दोष देहिं जननिहि जड़ तेई। जिन्ह गुर साधु सभा नहिं सेई।।

मिटिहहिं पाप प्रपंच सब अखिल अमंगल भार।
लोक सुजस परलोक सुख सुमिरत नाम तुम्हार।।

फिर श्री रामचन्द्र जी ने कहा कि पिता जी ने मुझे त्याग कर सत्य की रक्षा की और मेरे प्रेम के वशीभूत होकर शरीर त्याग दिया। उनके कहे हुये वचनों का उलंघन करने में मुझे सोच होता है, फिर भी भरत तुम्हारा संकोच मुझे अधिक है। इसलिये

'मनु प्रसन्न कर सकुच तजि कहहु करौं सोइ आजु'

यह सुनकर भरत जी को कुछ शांति मिली। उन्होंने यह प्रस्ताव रखा कि उन्हें शत्रुघ्न जी के साथ बन भेजकर श्री राम, सीता तथा लक्ष्मण सहित अयोध्या वापस चले जाँय, अथवा श्री लक्ष्मण और श्री शत्रुघ्न जी वापस जाँय और वे श्री रामजी के साथ वन में रहें। अथवा वह दोनों भाइयों के साथ वन जाँय और श्री राम, सीता सहित अयोध्या वापस लौट जायें। श्री जनक जी भी चित्रकूट पधारे और श्री भरत के प्रेम को देखकर मग्न हो गये। माता कौशल्या ने श्री राम की सौगंध खाकर कहा—

भरत सील गुन विनय बड़ाई। भायप भगति भरोस भलाई।।
कहत सारदहु कर मति हीचे। सागर सीप कि जाहिं उलीचे।।

श्री रामचन्द्र जी ने भरत जी को बहुत तरह से समझाया, कुलरीति बताई तथा पिता के वचनों का स्मरण कराया और उनसे वनवास की शेष अवधि के लिये अयोध्या वापस लौट कर प्रजा तथा परिवार की उचित देख रेख के लिये अनुरोध किया। अन्त में श्री भरत ने एक स्वर्ण पादुका भगवान श्री राम की सेवा में उपस्थित की और उसे पहनने का आग्रह किया। भगवान श्री राम ने उसे एक बार पहन कर श्री भरत को दे दिया।

अधिरो हार्यं पादाभ्यां पादुके हेम भूषिते।
एतेहि सर्वलोकस्य योगक्षेमं विधास्यतः।।

सोऽधिरूह्य नर व्याघ्रः पादुके व्यवमुच्य च।
प्रायच्छत सुमहातेजा भरताय म हात्मने ॥

पादुका लेकर

विनती भरत करत कर जोरे ।
दीन बंधु ! दीनता दीन की कवहुँ परै जनि भोरे ॥
तुम्हसे तुम्हहि नाथा मोको, मोसे जन तुमको वहुतेरे ।
इहै जानि, पहिचानि प्रीति, छमिये अघ-औगुन मेरे ॥
यों कहि सीय-राम-पाँचनि परि लखन लाइ उर लीन्हें ।
पुलक सरीर, नीर भरि लोचन, कहत प्रेम-पन कीन्हें ॥
तुलसी बीते अवधि प्रथम दिन जो रघुवीर न ऐहौं ।
तौ प्रभु चरन सरोज-सपथ जीवत परिजन हि न पैहौ ॥

इस प्रकार प्रार्थना करके भरत जी राज समाज समेत अयोध्या वापस लौट आये। लौट कर आने पर चरण पादुका को उन्होंने सिंहासनारूढ़ किया तथा स्वयं नन्दिग्राम में पृथ्वी खोदकर, उसमें कुश बिछा कर पत्तों की कुटी में निवास करते थे।

तेहि पुर बसत भरत बिनु रागा। चंचरीक जिमि चंपक बागा ॥

× × ×

नित पूजत प्रभु पाँवरी प्रीति न हृदय समात
मागि मागि आयसु करत राज काज बहु भाँति।

श्री राम, सीता तथा लक्ष्मण का वन में निवास और श्री भरत जी की अयोध्या में तपस्या—इन दोनों पक्षों को देखकर सभी लोगों ने श्री भरत जी की सराहना की। चौदह वर्ष की अवधि वीतने पर श्री हनुमान जी ने जब श्री राम के आगमन का समाचार श्री भरत जी को सुनाया, तव भरत जी ने कहा—

एहि संदेस सरिस जगमाहीं। करि विचार देखेउं कछुनाहीं ॥

श्री रामचन्द्र जी के वापस आने पर, भूमि पर लेटकर श्री भरत जी ने उन्हें प्रणाम किया। उन्होंने श्री राम जी के चरणों को इतना कसकर पकड़ लिया था कि श्री रामचन्द्र जी को भरत को उठाने में प्रयास करना पड़ा। राम राज्याभिषेक के समय श्री भरत ने स्वयं छत्र पकड़ा।

श्री भरत जैसा विमल चरित्र अन्यत्र दुर्लभ है। श्री हनुमान जी के शब्दों में—

होतो नहि जौ जग जनम भरत को ।
तौ, कपि कहत, कृपान-धार मग चलि आचरत बरत को ? ॥
धीरज-धरम धरनिधर-धुर हूँते गुर धुर धरनि धरत को ?
सब सदगुन सनमानि आनि उर, अघ-औगुन निदरत को ? ॥
सिवहु न सुगम सनेह रामपद सुजननि सुलभ करत को ?
सृजि निज जस सुरतरु तुलसी कहँ अभिमत फरनि फरत को ? ॥

काशी में तुलसी की साहित्य-साधना

लक्ष्मीशंकर व्यास एम० ए० आनर्स
(प्राचीन छात्र)

गोस्वामी तुलसीदास की साधना-भूमि काशी रही हैं। यहीं आपका अधिकांश जीवन व्यतीत हुआ, यह निर्विवाद है। तुलसी का जन्म राजापुर में हुआ अथवा सोरों में यह भले ही मतभेद और विवाद का विषय हो पर इसमें दो मत नहीं कि वाराणसी आपकी साहित्य-साधना की पवित्र स्थली है। वास्तविकता तो यह है कि तुलसी के जीवन का अधिकांश समय काशी में व्यतीय हुआ और यहीं आपने प्रायः समस्त ग्रथों की रचना की। मानस की रचना के जब चार सौ वर्ष पूरे हो गये हैं तो काशी में तुलसी की साहित्य साधना से जुड़े स्थलों की ओर सहसा ध्यान आकृष्ट हो जाता है। चार शताब्दियों पूर्व की वह स्मृति सजीव हो उठती है जब गोस्वामी जी गंगा-तट के निकट निवास पर अपनी साहित्यिक साधना में संलग्न थे। काशी की जिन गलियों, स्थानों तथा घाटों से तुलसी का घनिष्ट सम्बन्ध रहा है वे आज भी महाकवि की ऐतिहासिक स्मृति को सँजोये हुए हैं।

काशी में तुलसी ने न केवल रामचरित मानस, विनय पत्रिका, कवितावली, राम-शलाका, आदि ग्रन्थों की रचना की अपितु रामलीला और कृष्णलीला का भी समारम्भ किया। मुगलकालीन विषम सामाजिक एवं राजनीतिक परिस्थितियों में आपने एक ओर रामकथा का आयोजन और दूसरी ओर रामलीला का आयोजन, भारतीय चेतना तथा संस्कृति के रक्षण के निमित्त किया। यही नहीं, काशी के उत्तरी छोर से दक्षिणी छोर तक बारह हनुमान मूर्तियों की स्थापना कर आपने जन-जागृति और लोक संघटन का असाधारण और अलौकिक दूरदर्शिता का कार्य किया। इस प्रकार साहित्यिक चेतना जागृति कर आपने लोक मानस के अनुरंजन और नैतिक अभ्युत्थान का ऐसा अभिनव अनुष्ठान आरम्भ किया जो आधुनिक काल में भी अत्यन्त मनोवैज्ञानिक एवं मर्मस्पर्शी रहकर जन-मन-रंजन का केन्द्र-विन्दु बना हुआ है।

तुलसी की रचनाओं में काशी का जितना वर्णन मिलता हैं, उतना किसी एक अन्य स्थान का नहीं। रामचरित मानस का किष्किन्धाकांड काशी में ही लिखा गया। कुछ विद्वानों का मत यह है कि मानस का आरम्भ किष्किन्धाकांड से ही हुआ। मानस के इस चतुर्थ सोपान में तुलसी ने भगवान शंकर तथा काशी की वन्दना की है। मानस के इस कांड का मंगलाचरण काशी की महिमा तथा महत्ता का स्पष्ट संकेत देता है—

मुक्ति जन्म महि जानि, ज्ञान खानि अघ हानिकर
जहं बस संभु भवानि, सो कासी सेइय कस न

यह बात तो सर्व विदित है कि मानस के बालकांड की रचना पहले नहीं हुई है। बहुत सम्भव है कि मानस का आरम्भ इसी चतुर्थ सोपान से हुआ हो। जो हो, इतना तो निश्चित है कि इसकी रचना काशी में ही हुई।

'विनय पत्रिका' का रचना स्थल

रामचरित मानस के बाद तुलसी की महत्वपूर्ण कृति 'विनय पत्रिका' है। इसकी रचना काशी के सुप्रसिद्ध गोपाल मन्दिर के पश्चिमी-दक्षिणी कोने की गुफा में गोस्वामी जी ने की थी। यह स्थान आज भी गोस्वामी जी की गुफा के नाम से प्रसिद्ध है। इस कमरे के ऊपर एक खिड़की है और उसके नीचे दोनों पार्श्व में दो मोखेनुमा रोशनदान हैं अथवा स्वच्छ वायु के निमित्त प्राचीन काल के लघु वातायन हैं। इस स्थल के ऊपर की बाहरी दीवाल पर एक शिलापट्ट है जिसमें यह अभिलेख अंकित है। इस कमरे में कवि तुलसीदास ने अपनी विनय पत्रिका की रचना की।' यह शिलापट्ट अंग्रेजी भाषा में लिखा हुआ है। आवश्यकता है इसके एक पार्श्व में हिन्दी में भी दूसरा शिलापट्ट अंकित करा दिया जाय। उक्त खिड़की में नीचे की ओर सीढ़ी है। नीचे के कमरे में गोस्वामी तुलसीदास ने निवास कर 'विनय पत्रिका' की रचना की। इस स्थान के जीर्णोद्धार की भी आवश्यकता है, जिससे उक्त ऐतिहासिक स्थान को दर्शनीय रूप दिया जा सके।

रामशलाका की निर्माण-स्थली

तुलसीदास जी प्रायः बारह वर्षों तक काशी के प्रहलादघाट पर पंडित गंगाराम ज्योतिषी के यहाँ निवास करते रहे। यह स्थान आज भी तुलसी स्मारक के रूप में विद्यमान है। ज्योतिषी जी के वंशज पण्डित रणछोड़लाल व्यास ने उस कमरे के बाहर द्वार के निकट संगमरमर के पत्थर पर उक्त स्मृति का अंकन किया है। यह शिलापट्ट सन् १९१५ में लगवाया गया था। पण्डित गंगाराम ज्योतिषी तथा गोस्वामी तुलसीदास जी की घनिष्टता प्रसिद्ध रही है। ज्योतिषी जी के लिए ही तुलसीदास जी ने रामशलाका या सगुनावली की रचना की। इसकी प्राचीन प्रति अब भी पण्डित रणछोड़लाल जी व्यास के उत्तराधिकारी पण्डित रामजी व्यास के पास सुरक्षित है। आपके पास तुलसी पूजित शंकर और हनुमान की मूर्तियाँ भी हैं। आपके पास एक चक्र भी है, जिसके सम्बन्ध में बताया जाता है, कि पूजन के बाद तुलसीदास इसकी परिक्रमा किया करते थे।

रामशलाका की रचना के सम्बन्ध में एक स्मरणीय घटना है। कहते हैं कि ज्योतिषी का संबंध काशीराज से था। एक बार राजकुमार आखेट के सिलसिले में गहन वन में चले गये और रात्रि हो जाने के कारण नहीं लौटे। जब वे दूसरे दिन भी वापिस नहीं लौटे तो ज्योतिषी जी को बुलाया गया और राजकुमार की कुशलता पूछी गयी। ज्योतिषी जी दूसरे दिन उत्तर देने की बात कहकर घर लौटे। 'उन्हें चिन्तामग्न देखकर तुलसीदास जी ने कारण पूछा। उनसे सब हाल सुनकर मित्र के निमित्त रामाज्ञा प्रश्न की रचना की इसके आधार पर श्री गंगाराम ज्योतिषी ने काशिराज से जाकर कहा राजकुमार सकुशल हैं और शीघ्र ही लौटेंगे। संयोग की बात राजकुमार उसी समय सकुशल लौटे। इस पर काशिराज ने उन्हें पुरस्कृत किया। प्रह्लाद घाट स्थित ज्योतिषी जी के वंशधरों के स्थान में तुलसीदास की संगमरमर की अत्यन्त सजीव मूर्ति आज भी विद्यमान है, जो अत्यन्त प्राचीन चित्र के आधार पर निर्मित हुई है।

तुलसी मन्दिर काशी में तुलसी के निवास का तीसरा तथा सबसे प्रसिद्ध स्थान है, जो तुलसीघाट के नाम से प्रसिद्ध है। इसी घाट पर वह कमरा आज भी सुरक्षित है, जिसमें गोस्वामी जी निवास किया करते थे। यह स्थान तुलसी मन्दिर के नाम से प्रसिद्ध है। यहाँ तुलसी पूजित देवमूर्तियाँ विद्यमान हैं। कहते हैं, यहाँ तुलसीदास जी की खड़ाऊ भी सुरक्षित है। जिस नौका पर आरूढ़ होकर तुलसी गंगा पार जाया करते थे उस नौका के काठ के कुछ अवशेष अब भी मौजूद है। तुलसी के जीवन का उत्तर काल यहीं बीता इसमें सभी एक मत हैं—

संवत् सौलह सौ असी, असी गंग के तीर

यहीं तुलसी का निर्वाण हुआ। इस घाट की ऐतिहासिकता को देखते हुए इसकी रक्षा आवश्यक है। यह स्थान गोस्वामी तुलसीदास अखाड़े के महन्त श्री वीरभद्र जी मिश्र के प्रवन्ध में है।

पंचनामा

तुलसी के हस्तलेख की कोई रचना प्राप्य है या नहीं इसके संबंध में तो विद्वानो में मतभेद है; किन्तु संवत् १६६९ में गोस्वामी जी ने अपने मित्र राय टोडर के पंचनामें पर जो मंगलात्मक अंश लिखा था, वह उनकी ही लिखावट है :—

श्री जानकी वल्लभोविजयते

द्विश्शरं नाभिसंघते द्विस्स्थापयति नाश्रितान।
द्विर्द्ददाति न चार्थिभ्यो रामो द्विर्भाव भाषते॥
तुलसी ज्यान्यो दशरथहि धरमु न सत्य समान।
रामु तजे जिहि लागि बिनु राम परिहरे प्रान॥
धर्मो जयति माधर्म्मस्सत्यं जयति नानृतं।
क्षमा जयति न क्रोधो विष्णुर्जयति ना सुराः॥

इस पंचामें में तुलसी के हस्ताक्षर आज भी दर्शनीय है।

भदैनी निवासी चौधरी टोडर की मृत्यु पर तुलसी ने इस पद्य की रचना की थी जिससे मित्र के प्रति उनके हृदय की विशालता स्पष्ट होती है।

चार गांव के ठाकुरो, मनको महा महीप।
तुलसी या कलिकाल में, अथयो टोडर दीप॥
तुलसी राम सनेह को सिर पर भारी भार।
टोडर कांधा ना दियो, सब कहे रहि उतार॥
तुलसी उरथाला विमल, टोडर गुनगुन बाग।
ये दोऊ नैनन सींचिहौं समुझि समुझि अनुराग॥
रामधाम टोडर गये, तुलसी भयें असोच।
जिय को मीत पुनीत विन, यही जानि संकोच॥

तुलसी का प्रत्यक्ष दर्शन

तुलसीदास जी के शिष्य थे श्री रामू द्विवेदी। आपने तुलसीकृत मानस का संस्कृत अनुवाद 'प्रेम रामायण' के नाम से किया है। रामू द्विवेदी पर गुरु की पूर्ण कृपा थी। आपने केवल मानस का संस्कृत अनुवाद ही नहीं किया अपितु तुलसी दास जी का शब्द-चित्र और उनके स्वरूप तथा प्रवृतियों का भी सजीव चित्रण किया है। गोस्वामी जी के संवध में आपनें लिखा हैं। उनका वर्ण गौर है। वे राम शब्द के 'रा' मात्र से पुलकित हो जाते हैं। वे वक्षस्थल पर तुलसी की वड़ी वाड़ी गुटियों की माला धारण करते हैं। वे कौपीन पहनते हैं और दीर्घ स्वर में 'भरतु भे ठाढे' पद का वार-वार पारायण करते हैं। यह पद गीतावली का है और तुलसी को अत्यन्त प्रिय था। इसी कारण इसके पढ़ने के समय उनका तन-मन पुलकित हो उठता था। उनके प्रिय शिष्य श्री रामू द्विवेदी का यह शव्द चित्र हमे तुलसी का प्रत्यक्ष दर्शन कराता है।

तुलसीदास जी ने काशी के उत्तरी छोर से लेकर दक्षिणी छोर तक वारह स्थानों में हनुमान मूर्तियों की जो स्थापना की है वे आज भी विद्यमान हैं। ये हनुमान मूर्तियाँ दक्षिणामुखी हैं। इनकी स्थापना द्वारा गोस्वामी जी ने हनुमान पूजा अर्थात् वीर पूजा, मल्लशाला तथा राम दल के गठन का ऐतिहासिक मार्ग दर्शन किया। वस्तुतः तुलसी की साधना, सिद्धि और समाधि-भूमि काशी ही रही है।

रस विशेष

डॉ० मनोरंजन ज्योतिषी (प्राचीन छात्र)

'काव्य में सौन्दर्यबोध' के सबन्ध में डाक्टर राम अवध द्विवेदी जीं ने अपनी 'साहित्य सिद्धान्त' नामक पुस्तक में लिखा है - 'प्रत्ययवादियों का कहना है कि कोई स्थूल पदार्थ स्वयं न तो सुन्दर है न असुन्दर। 'सुन्दर' और 'असु दर' का भेद हमारे मन में उत्पन्न होता है अतः मूल्य की कल्पना व्यक्ति मूलक है। इस दृष्टिकोण के संबंध में यह शंका उत्पन्न होती है कि यदि सौन्दर्य केवल व्यक्तिगत प्रतिक्रिया पर निर्भर होता है, तो एक ही पदार्थ बहुसंख्यक लोगों को सुन्दर कैसे प्रतीत होने लगता है। इसीलिये यथार्थवादी विचारक मूल्य का निवासस्थान पदार्थ में ही मानते हैं। किन्तु इस सम्बन्ध में भी अनेक आपत्तियाँ हैं, जैसे एक ही पदार्थ किसी को सुन्दर और किसी को असुन्दर क्यों मालूम पड़ता है। इस संबंध में समन्वयवादी दृष्टिकोण सर्वाधिक संतोषप्रद है। कोई वस्तु हमें इस लिये अच्छी लगती है कि उसमें सौन्दर्य के तत्व विद्यमान रहते हैं और वह सुन्दर इसलिये भी है कि हमारा मन उसे सुन्दर मानता है। मूल्य के संबंध में यह 'सब्जेक्टिव-आब्जेक्टिव' मत आज सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण माना जाता है॥ पृष्ठ २०५ प्रथम संस्करण॥

इस दृष्टि से विचार किया जाय तो जो विद्वान् साधारणीकरण (समानुभूति) का संबंध कवि-हृदय से मानते हैं वह चिन्त्य है इसीलिये भारतीय आचार्यों ने रसानुभूति (भावानुभूति) का आधार, आश्रय के साथ तादात्म्य को माना है परिणाम स्वरूप एक ग्रन्थ (काव्य) या एक प्रसंग के पढ़ने से द्रष्टा या श्रोता को विभिन्न प्रकार के भावों की अनुभूति होती हैं। इस मत से सहमति महाकवि गोस्वामी तुलसीदास जी की भी है— अपने ग्रंथ 'मानस' के संबंध में वे कहते हैं—

कवित रसिक न राम पद नेहू। तिन्ह कहँ सुखद हास रस एहू॥
॥ वा० दो० ८ चौ० २॥

जाना चहहिं गूढ़ गति जेऊ। ॥ वा० दो० २१-२॥

गयउ मोर संदेह सुनेउ सकल रघुपति चरित॥ ॥ उ० दो० ६८॥

बिषइन्ह कहँ पुनि हरि गुन ग्रामा। श्रवन सुखद अरु मन अभिरामा॥
॥ उ० दो० ५२ चौ० २॥

ता कहँ यह बिसेष सुखदाई। जाहि प्रानप्रिय श्री रघुराई॥
॥ उ० दो० १२७ चौ० ४॥

आज 'मानस चतुश्शती' के इस वर्ष में 'जनमानस पर रामचरित मानस के प्रभाव' के सर्वेक्षण से पता चलता है कि एक मुसलमान पाठक को रावण की बुद्धिमत्ता ने भी प्रभावित किया जब कि ग्रन्थकार महाकवि का अभीष्ट है—'रामादिवद् वर्तितव्यं न रावणादिवत्।' मॉरिशस के प्रधानमंत्री का कथन है कि "हमारे बाप दादे यदि हिन्दू के रूप में घोर अत्याचार के बाद भी (मारिशस में) जीवित रह सके और हम जैसी संतानों को एक

विराट् और उदार सांस्कृतिक परंपरा का अंग बना सके, तो इसका एकमात्र कारण है कि उनके पास संजीवनी के रूप में तुलसी का 'मानस' था।......मानस के आधार पर हमें अपने समाज में एकता और भक्ति का संचार करना है। उसमें जीवन की संपूर्णता का संकेत है, सामाजिक मर्यादा के लिये वैयक्तिक जीवन के उत्सर्ग का आग्रह है, साथ ही वह ठोस और सहज पारिवारिकता की उपज है।" कुछ पाठकों को 'मानस' में रसभंग दोष की प्रतीति होती है, उसका कारण यह है कि इस प्रकार के पाठकों का मन ग्रन्थकार के प्रतिपाद्य लक्ष्य के साथ तादात्म्य नहीं कर पाता—

जेहि महुँ आदि मध्य अवसाना। प्रभु प्रतिपाद्य राम भगवाना ॥

॥ उ० दो० ६० चौ० ३ ॥

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने 'मानस' को सर्वश्रेष्ठ महाकाव्य माना है और इसमें वीर रस को 'अंगी रस' मानकर मानस' को साहित्य की महान् उपलब्धि बतालया है। निरक्षर और प्रवुद्ध दोनों को आनन्द प्रदान करने वाला, (सुरसरि सम सब कर हित होई) भाषा की दृष्टि से विश्व का एकमात्र महाकाव्य 'मानस' ही है। आचार्य सीतराम चतुर्वेदी का मत है कि अकबर के समय से रामलीला का आधार 'मानस' रहा है अतः (ओपेन स्टेज) 'खुला रंगमंच' के माध्यम से हिन्दी रंगमंच का आद्य प्रतिष्ठापक 'मानस' है। काव्य-सौन्दर्य के इन सब विभिन्न आयामों के साथ-साथ 'मानस' ईश्वरीय अनुग्रहमय महाकाव्य है और इस भगवदनुग्रह की अनुभूति ही 'रसविशेष' है। जिन पाठकों का तादात्म्य ग्रन्थकार (आश्रय) के साथ हो जाता है उनकी दृष्टि से 'मानस' का सौन्दर्य, नव-रस-संवलित रस विशेष की अनुभूति देने वाला अनुपमेय है—

काम कोह मद मोह नसावन बिमल बिबेक बिराग बढ़ावन।
सादर मज्जन पान किए तें मिटहिं पाप परिताप हिए तें॥

॥ बा० दो० ४२ चौ० ३ ॥

सुखसंपादन समन बिषादा॥ उ० दो० १२९ चौ० १ ॥
पायो परम बिश्रामु॥ उ० दो० १२९ छंद ३ ॥

इस 'रसविशेष' की प्रतीति में बाधक है रजोगुण और तमोगुण का अतिरेक, लोभी क्रोधी और कामी में रजोगुण का उत्कर्ष रहता है जब कि ज्ञानलवदुर्विदग्ध में 'तमोगुण का उत्कर्ष होता है इसीलिये महाकवि कहते हैं—

कहिअ न लोभिहि क्रोधिहि कामिहि॥ उ० दो० १२७ चौ० २ ॥
मोहमूल बहु सूल प्रद त्यागहु तम अभिमान॥ सुन्दर काण्ड दो० २३ ॥

महान् शिक्षाविद् महामनामालवीय जी का कथन इस प्रसंग में दर्शनीय है—जैसे शरीर रक्षा के लिये भोजन आवश्यक है उसी प्रकार मनुष्य को आध्यात्मिक भोजन की भी आवश्यकता है। इसलिए जैसे स्कूल और विद्यालयों में दर्शन, गणित, साहित्य, भूगोल, इतिहास, विज्ञान आदि विषय पढ़ाये जाते हैं उसी प्रकार आध्यात्मिक शिक्षा भी मिलनी चाहिये। जैसे अँधेरे में दीपक पास होने से मनुष्य ठोकर नहीं खाता वैसे ही आध्यात्मिक शिक्षा प्राप्त मनुष्य धर्म के दीपक के सहारे संसार में कष्टों से बचता हुआ जीवन बिताता है। जिस

मनुष्य को धर्म के दीप का सहारा नहीं है जो अपने जीवन के व्यवहार में अच्छे नियमों का पालन नहीं करता, वह अनेक कष्ट उठाता है। वह चोरी करेगा, कारागार जायगा। बुरा व्यवहार करेगा, दंड पायेगा। पाप करेगा—उसका बुरा फल भोगेगा। संसार में बड़े-बड़े जंगल हैं। मार्ग में बड़े-बड़े पत्थर पड़े हैं, नाले हैं, नदी हैं, बिना धर्म की ज्योति के मनुष्य अपने को बचा नहीं सकता। जैसे मोटर में लालटेन न हो तो मोटर कहीं गड़हे में गिर जाय, कहीं किसी मनुष्य या गौ बैल से टक्कर खा जाय, किसी को कुचल दे और टक्कर से स्वयं नष्ट भी हो जाय, ऐसे ही धर्म के लंप के बिना जीवन के मोटर की दशा होती है।"

महामना मालवीय जी-लेख और भाषण पृ० ५५ भाग १ प्रकाशक-हि० वि० वि० काशी (धार्मिक) संस्करण १९६२

तृषित निरखि रबि कर भव बारी।
फिरिहहिं मृग जिमि-जीव दुखारी ॥बा० दो० ४२ चौ० ४

आज की इस भीड़ में कोई व्यक्ति जब संसार के ताप से दग्ध होकर अपने कर्तव्य, न्याय और चरित्र में दृढ़ निष्ठा के साथ शान्ति के लिये इधर आता है तो—

सद्गुर बैद बचन बिस्वासा। संजम यह न बिषय कै आसा।
रघुपति भगति सजीवन मूरी। अनूपान श्रद्धा मति पूरि।
एहि बिधि भलेहिं सो रोग नसाहीं। नाहिं त-जतन कोटि नहिं-जाहीं॥
॥उ० दो० १२१ चौ० ३-४॥

क्योंकि इस प्रकार मन के तमोगुण और रजोगुण का ह्रास हो जाता है अन्यथा—

नेम धर्म आचार तप ज्ञान जग्य-जप दान।
भेषज पुनि कोटिन्ह नहिं रोग जाहिं हरिजान ॥उ० दो० १२१ ख॥

परिणाम स्वरूप व्यक्ति 'किंकर कंचन कोह काम के' हो जाता है और इस प्रकार के मानसिक ग्रन्थि अथवा मानसिक अस्वास्थ्य से युक्त व्यक्ति का मन 'रस विशेष' की अनुभूति के लिये अक्षम होने के कारण रामकथा में "क्षणे क्षणे यन्नवतामुपैति तदेव रूपं रमणीयताया:" का आस्वाद नहीं ले पाता, इसलिये महाकवि कहते हैं—

रामकथा के तेइ अधिकारी। जिन्ह कें सतसंगति अति प्यारी॥
॥उ० दो० १२७ चौ० ३॥

किन्तु

राम चरित जे सुनत अघाहीं। रस बिसेष जाना तिन्ह नाहीं॥
॥उ० दो० ५२ चौ० १॥

———

गोस्वामी तुलसीदास

अनुज प्रताप सिंह
एम० ए० हिन्दी (शोध छात्र)

काल की कठोरता के—
योग्य पुत्र।
रावणी शिकंजों में
छटपटाती संस्कृति को
'मानस' में तुमने
उन्मुक्त सन्तरण की शक्ति से—
समर्थ किया
और
बिखरी कड़ियों को गूंथकर
जनहित का सुमेरु बाँधा।
तुमने दिखा दिया
उपल कैसे—
जलयान होता है।
देवता और पृथ्वी के—
प्रेमी—राम, के भक्त,
बेहद मुलायम और
घट्ठे, बिवाई, कांटों से—
भरे तलवों को—
एक निगाह दी।
जमाने के दस्तावेज को
बिना हाशिया दिये
सही दर्द से उरेहा।
उत्तर भारत के वेद में
बीस भुजाओं पर दो भुजाओं की
विजय-कथा लिखी।
आने वाली, पीढ़ी को
आफतों से जूझने के लिए
पुश्तैनी औजार दिये।
जब-तक इस धरती पर
जिजीविषा मानव में रहेगी
तब-तक संघर्षजयी तुलसी ही
उसके जीवन का पथ
आलोकित करेंगे।

———

TULASI'S DIPTYCHAL VISION OF HUMAN SOCIETY AND THE MODERN AGE

DR. S. M. PANDEYA
Reader, Department of English, B.H.U.

This should not be told to the wicked and obstinate, who cannot listen to the story of God's actions; it should not be told to the man of greed, anger, and lust, who is not devoted to the Lord of the Universe; it should not be told to the enemy of the wise and saintly men even though he be comparable to the King of gods. Only those are entitled to God's story who love good company greatly.

Tulasi's *Rāmacaritamānasa* 7.127. 2-3

To belive is above all to be in love,
And suffer as men do who are in love.

—F. T. Prince, *Drypoints of Hasidim II.1*

In the seventh canto of his *Rāmacaritamānasa* Tulasi Das dramatizes some of the most fundamental ideas in Indian thinking in his diptychal vision of human society. Some of these ideas concern the theory of being in time, a theory which he assumes to be a matter of comon knowledge in his readers. I shall briefly outline this theory of being in time and then discuss his vision of the ideal society, perversions of the Modern Age, and the possibility of a way out.

I

At the root of the theory of being in time is the concepiton of *Brahman* as the base and support of the entire universe as we know it. From *Brahman* has it sprung and into *Brahman* will it disappear. Only one quarter of *Brahman* becomes manifest in time; the three parts of it always remain in an eternal and unmanifest state. The universe becomes manifest and comes to be in time when the Deity deposits seeds, the spiritual monasp (*puruṣas* or *ātmans*), into *Brahman* (the *mahadbrahma, nature*). The correlation of the spritual monads and nature gives rise to a number of changes in the three consitituent qualities (*traiguṇyam*)

of nature; consequently, consciousness, the ego-principle, mind, sensory organs, motor organs, and the subtle and gross elements come into being and the universe as we know it becomes manifest. The complete process through which the creation comes to be in time and then disappears into *Brahman* consists of the changes that take place in he constituent qualities of nature — *sattva* (tendency to brightness), *rajas* (tendency to activity), and *tamas* (tendency to slothfulness)—and has been described by Kapila as "*sañcaraḥ pratisañcaraḥ*" (*Tattvasamāsa* 6). Throughout the process of creation the constituent qualities (*guṇas*) act upon each other (*sañcaraḥ*), and at the time of the dissolution of creation they withdraw from this ineteraction into their own original mode (*pratisañcaraḥ*).

This complete process of *sañcaraḥ pratisañcaraḥ* constitutes one cycle of Time and has been designated as one day of Brahmā, the presiding god of creation. During Brahmā's night the universe remains unmanifest, but with the dawn of his next day the creation starts all over again, running another course of *sañcaraḥ pratisañcaraḥ*. When Brahmā grows old he is replaced by another Brahmā, and the cycles of manifest creation in time and nothingness go on infinitely. One cycle of time consists of the four *yugas* (ages): *Kṛtayuga*, *Tretā*, *Dvāpara*, and *Kaliyuga*. As the time cycle of creation moves from one *yuga* to another, the predominance of *sattva* decreases, yielding place to the predominance of *rajas*; and then, the predominance of *rajas* gives place to the predominance of *tamas*. The characteristics of the four ages in one time cycle are described thus by Tulasi in terms of the constituent qualities of nature:

suddha sattva samatā vigyānā,
kṛta prabhāva prasanna mana jānā;
sattva bahuta raja kachu rati karmā,
saba bidhi sukha tretā kar dharmā;
bahu raja svalpa sattva kachu tāmasa,
dvāpara dharma haraṣa-bhaya mānasa;
tāmasa bahuta rajoguna thorā,
kali prabhāva birodha cahuṅ orā.

(*Rāṃacaritamāsasa* 7.103.1-3

That is, the *Kṛtayuga* is characterized by the effects of pure *sattva*, equanimity, wisdom, and brightness of mind. *Tretā* is characterized by much *sattva* (purity and goodness) and some *rajas;* the effect is love of action and happiness in every way. *Dvāpara* is characterized by much *rajas*, some *sattva*, and some *tamas;* the effect is exultation and despondency. *Kaliyuga* is characterized by much *tamas* and some *rajas*, the effect being an all-round hostility. The *guṇas* are the three constituent qualities of material substances: *sattva* predominates in gods, *rajas* in men, and *tamas* in demons. By their very material nature, men stand midway between the godly and demonic tendencies.

It should be noted here that according to this theory of time cycle, there has been a fall in the ways of human beings from the godly or saintly tendencies to the demonic or devilish ones. As for the social implications of this theory of being in time, it is radical and revolutionary in its function in the present-day context; it makes no compromise with the way things are: its ideals are those of *Rāma Rājya.* The ideal society is posited in the past, and the present-day perversions of society are seen not as progress, but as a reversal of the ideal; the two cannot coexist.

Tulasi's diptychal vision of the ideal and the perverted society is based on the theory of being in time as outlined above and is radically opposed to all those theories of progress that have sprung up in the wake of the British Imperialism, the white man's supremacy all over the world, and the bourgeois domination in the western societies in the nineteenth century. The Marxist mythology, which talks of the "death-agonies of bourgeois culture," is itself as much a product of this situation in the nineteenth century as the various other bourgeois mythologies of progress and evolution. The profoundest and the most penetrating insight into this situation is offered by Northrop Frye, who regards all modern evolutionary theories and myths of progress as "part of an imperialist ideology, designed to rationalize the aggressiveness with which the white man assumed his burden."

The essence of the imperialist ideology, whether Communist or Bourgeois, is a progressive, and in a real sense perverted, interpretation of history. The imperialist ideology tells us that "history shows a progress from primitive to civilized states, which turns out on investigation to be a progress in technology, though it is often called science. If two cultures collide, the one that gets enslaved or exterminated is the primitive one. The victorious one was more progressive....It can often, of course, also prove that its people are more intelligent....The doctrine of progress embraced both a complacent comparison of Western societies to those in other parts of the world, and a parallel comparison of ourselves to our ancestors, as a means, as T. S. Eliot puts it, of disowning the past." (*The Critical Path* 4.) Northrop Frye has called attention to "a very cruel deception concealed in both bourgeois and Marxist progressive myths":

> Both project an ideal into the future; both can rationalize the most atrocious present acts as leading to a future good; both promise the gratitude of some hazy posterity for very real sacrifices of life and happiness to be made now; both present us with leaders who have the abstracted gaze of the car driver, looking away from the immediate community into the imminent; both constantly tell us that we can really enjoy the blessings of our civilization only after some particular social hurdle is got over first...In the society of our day the unhappiest people are those who, in Sir Charles Snow's phrase, have the future in their bones: who convince themselves, every night, that Godot will infallibly come tomorrow.

Northrop Frye's view of the modern progressive myths finds support in the thoughts of other great minds of the twentieth century. T. S. Eliot remarks, for example, that the various theories of progress have effected a dislocation in our sense of values. Eliot also points to the fact that the U.S.A. and the U.S.S.R. are the two of the biggest imperial powers to-day. It may be noted here that both the imperial ideologies, Bourgeois and Communist, thrive on a myth of progress and evolution.

Tulasi's cyclic view of history and creation, his view of man's progressive fall in the course of one Time cycle, can make no compromise with the "very cruel deceptions" of either the bourgeois ideology of progress or the Communist mythology of Marxist paradise of the future. Tulasi saves us from a dislocation of values which is being constantly attempted by the demonic forces of our age through advertisement and propagands. This will become clearer after we have thrown a glance at his vision of human society in its ideal and perverted forms. It is in the second (*Tretā*) of the four ages in one time cycle that Tulasi posits his vision of the ideal society; his vision of the demonic human perversity is posited in modern times, *Kaliyuga*.

II

Tulasi projects his vision of the ideal society on to the reign of Rama (*Rāma Rājya*). His vision appealed to Mahatma Gandhi so much that he adopted it as his mainstay. *Rāma Rājya* became Gandhi's social ideal, too, and informed much of his social thinking and programmes of action. Rama belongs to *Tretā*, an age next to the Golden Age, *Kṛtayuga*. Rama, as he appears in Balmiki's *Rāmāyaṇa*, is particularly notable for his loyalty, patience in affliction, and obedience to superior authority ; he is an ideal husband, son, and brother and a vanquisher of demonic forces. The Sanskrit *Adhyātma Rāmāyaṇa* deifies Rama; and Tulasi, too, looks upon Rama as the incarnation of Vishnu. Tulasi sees Rama as God, who descended into Time to set a model for man to follow. During Rama's reign the state of the Golden Age came to prevail (*tretā mai kṛtajuga kai karan*); that is, the society during Rama's reign was thoroughly informed by the ideals of a superior age and hence it became identical with the ideal society.

Rama was the ideal ruler; he followed the path ordained by the scriptures and upheld *dharma*, the moral order in society. Working for *dharma* with perfect detachment, he was not bound by the effects of karma, by the effects of the three constituents of nature. The ruler upheld *dharma*, and the members of the ruling family too behaved in accord with the ideal. Graceful,

good-natured, and polite, Sita was an ideal woman and wife; she was devoted to Rama and did her household duties. She did not know what pride and vanity were, though she was the incarnation of Goddess Lakshmi. Rama's brothers were, likewise, devoted to him and he loved them. He was their teacher, too, and instructed them in the policies of the state and in the path of righteousness in general. Living thus in amity and love, the ruling family set up the ideal for others in society to follow. *Dharma*, the moral order in society, was fulfilled in all its four aspects: truth, uprightness, compassion, and charity.

Everybody in society followed the path ordained by the scriptures and did his caste-duty. Everybody loved everybody else. Enmity and discrimination between individuals disappeared. Each engaged himself in works suited to his nature (*svabhāva*). All were entitled to the supreme salvation (*sakala parama gati ke adhikārī*). Not agitated by the feelings of self-conceit, pride, and vanity, everybody devoted himself to *dharma* and performed good deeds intelligently and skilfully. There was respect for the virtuous and the learned. Everybody felt grateful for a good turn done to him; none was deceitful and cunning. People were tolerant and took pleasure in helping others; they respected the Brahmanas. Devoted to their wives, men practised monogamy; and the women, too, were devoted to their husbands in mind, speech, and act.

As a result of both the ruler and the subjects acting in accordance with the *dharma*, all were happy and free from personal afflictions and natural calamities; they were free from fear, anxiety, and disease. None died a permature death; none was poor, stupid, or devoid of merit. In such a happy society none could be overpowered by the effects of time, action or the constituent qualities of nature. People had a devotional interest in the actions of Rama and the ideals practised by him. None was punished and none had to be spied over. Even in the non-human world perfect amity and love prevailed.

This, in brief, is the outline of an ideal society based on *dharma*, a society in which every subject as well as every

member of the ruling class did his duties in accordance with the injunctions of the scriptures and was consequently worthy of supreme salvation. The ideal society subsists in *dharma*, which is also the base and suport of the relation between the individual members of society.

A notable feature of Tulasi's ideal society is that it consisted of members who were saintly in nature. Saintly men do good even to those who try to harm them. They are not attached to the objects of the senses and desire. They experience pain when others are in pain; and they are happy in the happiness of others. They possess equanimity, consider none their enemy, are devoid of vanity and pride and full of the attitude of renunciation. They have given up greed and anger, exultation and fear; they are gentle and compassionate towards the wretched. They are devotional in their sensibility and respect all, and yet are free from self-conceit. They have their desires under control and are always calm, detached, polite, cheerful, cool-headed, simple, friendly to all, and respectful to the learned and wise; *dharma* is created by such respect. Whoever has these qualities is a saintly man. The ideal society of *Rāma Rājya* consisted of such saintly men; and it is no wonder that men were happy.

III

What we call the modern times is part of the age Tulasi calls *Kaliyuga*. It is an age of human depravity and reversal of values in society. If *Tretā* was characterized by the predominance of *sattva* and saintly tendencies, then *Kaliyuga* is characterized by the predominance of *tamas* and demonic tendencies. The ruling classes and political parties do not uphold *dharma;* in fact they do not know what *dharma*, moral order, is. Consequently, they are ever engaged in sinful deeds:

nṛpa pāpa parāyana dharma nahĩn,
karı daṇḍa biḍamba prajā nıta hĩn. (*R* 7.100.3)

Actually. the ruling classes, the politicians and party woekrs of *Kaliyuga*, are solely devoted to the sinful and unright-

eous ways; they torture people by subjecting them to unmerited punishments daily; these devils exploit and devour people (*prajāsana*).

If the ruling classes have fallen from their duties, the people themselves are no less depraved. From their life too *dharma* has vanished. The scriptures and good books have vanished; and in their place, the self-conceited perverts have produced false *isms* (like Swift's spider or Nathanael West's Phoenix Excrementi, who eat themselves, digest themselves, and produce *isms* by evacuating their bowels). Overpowered by delusion and greed, men have given up good works; they have abandoned their caste duty and life-stage duty. They always oppose the scriptures and follow the ways dictated by their bestial impulses :

māraga soi jā kahuṅ joi bhāvā.

Those who indulge in self-praise are considered learned, and those who surround themseves with hypocrisies and artificialities are considered saints. The man who appropriates another's hard earnings is considered intelligent; and whoever indulges in self-conceit, is considered a man of righteous living. Liars and clowning buffoons are considered meritorious. One who gives up the path of the scriptures and lives a bad life is called a learned and self-surrendered man. Those who dress themselves in evil-looking garments and eat and drink what they should not are considered yogins and men of attainments. Such people are respected in *Kaliyuga*.

Those who harm others are also highly respected, and those devoted to lies and falsehoods in mind, action and speech are considered great speakers. At the behest of women men helplessly dance the goat and monkey dances. Devilish men instruct the wise and accept the gifts which they ought not to accept. All pursue lust and greed; all are agitated with anger; all oppose the scriptures and men of wisdom and genuine saints.

The relation between the teacher and the student is like that between the blind and the deaf; the teacher is ignorant

and has no vision, and the student is incapable of attending to and understanding any teaching. The teacher is solely interested in receiving his salary and emoluments; he is not at all interested in imparting knowledge and wisdom to students. He is without doubt the hell-bound teacher. Such a view of the teacher in Tulasi's vision of *Kaliyuga* finds corroboration in the experience of many today. Consider, for example, Ravindra Mohan's teenage viewpoint in *The Hindustan Times*, LII, 265 (September 28, 1975), p. 6: "...a large number of teachers have a casual attitude towards their jobs ...most teachers are dabbling in politics ..this activity is possible because...teachers have a very light work-load....why they cannot [sic] improve their teaching in the class-rooms...? ...they could at least stop cutting the few classes they have and work more intensively." One could only add to Ravindra Mohan's view that the hell-bound teacher, having failed do to his job properly, also encourages students to use unfair means in the examination; he corrupts youth by actively encouraging cheating. Tulasi also brings to our attention the fact that the parents of the student are not interested in his obtaining knowledge and wisdom; they instruct their children to learn only such things as may help them earn quick money. And although men and women talk of nothing but *Brahman* and supreme knowledge, they do not hesitate in the least to murder learned men and teachers out of greed and for petty profit. Devilish men and deluded fools argue with the really wise and learned scholar just to show that they are not inferior to him.

In Kaliyuga whoso commits adultery with another's wife, whoso is pastmaster in deceitfulness, whoso is wrapped up in delusion, enmity, and selfishness, is considered wise and learned and endowed with equanimity, These depraved fellows also pull down and defile him who wants to follow the path of righteousness. Such devilish men as have lost their wife and property have their heads shaved and wander in the guise of sanyasins and make the Brahmaṇas worship them. And the Brahmaṇas, too, are depraved; they are ignorant, illiterate,

greedy, and lustful. Foolish and engaged in immoralities, they have promiscuous relations with devilish women. Devilish men give discourses on scriptures from the preacher's seat. Men and women are a mixed breed because of a wide-spread sexual promiscuity. All commit sins and suffer pain, fear, despondency, and alienation. They have renounced the path of the scriptures and turned away from God. They do not cultivate the right way of thinking, but invent a variety of *isms* out of delusion. Sanyasins accumulate wealth and furnish their homes with great pomp and luxury; their sense of renunciation has been destroyed by the pleasures they indulge in. While they accumulate wealth, the householders are poor.

Out of perversion do men renounce their virtuous and devoted wives; they bring in devilish women and keep them as concubines. Infatuated with women, men look upon their kinsmen as their enemies. Rich men, howsoever wicked and devilish, are considered noble and respectable. Those who disregard and defy the scriptures are considered saints. There are many who condemn virtues, but none who is virtuous. There are recurring famines and deaths by starvation. Deceit, obstinacy, conceit, jealousy, hypocrisy, vanity, delusion, lust, anger, greed, and insanity are predominant everywhere. The ways of men have become perverted, the rains do not fall in proper measure, and the sown seeds do not sprout properly. (While devilish politicians are busy quarrelling for personal power and profit, floods come and devastate the state capital.)

The only ornament that the women have left with them is their hair; virtues which are the genuine ornaments have vanished. Their sexual hunger is insatiable; being poor but enormously ambitious, they are naturally unhappy. They desire happiness, but in their stupidity have no desire to follow the right path. They have scanty intelligence left with them and that too of a very cruel nature; they do not know what gentleness, modesty, and kindness are. They desert their virtuous husbands to have promiscuous relations with other men.

Men are always unhappy; there is nothing to enjoy anywhere. They are full of vanity and enmity without any cause. Their conceit and vanity have no limits. Driven by lust, they do not spare even their sisters and daughters. They have no contentment, no right way of thinking, no nobility in them; they have all turned into beggars. They are full of jealousies, bitter words, and greed; they do not know what equanimity or sameness (*samatā*) is. Plunged in delusion and despondency, they do not follow the code of conduct; their very sense of caste duties and life-stage duties is destroyed. None has left with him any ability to control his senses, and none has a sense of charity and compassion. None has the right knowledge and right thinking. Stupidity and deceitfulness have enormously increased. Men and women solely devote themselves to meeting the needs of their body. Everywher one finds the backbiters, the malicious persons who alwaye talk ill of others.

If men of saintly nature abound in *Tretā*, the devilish men swarm all around in *Kaliyuga;* they are the devils in the guise of men. The Modern Age is particularly full of devilish men; they constitute the majority in *Kaliyuga:*

> *aise adhama manuja khala kṛtajuga tretā nāhiñ,*
> *dvāpara kachuka bṛnda bahu hoihahiñ kalijuga māhiñ.*
>
> (*R* 7.40)

Such sinful and evil people are not to be found in *Kṛtayuga* and *Tretā*; there área few such in *Dvāpara*, but in legions in *Kaliyuga*. The very company of a devilish man is the cause of pain. He has anger at heart and is always jealous of another's property; he is extremely pleased to hear others condemned. Wrapped up in desires, anger, conceit, greed, cruelty, deceitfulness, crookedness and sinfulness, he picks up enmity without any cause with all and harms even those who have done him good. In all his dealings he lives a life of fraud. Beneath his sweet smiles is hidden a very cruel heart. He seduces the wife of another and is an inveterate backbiter. These devilish men

are always wrapped up in greed; and like animals, they are solely devoted to sex and food They are never afraid of hell. When they hear the praise of someone, they heave a sigh of intense grief; but when they hear of someone's misery, they exult as though they had suddenly become a king. They are selfish, opposed to family, and full of lust, greed, and anger. They show disrespect to parents and teachers and are given to evil ways. They pick up enmity with others out of sheer delusion; they dislike good company and discourses about God. They are a veritable ocean of evils, dull in moral thinking, and given to lust and deceitfulness. They condemn the scriptures and grab others' earnings. They particularly oppose the wise and learned men. Although well dressed externally, they are full of conceit and deceit. These devilish men suffer infinite pain in order to make others unhappy; such an act brings them no profit; they destroy themselves in order to destroy the happiness of another person.

Kaliyuga is dominated by some very serious mental diseases: such as delusion, lust, greed, anger, possessiveness, jealousy, exultation and despondency, malice, crookedness, egoism, conceit, deceit, arrogance, haughtiness, animal appetites, desire, envy, lack of a sense of right and wrong.

IV

Tulasi's description of *Kaliyuga* applies with special force to the Modern Age, which has discarded religion and morality that, in the earlier ages, helped man to cultivate his personality in the direction of saintliness. *Dharma*, morality, and religion having been discareded, man has lost the moral centrality of his being in society. The perverted dotrine of "doing as one likes" has unleashed and encouraged all those tendencies which characterize the devilish man in an age which, writes Eliot, "advances progressively backwords" to bestiality. We live in an age in which neither the demogogues of political parties nor the people in general have any *dharma*, moral order, to live by

and uphold; self-interest is their only guide. We live, sa Northrop Frye puts it,

> in a Dionysian society, with mass movements sweeping across it, leaders rising and falling, and constantly taking the risk of being dissolved into a featureless tyranny where all sense of the individual disappears. We even live on a Dionysian earth, staggering drunkenly around the sun . (*Fools of Time* I.)

Anarchy and mob tendency are let loose everywhere in the world today; and even where we find a semblance of order, there actually prevails a molecular tension of egoes in conflict beneath the seeming order.

Tulasi's answer to the problems of *Kaliyuga* is twofold: the story of God's glorious deeds (*hari guna gāhā*) and acts of charity (*dāna*). Acts of chority are a solution to the tendency of greed in man. After having described the different paths of salvation suited to men of *Kṛtayuga, Tretā* and *Dvāpara*, Tulasi recommends the story of God's glorious deeds to the people of *Kaliyuga*:

> *Kalijuga kevala hari guna gāhā,*
> *gāvata nara pāvahiṇ bhava thāhā.*

The story of God, for Tulasi, means the story of Rama's glorious deeds; but by implication we may extend his recipe to the believers of other religions as well. For example, those born in Christian culture can sing the story of Christ's glorious deeds and those born in Islamic culture, of Prophet Mohammed's story and teachings. Tulasi pleads for a tolerant attitude in belief, which alone leads to a correct worship of one's own God. Hatred of another's religion brings down upon the hater a curse from his own God: this is the conclusion Tulasi arrives at in the context of the controversy between the worshippers of Shiva and those of Vishnu. Mahatma Gandhi rightly understood the importance of *hari guna gāhā;* his sessions of *Rāmadhuna* were a step not only in the direction of the individual's spiritual salvation but also in the direction of social amity.

The problem we face today concerns the reconstruction of human personality as the basis of social reconstruction. In this age of technology and material sciences, *ātmajñāna* has come to be neglected. The result is that the human relations have suffered enormously. The greater the technological advances, the greater the possibility of dehumanization of man. In both the Bourgeois and Communist countries we only find dehumanized, brain-washed automatons; man today is a victim of both these kinds of establishment. The prophecies of George Orwell and Aldous Huxley may be fulfilled much earlier than they had thought. Huxley's solution to the demonic trends in our age is not very different from the recipe of Tulasi: "Religion would be the conscious and intelligent pursuit of man's Final End, the unitive knowledge of the immanent Tao or Logos, the transcendent Godhead or Brahman....the first question to be asked and answered in every contingency of life being: 'how will this thought or action contribute to, or interfere with, the achievement, by me and the greatest possible number of other individuals, of man's Final End.'" (Foreword to *Brave New World*.) Tulasi recommends, for *Kaliyuga*, *harināma* and *hari guna gāhā*:

> *kṛtajuga, treta, dvāpara pūjā, makha aru joga,*
> *je gati hoi so kali hari nāma te pāvahiñ loga.*
>
> (*R* 7.102).

A practical way of reconstructing humanity and human society is to incorporate Tulasi's recipe in the system of our education. The high school education must lay heavy emphasis on *hari guna gāhā*. That is, the stories of God's glorious deeds should constitute the main bulk of the syllabus. And since the spirit of the ancient myths and stories of God's deeds are in literary language, adequate knowledge about the language of poetry should be concurrently imparted so that the stories of God's glorious deeds may be properly understood and appreciated. As for the teaching of other subjects, it must take a secondary place in high school education. The education in *hari guna gāhā* cannot end with secondary education, but

must continue at all levels of further education. At present the aim of school education is to adjust the invidviduals to the dubious values of the dominant group of the diseased society, to adjust them to the interests of the Establishment or its equally perverted opponents. The *hari guna gāhā* will adjust the individuals to the nature of things, to *dharma*, the permanent human values, not to the depraved ideology of the vested interests. It is the individuals with the *hari guna gāhā* in their bones that are the reconstruction of humanity and human society. The *hari guna gāhā* should be part and parcel of the education of everybody, irrespective of sex and age.

At the higher levels of education the knowledge of the subjects taught has an autonomy of its own; it does not recognize the existence of any directives other than its own. If, at present, the effect of school eduation is to adjust the individuals to the values of the dominant interests of society by means of the three R's, then the effect of higher education today, according to Northrop Frye, is the three A's—i.e. the feeling of Alienation, Anxiety, and Absurd. The autonomy of knowledge conflicts with what apear to it as the absurd assumptions of society. Autonomous knowledge pursued at higher levels of education has a greater possibility of being in harmony with the *hari guna gāhā* than with the demonic ideology of any dominant social group. Devils in the form of men can be produced by any system of the world today, but only *hari guna gāhā* can produce a saintly man, a Mahatma Gandhi. And a respect for saintly men alone can create *dharma*, the moral order in society. *Dharma* alone can be respected by the autonomy of knowledge pursued at higher levels of education. Let a man therefore engage himself in the *hari guna gāhā* of the religion in which he is born; in this alone lies his moral and spiritual salvation; this alone can cure the Dionysian man of *Kaliyuga* of his mental diseases which make him reel drunkenly around the sun. This seems to me the message of Tulasi to the men of the present depraved age.

———

"तुलसी मस्तक तव नवै धरौ धनुष सर हाथ"

डा० रत्नशंकर मिश्र

भारतीय चिन्तन परम्परा का वैशिष्ट्य उसकी आध्यात्मिकता में सन्निहित है। समय-समय पर विचारकों, चिंतकों, मनीषियों, विद्वानों, महान कवियों एवं सन्तों ने हमारी इस सांस्कृतिक विरासत को अपने वैचारिक अवदान से अनुप्राणित किया है पर भारतीय इतिहास का मध्यकाल ही भक्तिकाल के रुप में प्रतिष्ठा प्राप्त कर स्वर्ण युग के नाम से अभिहित हुआ है। उक्त काल की समृद्धि के पीछे जिन विभूतियों का अप्रतिम अवदान रहा है उनमें से विश्व कवि तुलसी का स्थान सर्वोपरि है। आज भी उनका 'रामचरित मानस' भारतीय जन-मानस का कण्ठहार वना हुआ है। जार्ज अव्राहम ग्रियर्सन के अनुसार तुलसीदास गौतम बुद्ध के वाद भारत के सवसे वड़े लोकनायक थे। ऐसे विश्वविश्रुत महाकवि का जीवन जितना संघर्षमय रहा है आज उनका जीवनवृत्त भी उतना ही विवादा पद वना दिया गया है। इस संवंध में अनेकों किंवदन्तियां प्रचलित हैं। सम्प्रति हिन्दी के विद्वानों का दायित्व है कि वे तथ्यों का सही आंकलन कर एक मत होकर सही दिशा का निर्देश करें।

इस छोटे से लेख द्वारा मैं इसी प्रकार की एक किंवदन्ती की ओर हिन्दी साहित्य के ऐतिहासिक पक्ष के शोध कर्ताओं का ध्यान आकर्षित करना चाहता हूं। अभी कुछ दिनों पूर्व अपनी वृन्दावन यात्रा के समय ज्ञान गुदड़ी स्थित हृदयराम कुन्ज के दर्शन का सुअवसर मिला। आस्तिक हिन्दू परिवार में पैदा होने के नाते रामचरित मानस और वावा तुलसीदास से वचपन में ही परिचय हो जाना सहज था। वृन्दावन में जव कृष्ण भए रघुनाथ स्थल के दर्शन की वात आई तो वचपन की स्मृति जाग्रत हो आई। वरवस अन्तः में वावा का दोहा गूंज उठा—

कहा कहूं छवि आज की, भले वने हो नाथ।
तुलसी मस्तक तव नवै, धरो धनुषसर हाथ॥

वचपन में इस पर अविश्वास की वात का प्रश्न ही नहीं था। इधर जव तुलसी साहित्य के अवलोकन का किञ्चित अवसर मिला तो सहसा इस पर विश्वास नहीं हुआ। गोस्वामी तुलसीदास समन्वय के कवि हैं। उनका काव्य दार्शनिक मतवादों से लेकर धार्मिक, नैतिक, एवं विभिन्न सामाजिक मान्यताओं के समन्वय से युक्त है। अपने समस्त काव्यों, विशेषकर विनय के अनेक पदों में उन्होंने राम-कृष्ण की अखण्ड एकता का ही प्रतिपादन किया है। ऐसे राम-कृष्ण की एकता के प्रतिपादक भक्त कवि के बारे में

यह उक्ति सहसा विश्वसनीय नहीं प्रतीत होती। पर किंवदन्ती के परिप्रेक्ष्य में उक्त स्थान की प्राचीनता, असंदिग्ध प्रतीत हुई। मंदिर जीर्ण अवस्था में ह। उसकी प्राचीन मूर्ति गायब हो चुकी है पर गर्भगृह के बाहरी चौखट के ऊपर चन्द्र एवं सूर्य के उत्कीर्ण चित्र इस परम्परा को उद्दीप्त करते हैं। द्वार पर दाहिनी ओर गुरुण की एवं बायीं ओर हनुमान की मूर्ति बनी हुई है। ऊपरी भाग में मुगलकालीन कृष्णलीला एवं रामलीला के भित्ति चित्र विद्यमान हैं जो काल के प्रवाह के साथ धूमिल पड़ रहे हैं। मंदिर के बाहरी चबूतरे पर अस्पष्ट लिपि में कुछ लिखा हुआ है जो जिज्ञासुओं के शोध का विषय है।

मंदिर के वर्तमान व्यवस्थापक श्री बलराम मिश्र ने गोस्वामी तुलसीदास के सम सामयिक उक्त स्थान के महन्त परशुराम से लेकर अब तक के ऐतिहासिक विवरण का संक्षिप्त परिचय दिया। कालान्तर में दुर्व्यवस्था एवं कतिपय कारणों से यह ऐतिहासिक स्थल नष्ट हो गया। इस संबंध में पं० ज्वालाप्रसाद जी मिश्र, मुरादाबाद द्वारा लिखित तुलसीदास का जीवन चरित द्रष्टव्य है। उनकी पुस्तक आज से लगभग ९० वर्ष पूर्व वेंकटेश्वर प्रेस बंबई से प्रकाशित हुई थी। उसके पृष्ठ ३६-३७ के निम्नलिखित अंश इस घटना को असंदिग्ध सिद्ध करते हैं :

तुलसीदास यात्रा करी, व्रज चौरासी कोस।
रामकृष्ण वपुभेद बिन, भरि आनद उर कोस ॥
बहुरि जबै वृन्दावन आये। घाट आट मज्जन करि भाये ॥
सब मन्दिरन दरस कर लीन्हों। ज्ञान गूदड़ी डेरा कीन्हों ॥
परसुराम तहँ रह्यो महन्ता। कृष्ण उपासक भाव करन्ता ॥
लख्यो गोसाईं की सब रीती। बढ़ी करत सतसंगहिं प्रीती ॥
तुलसीदास को कर सतसंगा। नव नव बढ़त प्रेम रस रंगा ॥
परसुराम के मंदिर माही। कृष्ण रूप श्रीनाथ सोहाहीं ॥
बंसी लकुट काछनी काछे। मुकुट माथ माला उर आछे ॥
सोहति मूरति ललित त्रिभंगी। हरण हार हिय राधा संगी ॥
एक दिन तंह सब दिन की नाईं। दरस हेत चलि गयेउ गुसांईं ॥
परसुराम तहँ रह्यो महन्ता। तासु परीक्षा चह्यो करन्ता ॥
तुलसी करन दण्डवत लागे। तब महन्त बोले अनुरागे ॥
मेरे वचन कछुक सुनि लेहू। फिरि द्वारि दण्डवत करेहू ॥

अपने अपने इष्ट को, नमन करें सब कोय।
परसुराम बिनु इष्ट के, नवैं सो मूरख होय ॥

परसुराम के बचन सुनि, मानत हिये हुलास।
सीतारमण सुमरि के, बोल्यो तुलसीदास ॥

कहा कहौं छवि आजु की, भले बने हो नाथ।
तुलसी मस्तक तब नवै, धरो धनुष सर हाथ ॥

मुरली लकुट दुराय के, धर्‌यो धनुष सर हाथ ।
तुलसी लखि रुचि दासकी, नाथ भये रघुनाथ ।।

यह प्रत्यक्ष देख्यौ संसारा । वृन्दावन माच्यो जयकारा ।
परसुराम तुलसी पद गहेउ । धन्य धन्य कह आनद लेहुउ ।।

हिन्दी का विद्यार्थी न होते हुए भी एक हिन्दी प्रेमी के नाते मैंने मानस चतुश्शती के पुण्य पर्व पर प्रकाशित विश्वविद्यालय की शोध पत्रिका में इस दिशा में संकते करने का वाल प्रयास किया है । महाकवि के जीवन से संवंधित ऐसे अनेकों स्थल अपने गर्भ में जाने कितनी ही किंवदन्तियों को समेटे पड़े हैं । हिन्दी के विद्वानो से मेरी प्रार्थना है कि वे अन्तः साक्ष्य के साथ ही वाह्य साक्ष्य की सामग्री को भी नजर अन्दाज न करते हुए गोस्वामी जी का एक प्रामाणिक जीवनवृत्त तैयार करने की दिशा में सचेष्ट हों । यह मानस चतुश्शती वर्ष की सबसे बड़ी उपलब्धि एवं गोस्वामी जी के प्रति अप्रतिम श्रद्धांजलि होगी ।

———

विश्वविद्यालय के उद्देश्य

१. अखिल जगत् की सर्वसाधारण जनता के एवं मुख्यत: हिन्दुओं के लाभार्थ हिन्दू शास्त्र तथा संस्कृत साहित्य की शिक्षा का प्रसार करना, जिससे प्राचीन भारत की संस्कृति और उसके विचार-रत्नों की रक्षा हो सके, तथा प्राचीन भारत की सभ्यता में जो कुछ महान् तथा गौरवपूर्ण था, उसका निदर्शन हो।

२. साधारणत: कला तथा विज्ञान की समस्त शाखाओं में शिक्षा तथा अन्वेषण के कार्य की सर्वतोमुखी उन्नति करना।

३. भारतीय घरेलू धन्धों की उन्नति और भारत की द्रव्य-संपदा के विकास में सहायक आवश्यक व्यावहारिक ज्ञान से युक्त वैज्ञानिक, तकनीकी तथा व्यावसायिक शिल्प कलादि संबंधी ज्ञान का प्रचार और प्रसार करना।

४. धर्म तथा नीति को शिक्षा का आवश्यक अंग मानकर नवयुवकों में सुन्दर चरित्र का गठन करना।

OBJECTS OF THE UNIVERSITY

1. To promote the study of the Hindu Shastras and of Samskrit Literature generally as a means of preserving and popularizing for the benefit of the Hindus in particular and of the world at large in general, the best thought and culture of the Hindus, and all that was good and great in the ancient civilization of India,

2. To promote learning and research generally in Arts and Sciences in all branches,

3. To advance and diffuse such scientific, technical and professional knowledge combined with the necessary practical training as is best calculated to help in promoting indigenous industries and in developing the material resources of the country: and

4. To promote the building up of character in youth by religion and ethics as an integral part of education.